॥ हरिः ॐ ॥

जीवनपराग

पूज्य श्रीमोटा :
साधकों को लिखे पत्रों का सारसंचय

संकलनकार : श्री हेमंतभाई नीलकंठ
श्री नंदुभाई शाह

अनुवादक : डॉ. कविता शर्मा 'जदली'

सम्पादक : रजनीभाई बर्मावाला

पूज्य श्रीमोटा हरिः ॐ आश्रम-राजकोट

॥ हरिः ॐ ॥

जीवन-पराग

पूज्य श्रीमोटा :
साधकों को लिखे पत्रों का सारसंचय

: संकलनकार :
श्री हेमंतभाई नीलकंठ
श्री नंदुभाई शाह

: अनुवादक :
डॉ. कविता शर्मा 'जदली'

: सम्पादक :
रजनीभाई बर्मावाला

प्रकाशक : ट्रस्टी-मंडल,
हरि:ॐ आश्रम, जहांगीरपुरा, रांदेर, सूरत-३९५००५
दूरभाष : (०२६१) २७६५५६४, ६७६१०४६
E-mail : hariommota1@gmail.com
Website : www.hariommota.org

© हरि:ॐ आश्रम— सूरत, नडियाद

संस्करण : प्रथम

प्राप्तिस्थान : (१) हरि:ॐ आश्रम, जहांगीरपुरा, सूरत-३९५००५
(२) हरि:ॐ आश्रम, पो. बो. नं. ७४,
नडियाद-३८७००१.

प्रत : १००० वर्ष २०१४

पृष्ठ : ८ + ५९० = ५९८

कीमत : ₹१००/-

अक्षरांकन : दुर्गा प्रिन्टरी,
घाटलोडीया, अहमदाबाद-३८००६१.
भ्रमणभाष : +९१ ९४२९६ ०८८९२

मुख पृष्ठ : श्री मयूर जानी
भ्रमणभाष : +९१ ९४२८४०४४४३

मुद्रक : साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि.
सिटी मिल कम्पाउन्ड, कांकरीया रोड,
अहमदाबाद-३८००२२.
दूरभाष : (०७९) २५४६९१०१

॥ हरिः ॐ॥

निवेदन

पू. श्रीमोटा के साहित्य में से चुनंदा पद्य एवं गद्य जीवनोपयोगी संदेश को टूंकसार मूल स्वरूप में प्रस्तुत करने का भगीरथ कार्य परम आदरणीय श्री नंदुभाई शाह ने किया । पू. श्रीमोटा के ६७ पुस्तकों के हजारों पन्नें को छांटते हुए, संसारी जीवों के लिए अति उपयोगी बातें श्री नंदुभाईने ६०० पन्नें में प्रस्तुत की है । यह भगीरथ कार्य करने की क्षमता सिवाय प्रभुकृपा प्राप्त नहीं होती ।

यह पुस्तक अपने आप ही एक ग्रंथ स्वरूप है । जिसमें जन्म, जीवन, मृत्यु को संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में विस्तृती से समझाया गया है । संसारी जीवन की विविध अवस्थाओं से आगे बढ़ते हुए 'जीव' के लिए श्रेयार्थी भूमिका और साधक अवस्था तक की जीने की राह इस पुस्तक में प्रस्तुत है । पू. श्रीमोटा ने सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार किया । बार-बार पू. श्रीने कहा है, ''मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य मिले हुए स्वजन को प्रभुप्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ाना है ।'' उनकी भाषा आम आदमी समझ सके ऐसी है । परंतु प्रकृति का गुलाम मनुष्य जीवन, समझते हुए भी लक्ष्य की ओर कदम नहीं उठा सकता । ऐसी स्थिति में यह ग्रंथ जीने की आशा, हौसला प्रदान करता है और आगे का मार्ग दिखाता है । समयानुसार मानवीय जीवन की विविध जिम्मेदारियाँ के साथ साधना कैसे की जाती है, इसकी समजूती पू. श्रीमोटाने दी है । जो लोग पू. श्रीमोटा के संपूर्ण साहित्य का अध्ययन नहीं कर सकते उन सभी जीवों के लिए यह ग्रंथ जीवन साधना परिपूर्ण करने का संक्षिप्त मार्ग है । अतः यह ग्रंथ बहुमूल्य है ।

परम आदरणीय श्री नंदुभाई ने अपना सांसारिक जीवन त्याग किया और पू. श्रीमोटा के मार्गदर्शन में कड़ी साधना करते हुए हरि:ॐ आश्रमों की सेवा की और निज़ी जीवन में उच्च भूमिका प्राप्त की । उनके सतत प्रयास एवं कड़ी मेहतन पश्चात् सन १९६३ में इस पुस्तक का प्रथम संस्करण हुआ । इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद प्रकाशन में निमित्त रूप से हमारे उत्साही स्वजन अहमदाबाद स्थित श्री यशवंतभाई ए. पटेल हैं । जिन्हों ने डॉ. कविता शर्मा 'जदली' (Ph. D.) को मिलकर उनके द्वारा प्रेमभाव से हिन्दी अनुवाद करवाया । डॉ. घनानंद शर्मा (Ph. D.) ने इस पुस्तक के भाषा-शुद्धिकरण में बहुत प्रेमभाव से सेवा दी है । इससे इन सभी का हम बहुत आभार मानते है । इस पुस्तक का संपादन कार्य हमारे ट्रस्टीमंडल के एक सदस्य श्री रजनीभाई बर्मावाला ने एक ट्रस्टी की फर्ज रूप से संभाला है, इसलिए उनका आभार मानना हम आवश्यक नहीं मानते हैं ।

मे. साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि. (अहमदाबाद) के श्री श्रेयसभाई विष्णुप्रसाद पंड्या के चतुरंगी मुखपृष्ठ के साथ मुद्रणकार्य पू. श्रीमोटा के प्रति सेवाभाव से किया है । इसलिए हम उनके अत्यंत आभारी है । साधकजनों को नम्र निवेदन है कि पू. श्रीमोटा के ये वचनामृतों का मनन-चिंतनपूर्वक अभ्यास करें और प्रभुभक्ति में आगे बढ़ें ।

अस्तु । हरि:ॐ ।

ट्रस्टीमंडल

हरि:ॐ आश्रम, सुरत

दिनांक : २४-१०-२०१४

(नूतन वर्ष का. सु. १ सं. २०७१)

स्थल : सुरत

॥ हरिः ॐ ॥

पूज्य श्रीमोटा का कथन

मद्रास (चेन्नई) के मेरे एक स्वजन ने एक बार मुझे सूचित किया, 'आपकी सभी प्रकाशित पुस्तकों में से जो भी सूत्रात्मक वचन हों, उन्हें तथा उन पुस्तकों से अलग-अलग विषय के मुख्य मुद्दे निकालकर, संक्षिप्तीकरण, इन सभी का यदि एक अलग पुस्तक प्रकाशित हो, तो श्रेयार्थी तथा पाठकों के लिए यह सब जानने में अधिक सुलभता रहेगी।' इस तथ्य के तो अनेक वर्ष बीत गये। उसके बाद भाई नंदुभाई को स्वयं ही ऐसा कुछ करने का सभान ख्याल आया और उन्होंने मौन-एकांत मंदिर में बंद होकर, बिलकुल एकांतवासी रहकर, सभी पुस्तकों का अध्ययन कर सार रूप निकाला है, जिसे पाठक समक्ष प्रस्तुत करने का अवसर मिला है। उसका निमित्तकारण तो ऐसे ही एक स्वजन भाई चीमनभाई महाजन हैं। उन्हें लेखक का कुछ योग्य लेख तैयार हो तो प्रकाशित करने का बहुत ही भाव था और ऐसा लेख तो तैयार ही था। यह हुई प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन की कथा।

लेखक को कुछ भी कहना हो, जो भी उसके दिल में हो, वह सभी कुछ कहा नहीं जाता। वह तो जिसे कहना या लिखना हुआ हो, उसकी भूमिका के प्रति लक्षानुसंधान से प्रेरित होकर लिखने से उस विषय की संपूर्ण यथार्थता उसमें आ नहीं जाती। उसमें तो फिर यह सब तो सार है, अर्थात् वे लिखे हुए के सार रूप हैं, इससे उसमें अधूरापन हो स्वाभाविक है।

जीवनविकास की दृष्टि, वृत्ति और भाव जहाँ तक एकाग्र और केन्द्रित, चेतनाशील नहीं होते, वहाँ तक श्रेयार्थी की भूमिका Receptive

and Responsive स्वीकारात्मक, संग्राहक और हेतुलक्षी भावना से प्रत्युत्तरात्मक सामने उत्तर प्रेम से, हृदयगत उमंगता से दे सके ऐसी भूमिका हो गयी, हो सकी, न होने से, उसका दिल वह सब पूरा पचा सके ऐसा नहीं होता है । उसका आधार तो उसके दिल जीवनविकास के ध्येय के प्रति कितना और कैसा प्रचंड आतुरतायुक्त और सतत उन्मुखी हुआ है, उस पर होता है । ऐसी दिल की दिल में दिल से हुई ऐसी छटपटाहट यही सही ढंग से उसके जीवन का निर्माण करनेवाले सच्चे गुरु हैं और तभी निमित्तगुरु उसे प्रभुकृपा से आकार देने में प्रेरणात्मक सूक्ष्म मदद प्रेरित कर सकता है । ऐसी दिल की उत्कट आतुरता, प्रचंड उत्साह, जोश, उमंग, न्योछावर भावना, साहस, हिंमत, धीरज, त्याग, समर्पण आदि जीवन में जब तक एक अंगभूत होकर उसके वैसे स्वरूप की काया निर्माण होती है, तभी ऐसा श्रेयार्थी न्योछावर होकर उसमें सर्व भाव से और सब तरह से स्वयं समर्पण का आनंद रखकर आगे कदम बढ़ाता जाता है और ऐसों के दिल की और जीवन की ऐसी मस्ती से ही जीवन का पुनर्जीवन और नवसर्जन होता रहता है ।

जीवन के अनेक पहलुओं में, क्षेत्रों में और जीवन के अलग अलग संयोगों में, परिस्थिति में, अलग-अलग कर्मों में वैसा **जीव** भले ही अलग-अलग व्यवहार करने लगे, परन्तु उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव तो ध्येय के प्रति उद्देश्य से निरन्तर प्रेरित हो, ध्येय के हेतु की सफलता के प्रति उसके दिल में ठोस दृष्टि तब रहा करती हैं और उसमें से ही स्वयं के जीवन में निष्कर्ष निकालते-निकालते बढ़ता जाता है ।

उसके जीवन में अनेक प्रकार के तूफान और प्रलय आते हैं, परन्तु उसके दिल की मस्ती का पारा तब भी नीचे कभी नहीं उतरता है । ऐसे प्रसंगों से तो उसके दिल की खुमारी तब अधिक प्रकाशित

हो कैसी मदमस्त ठोस अनुभव करती है, उसकी कथा तो कोई ऐसा न्यारा विरल वीर ही अनुभव कर सकता है ।

जीवन विकास का मार्ग तो है जीवन की मस्ती का, खुमारी का और जीवन को हृदय की उमंगता से स्वार्पण किये जाना है । जीवन-विकास की कथा ऐसे स्वार्पण के एक के बाद एक कदम उठाये जाने से नये नये भाव और नये-नये रूप किसी भव्य, रम्य, दिव्य कला में परिणित होते हैं, तभी ऐसा हम अनुभव करते हैं । तब जीवन की धन्यता, कृतार्थता अनुभव करता वह श्रेयार्थी ऐसी ज्ञानभक्तियुक्त दिल की कुरबानी और आहुति देते-देते उसके दिल का भाव समुद्र के ज्वार की लहरों से भी अनेकगुना अधिक उछलता स्वयं अनुभव करता है और जीवन एक परम आनंद का लाभ है, ऐसी उसे दिल में दिल से सभानता होती है । ऐसों को तब दिल में मस्ती की, जीवननिर्माण की निरन्तर सतत भावना प्रगट होती रहती है । वैसी भावना द्वारा वह हार या निराशा के भंवर में कभी गर्त नहीं हो सकता, क्योंकि दिल में ऐसा प्रगट प्रचंड उत्साह, छटपटाहटवाली भावना उसमें ऐसी तो एक हृदयसूझ पैदा करती है कि वह उस समय तटस्थता और समता से उसका आकलन करके, उसे पार करता जाता है और तब वह अपने प्यारे प्रभु की परम मंगलमयी कृपा का सहारा अनुभव करता है जिसके आधार पर वह अपने जीवन का कर्णधार ध्येय के हेतु को हृदय में हृदय से अनुलक्षकर प्रभुकृपा से चलता जाता है ।

जिन जिन स्वजनों को यह सब संबोधन कर प्रभुकृपा से जो लिखा है, वे वे अपने जीवन के प्रति सभान और सजग रहें यही प्रार्थना ।

– मोटा

हरि:ॐ आश्रम
कुरुक्षेत्र, रांदेर (वाया सुरत)
ता. १-६-१९६३

मानवीदेह

(अनुष्टुप)

शरीर मानवी का जो मिला वह प्रभु-कृपा,
मानवीदेह तो कोई खोये नहीं कभी वृथा

मानवीदेह सद्‌भाग्य से मिला चेतने हृदय से,
कृपा रख गहरा ख्याल माँगूँ जीये हृदय में

'मानवी जिंदगी कैसी प्रभु की भेंट !' जान के,
उसे सृजन पूरा सार्थक कर करना पदस्थ

प्रभु का प्रेम लेने को जन्म लिया है हमने,
उस बिन कोई दूजा हेतु ना जीवन सही

निष्ठा जिसे पर्याप्त ऐसी बैठी हो हृदय में,
मानवीजन्म की क्या यथार्थता वह पहचानेगा

मानवीदेह से मात्र सारा विकास होगा ही,
संभावना भरी धन्यता इससे उसकी क्या

– मोटा

'जीवनपराग'

॥ हरिः ॐ ॥

जीवनपराग
धारणा न बनाएँ

हमें अपना कहा करना है, मन का नहीं । मन के अनुसार ही करना हो तो भी, उस समय तुरन्त तो नहीं; किन्तु कुछ देर बाद मानो हम ही कर रहे हैं, उस तरह करें ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ११०)

* *

व्यक्तिओं से नये परिचय और संबंध बनाने का मन हमें नहीं रखना है; परन्तु यदि आ पड़े तो किसी भी प्रकार की अवगणना की वृत्ति न रखें । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ९५)

* *

साधनाकाल की प्रारंभावस्था में जो विभिन्न पुस्तकों को पढ़ने में लग जाता है वह उलझन में पड़ेगा—इसतरह उसके मार्ग खुले रहने में अड़चनें आएँगी । उसका मन उसे हजारों परस्पर विरोधी दिशाओं में उड़ाकर ले जाएगा । अनेक तर्कवितर्क आएँगे । सर्वोत्तम तो यह है कि साधनामार्ग में पुस्तकें पढ़ना आवश्यक नहीं । जिसका निर्देश हुआ हो वही प्रेमभाव से, समर्पणभाव से, शरणागत होकर उत्कटभाव से करेंगे; उसमें जब स्थित होने लगेंगे और भगवान का भाव हम में स्थिर होने लगेगा, उसके बाद ही जो कुछ पढ़ना होगा, उसे पढ़ें । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १२३)

* *

भाव-मनोभाव हमारे अनमोल धन हैं । धूल धोनेवाला जैसे सोना मिश्रित धूल में से धूल निकालकर सोना छान लेता है, वैसे ही

मनोभावों में से वैसा छान ले सकते हैं, उसका उपयोग कर सकते हैं, परन्तु उनमें भावनाओं के साथ खेलते हुए उसे न्योता न दें या हम सामने से उसे खींच लायें या न उतार डालें, क्योंकि उसमें खो जाने का पूरा संभव है । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १३२)

* *

भाव-मनोभाव दबाना यह ठीक नहीं; परन्तु उसके साथ, उस भाव-मनोभाव के साथ, बहते जाना यह भी इष्ट नहीं । हमें दोनों के बीच का लाभदायक रास्ता खोज निकालना चाहिए ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १७८)

* *

किसी भी काम को करने से पहले सोचना चाहिए, करते समय या बाद में उसके विषय में कुछ भी नहीं सोचना चाहिए ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १७१)

* *

कुछ भी दबाना नहीं है । दबा होगा, तो मन में कचरे की तरह पड़ा रहेगा और समय-समय पर उभर आएगा ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १७८)

* *

सारे दिन की मानसिक भूमिका का स्थान बदलकर, हृदय में रखकर आचरण करना है; इसलिए भाव से प्रेरित होकर हमें सारा काम करना है ।

* *

मन को पूरा खाली रखना है । जो कोई भी विचार, उलझनें पैदा हों, उन्हें तुरन्त सुलझायें । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६)

* *

सारा झुकाव-आग्रह मात्र साधना पर ही केन्द्रित रखें ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८)

* *

सत्त्वगुण का भी गुलाम नहीं होना है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १)

* *

पहले का पढ़ा भूलना होगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २)

* *

एक बार तो 'अच्छे' स्वभाव से भी पर हो जाओ ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३)

* *

जो कुछ किया करें उसमें दिल हो, प्रेम हो, रुचि हो अथवा यह सब न भी हो, तब भी ये सभी पैदा होनेवाले हैं ऐसी श्रद्धा, विश्वास और लगन से सब कुछ किया करें, उसका तंतु पकड़े रखें, इतनी जागृति हमें रखनी ही चाहिए ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १९)

* *

साधक का प्रत्येक कार्य सोद्देश्य होना चाहिए और वह ऊर्ध्व हेतु पूर्ण होना चाहिए । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २७)

* *

हमें भक्ति किसी के जैसी माँगनी होती ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की वृत्ति के प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं । एक के कद का खोखा दूसरे को न भी बैठे । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४६)

* *

जब हम अपने जीवन में इस साधना के कार्य को सर्वोपरि मानेंगे और उसे ही अत्यधिक महत्त्व देते रहेंगे, तभी साधना को यथार्थ स्वरूप में फलित अनुभव कर पाएँगे ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५३)

* *

स्वजनों को या किसी को भी पत्र लिखें, तब मात्र कोरा यथार्थ ही पत्र में न लिखें । उसमें भाव, मनोभाव, व्यक्तिगत प्रेमस्पर्श आदि प्रगट होने दें । उसे लिखते हुए हम मानो उसके दिल के पास हैं । हमारी चेतना जागृति के साथ तब हम में ही समायी रहे, ऐसा होकर लिखें । पत्रलेखन को भी साधना का अंग गिनना होगा और बनाना होगा । अपने हृदय के प्रेमभाव को अधिक वेग देने के लिए अपने प्रेमी की साकार चेतना अथवा अधिक अच्छा तो भावात्मक चेतना हमारे समक्ष साधन के रूप में हमें जगानी है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ८६, ९३)

* *

हमारे आग्रह, विचार, मंतव्य, ख्याल आदि को हम दूसरों पर न लादें और कुछ कहना हो तो एक बार प्रेमपूर्वक कहें और वह भी भार दिये बिना; तद्पश्चात् उसका समूल विचार भी निकाल दें । हर किसी को अपने ढंग से अपने ही वातावरण में स्वतंत्ररूप से विकसित होने दें । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ९५)

* *

हमें दूसरी सभी वृत्तिओं का बल और उसकी स्वच्छंदता मिटानी हो तो अपने काम की भावना में खूब एकाग्रता और उत्कट भाव से लगे

रहना चाहिए; अन्यथा इसका होना संभव नहीं और ऐसा करेंगे तो ही दूसरी वस्तुओं को हम गौण रूप से हाथ में या मन में ले सकते हैं।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०१)

* *

साधन मुख्य नहीं है जैसे काम महत्त्व का नहीं है। पर काम की भावना महत्त्व की है। साधन से यदि भावना का परिणाम पर और उसके सूक्ष्म परिवर्तनों में उत्तरोत्तर अंतर न पड़ता हो, तो हमारा साधन मात्र जड़ यंत्र के रूप में होता है, ऐसा समझें। साधन यांत्रिक होने से वह व्यर्थ होता है। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०४)

* *

साधना का कार्य बहुत ही abstract (भावात्मक या अप्रत्यक्ष) होने से उसमें रुचि रखनी कठिन होती है, क्योंकि उस रुचि को पकड़ने और समझने की इन्द्रियाँ नहीं हैं; इन्द्रियों का यह विषय है ही नहीं। जागृत हुआ हृदय ही उसे अनुभव कर सकता है।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०६)

* *

जिसे बताने में आपत्ति न हो वैसे सभी मुख्य काम हम सभी स्वजनों को कहें; उनकी सलाह लें; और उन्हें भी उनका ही काम है ऐसा लगने दें; जिससे सभी हमारे काम में रुचि लेने लगेंगे और ऐसा होने पर हमारा काम कई अंशों में हल्का भी होगा।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११२)

* *

कहीं भी हिलना-डुलना नहीं है।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११२)

* *

कोई भी हमारा कुछ यदि प्रेम से करे, तो हमें उसकी खूब कदर करनी चाहिए। ऐसी कदरभावना हमें सरलता और सहृदयता से रखनी है। इससे सामनेवाले के दिल पर अवश्य असर होती है और उसे अपनी ओर भाव रखनें में उत्साह मिलता है। फिर हमारा अक्कड़पन भी कम होता है। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११३)

* *

हमारे द्वारा होनेवाले सभी कामों में हमें कोई लाभ या हानि होने की कुछ भी इच्छा या भय नहीं रखना है। उसका स्वाभाविक परिणाम लाभ या हानि में भले आये; परन्तु हमारी मानसिक भूमिका में वैसी इच्छा का कोई स्थान नहीं होना चाहिए, इतना सतत ध्यान रखें।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११४)

* *

काम कभी भी हमें विघ्नकर्ता नहीं होगा। इसे तो हमें एक ढंग से अपनी धारणा में अधिक मजबूत बनाने के लिए और दृढ़ रहने के लिए, कसौटी में कसने का मौका है।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११४)

* *

अपने आप्तजनों को भी अपनी धुन में लगाने के लिए हमारा कोई भी आग्रह नहीं होना चाहिए।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११८)

* *

गुरु के साथ स्थूल परिचय हो इसके बदले मानसिक और शुद्ध तत्त्ववाली भावना से हमारा संपर्क बढ़े यह अति आवश्यक है।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५६)

* *

साधक को अपना, स्वयं का, विचारों का, भावनाओं का, मनोभावों का और चेतना का गहरा पृथक्करण करते रहना होगा; और प्रत्येक को उसके यथार्थ स्वरूप में समझकर अपने विकास में उनका किस तरह श्रेष्ठ उपयोग हो सकता है, इसे समझना होगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६६)

* *

किसी भी भाव या तरंग का उबार आये, तब उसका उपयोग नामस्मरण के वेग में करना नहीं चूकना चाहिए ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६७)

* *

समझ से आगे बढ़ते रहें; अंधश्रद्धा से नहीं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६७)

* *

यौन संबंधी विषयवासना का उपभोग तो साधक के लिए गहरी खाई में गिरने जैसा है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८१)

* *

यदि अपनी चेतना की जंजीर को अपने प्रत्येक प्रियजन से जोड़कर रखेंगे तो उसकी शक्ति बँटकर व्यर्थ हो जाएगी । जब तक हम में इतनी शक्ति प्रगट न हुई हो कि उन सभी के साथ निरंतर जुड़ सकें, तब तक तो एक में ही चेतना की जंजीर जोड़कर रखें यह आवश्यक है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २१६)

* *

ज्वर आता है तब एक प्रकार का वेग होता है । उस समय भगवान का नामस्मरण कर ज्वर के वेग का उपयोग किया जा सकता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६७)

* *

प्रामाणिक और यथार्थ मंथन से एक दिन सच्चा प्राणतत्त्व उत्पन्न होगा ही । जो मथेगा, वह प्राप्त करने के मार्ग में है ।

* *

अभ्यास बढ़ने पर ही वैराग्य पैदा होगा ।

* *

साधक का महत्त्वपूर्ण एक लक्षण है– प्रसन्नचित्तता ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३२)

* *

त्राटक, ध्यान, जाप, धारणा— इन सभी साधनों से तत्काल परिणाम नहीं दिखाई देता, तब भी मन को ऊर्ध्वगति में ले जानेवाले साधन हैं— यदि उनके प्रति हमारे हृदय की आँख एवं भावना खुल गई हों तो ।

* *

हमें बार-बार अपने को निहारना है और मन से अलग पड़ना और होना भी सीखना है ।

* *

इन्द्रियों के स्पर्श तथा विषयों को मन न स्वीकार कर सके उसके लिए निःस्पंदता तथा नीरवता स्थापित करनी चाहिए । समता को विकसित करना भी उतना ही जरूरी है । समता के बिना शांति संभव नहीं है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १३४)

* *

मन को तो बुद्धि की मदद से उसके उल्टेसीधेपन को समझकर कुछ अंश में काबू में भी ला सकते हैं, परन्तु बुद्धि का ऐसा नहीं होता

। बुद्धि प्रकाश रूप है; वह हार्द को प्रगट करती है; सूक्ष्म से सूक्ष्म है, इससे बुद्धि की शुद्धि भी उतनी ही आवश्यक है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १४२)

* *

प्राण में से उत्पन्न होते आवेश, आवेग, आतुरतापूर्वक के शोक, मोह, राग, खेद, छटपटाहट आदि जो भी उत्पन्न होते हैं, उन सभी का उपयोग साधना का भाव पैदा करने के लिए करना है । ऐसा करने से उनका उनके ढंग से उपयोग होना रुक जाएगा और ऐसा होने से उनकी शुद्धि अपनेआप हो जाएगी ।('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १४३)

* *

यह सब करने की शक्ति संकल्पबल में विद्यमान है । संकल्पबल की शक्ति सर्वोपरि है । जो कुछ हुआ करता है, उसके पीछे संकल्पबल काम करता रहता है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १३४-३५)

* *

जो कुछ भी हुआ करता है— मन में भी— उस सभी को श्रीभगवान के चरणकमल में समर्पित करते रहें । ऐसा समर्पित किया करने से **उस** के साथ हृदय का संबंध बंधता जाता है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १५७)

* *

जिसका अहंकार द्रवित हो जाता है, उसका मन और प्राण अपरा प्रकृति में लिप्त नहीं हो सकता ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १६१)

* *

अहंकार के हजारों सिर हैं । उसके सिर कटने पर भी नये नये जन्म लेते रहते हैं । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १६१)

* *

'हे भगवान ! यह तुझे सौंपा' ऐसा खाली-खाली बोलने से नहीं चलेगा । इसमें सचमुच की दर्दभरी हृदय की मनोवृत्ति उसके लिए और उसके प्रति पूरी होनी चाहिए ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १६२)

* *

साधक को एकाकी रहना है, तब भी वह अकेला नहीं, अनाथ नहीं— यदि उसने श्रद्धा के मूल में और श्रद्धा के विषय में अपना हृदय लगाया होगा तो । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १७१)

* *

साधक जब एकाग्रता, केन्द्रीकरण, समग्रता से श्रीप्रभु को अंतःकरण से पूर्णतः और सर्वतः एक-एक करण से संपूर्ण शरणागति प्राप्त करता है, उसके बाद श्रीभगवान उसकी साधना का भार अपने दायित्व में लेते हैं । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १७२)

* *

प्रभु-प्राप्ति का हेतु कोई स्थूल या सूक्ष्म लाभ पाने का नहीं होना चाहिए । प्रभु के लिए ही प्रभु को प्राप्त करना है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १७८)

* *

साधक का हृदय और सद्‌गुरु का हृदय इन दोनों का बिलकुल रागात्मक और एकात्मक— यह इस साधनामार्ग में जीत की सूक्ष्म चाबी है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १९४)

* *

साधक की जितने अनुपात में अपने जीवन विकास के प्रति एकाग्र और केन्द्रित सक्रिय चाहना सविशेष होगी उतने ही प्रमाण में उसके सद्‌गुरु की चाहना उसके प्रति सविशेष रहेगी ।

* *

मन की दृष्टि, वृत्ति और व्यवहार बहिर्मुख होने से उन्हें टोकना, रोकना और समेटना— ये तीनों प्रक्रियाएँ साधक के लिए बहुत आवश्यक हैं, पर वह सचेतन जागृति आये बिना संभव नहीं हो सकती । सद्‌वस्तु की बातें केवल चर्चा या ऐसे कोई कार्य से नहीं साधी जा सकती; उसके लिए तो प्रखर और प्रचंड साधनाभरा पुरुषार्थ चाहिए । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २१६)

* *

जीवन को कुचल जाना जो होता है और उसका विकृत होनेपना प्रगट होता है, वह हमारे मन के नकारात्मक व्यवहार द्वारा ही होता है ।

* *

किसी का भी दिल जीतना संपूर्ण नम्रता के बिना संभव नहीं हो सकता ।

* *

सद्‌भाव प्राप्त करने के लिए सद्‌भाव पैदा करना पड़ता है ।

* *

हमारे आचरण के विषय में दूसरे क्या कहेंगे और मानेंगे उसकी परवाह साधक को नहीं रखनी चाहिए । धर्म का आचरण करें, उसकी तुला के साथ तुलना की जानी चाहिए । उसका काँटा देखनेवाले हम स्वयं हैं, दूसरे नहीं ।

* *

साधना करने के पीछे ज्ञानात्मक तमन्ना और विकास की भावना जाग्रत होनी चाहिए । तभी साधना के भावनापूर्वक अभ्यास से होती प्रक्रिया में से प्राणचेतना उत्पन्न हो सकती है ।

* *

कितने ही **जीव** तो ऐसा मानते हैं कि साधक में आवश्यक हृदय की सही मनोवृत्ति अथवा जीवनविकास के प्रति उत्कट जिज्ञासा भी भगवान ही कर डालेंगे, क्योंकि जो कुछ होता है, सारा भगवान ही करता है; इसलिए हमारी साधना भी वही करवाएगा । ये एकदम अज्ञानता से भरी मान्यताएँ साधनापथ में अवरोधरूप हैं ।

* *

जीवनआदर्श की विरोधी ऐसी सभी परिस्थितियों को साधक शक्तिमत्ता प्राप्त करने की स्थिति समझता है, तब वह प्रभुकृपाबल को हृदय से अपनाकर अधिक सतेज बनता है ।

* *

जीवनविकास हेतु निमित्त सारे प्राप्त स्वजनों में श्रद्धा या विश्वास, प्रेमभक्ति और जीवनविकास के लिए की तमन्ना हृदय में प्रगट हुए बिना सद्‌गुरु का वैसे सभी प्राप्त स्वजनों के जीवन में और उनके मन, मति, चित्त, प्राण, अहम् आदि में प्रवेश करने का और जीवनविकास के लिए काम करना असंभव होता है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३१६-१७)

* *

सद्‌गुरु को परखने और समझने की खटपट में पड़ने की अपेक्षा उसके साथ हृदय की प्रेमभक्ति से जितना राग कर सकें, उतना राग हृदय से करने में सार है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३१७)

* *

साधना में भाव मुख्य रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है । साधना का हृदय ही भाव है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १२)

* *

जगत और संसार की दृष्टि से, सभी कुछ देखना, जानना, अनुभव करना और मूल्यांकन करना; हमें छोड़ ही देना पड़ेगा । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २५)

* *

जहाँ जहाँ जो जो उत्तम, वहाँ वहाँ साधक का भावात्मक आकर्षण हुआ ही करेगा और वैसा हो वह इष्ट है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २६)

* *

गुरुपूर्णिमा का दिन सतत भावनापूर्वक स्मरण में बीते वैसा मनाएँ । उसमें मूर्तिपूजा के लिए स्थान नहीं है, भावना को स्थान है । जैसा भाव वैसी वृत्ति होती है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. ३७)

* *

साधक को अकेले साधन को पकड़े रहने से कुछ नहीं मिलेगा । उसमें हृदय का भाव पैदा होना चाहिए और वह भाव फिर कर्म के हार्द में जाग्रत होना चाहिए । ऐसा हो तो साधक के हृदय का विकास अपनेआप हुआ करेगा ।

* *

साधक को साधना के भाव में ही आग्रह रखते हुए, अन्य सभी विषयों में पर्याप्त योग्य विवेक रखकर ज्ञानपूर्वक निराग्रही रहना चाहिए ।

* *

साधक जब जीवन को भगवान की भावना में परिवर्तित करने की शुरुआत करता है, उस समय एकदम से उसका संपूर्ण रूप से

ज्ञानभक्तियुक्त समर्पण होना संभव नहीं होता; वह तो जैसे-जैसे भगवान में प्रेमभाव से जीवन रंगता जाता है वैसे वैसे क्रमशः वह होता जाता है ।

* *

साधक को वैराग्य की भूमिका पर अभ्यास निरन्तर करते रहना है ।

* *

सच्चा साधक जितनी बार भी भूल करता है, उतनी बार वह उसमें से पुनः अधिक तेजस्वी और अधिक जागृतावस्थामय होकर उद्यत होने के लिए चेतनावान बनता है ।

* *

गुरु जब देखता है कि साधक के जीवन में उसका किसी ढंग का कोई उपयोग नहीं होता, ऐसी स्थिति में वह उसके जीवन में रहते हुए भी नहीं रह पाता ।

* *

साधनापथ में आती कठिनाइयों के समय उसमें तप की जागृत भावना यदि उस समय ज्ञानात्मक भाव से हृदय में जगाने का हो सके वैसा श्रम, वैसी कठिनाई भी, एक प्रकार के तप रूप में जीवनविकास यज्ञ में उपयोगी हो सकता है ।

* *

साधक का निश्चय मात्र जीवनविकास की भावना में ही दृढ़तापूर्वक परिवर्तित करना है; दूसरे सभी क्षेत्रों में तो वह बिलकुल मिट्टी के लोंदे जैसा मुलायम यानी संपूर्ण निराग्रही आचरण करता रहेगा ।

* *

निराग्रह यानी ढीलाढालापन नहीं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २५८)

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १५७)

* *

प्रकृति के स्वभाव से निराग्रहीपन विद्यमान हो, तो वैसे निराग्रहीपन से तो जीवनविकास की भावना जीवंत करवाने, प्रगट करने कुछ भी लाभ नहीं होता है । प्रकृति या परिस्थिति द्वारा प्रेरित नहीं, परन्तु ज्ञानभाव से प्रकृति को बदलने हेतु निराग्रहीपन विकसित करना है ।

('जीवनमंथन', आ. ४, पृ. १५७)

* *

नम्रता और सद्‌भावना दोनों को रखना है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि स्वयं के जीवनध्येय की भावना को कुचल कुचलकर वैसा होता जाय । इस में तो जीवन की मृत्यु है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १५७)

* *

गुरु के वचन का पालन करने में हमें अत्यधिक विवेक बनाये रखना है । उनके ऐसे वचनपालन में उनका ज्ञानपूर्वक का हेतु उसे आचरण में लाते समय पूरी तरह प्राणवान सजग रखना है। उसके साथ ही उसके पालन के हार्द में हमारा प्रेमभक्तिमय हृदय उल्लास से भरा होना चाहिए। उस वचन के पालनकाल में यदि उसके विषय में शंका हो तो उसका यथार्थ परिणाम नहीं आता है । उनके वचनपालन में हमारा आंतरिक व्यवहार समाधानपूर्वक का हो इतना काफी नहीं है, परन्तु वह वचन हमारे जीवनकल्याण के लिए ही है, ऐसी हृदय की निष्ठा प्रगट हुई होनी चाहिए । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १८२-८३)

* *

साधक के प्रयत्नों में उत्साह तो अति आवश्यक है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १८५)

* *

साधना में बहुत खींचकर पकड़े रखें और बहुत ढीला छोड़ें, ये दोनों दशाएँ अयोग्य हैं । 'बहुत खींचकर पकड़े रखने पर' इससे पुरुषार्थ करते हुए परेशान रहा करेंगे तथा 'बहुत ढीला रखें' तो इससे प्रमाद, आलस्य और तमस में ही पड़े रहने की स्थिति आएगी । हमें तो वह भी नहीं होगा और यह भी नहीं होगा । हमें तो ज्ञानभक्तिपूर्वक मिट्टी के लोंदे की तरह मुलायम बने रहना है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २१८)

* *

प्रारंभावस्था का साधक अकेली कृपा के साधन से चिपका रह सके ऐसा साधारणतः हो नहीं पाता यह बात भी सत्य है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २२८)

* *

जो साधना करें या करते हों, उसमें भी उस समय हृदय में सद्गुरु की भावना की चेतनात्मक धारणा जीवंत रख सकें तो साधना के अभ्यास में प्राण शीघ्र प्रगट होते हैं ।

('जीवनपोकार', आ. ३, पृ. २६८)

* *

कुछ भी यंत्रवत् नकारने से कुछ भी सही इन्कार नहीं हो सकेगा; परन्तु वह सभी टालने के पीछे प्रत्यक्ष उस समय जीवन के ध्येय के प्रति उद्देश्य का जीवंत ज्ञान, उसकी समझ और उस कर्म के हार्द में उस प्रकार का आचरण करते समय समझ की भावना रखनी है; उस प्रकार की भावना में से जीवन की आचरण कला पैदा होनी चाहिए और उस तरह वह सब यदि बाहर निकलता जाय तो सार्थक रहेगा ।

('जीवनपोकार', आ. ३, पृ. ३३२)

उत्कट साधक निष्फल होते भले ही दिखे, पर उसकी ध्येय के प्रति श्रद्धा तो अडिग रहा करती है; इससे तो बार-बार गिरते, पछाड़

खाने पर भी अनेक बार फिर से उस दशा में उन्नत मस्तक हो वह खड़ा होता है । ('जीवनपोकार', आ. ३, पृ. ३३६)

* *

साधना की उत्तरोत्तर कक्षाओं में 'गुण' का भी विलय होता जाता है । हमारी **जीव** कोटि में सत्त्वगुण जैसा होता है, वैसा का वैसा कुछ वह चेतनात्मक कक्षा में नहीं रहता । उसकी भूमिका होते हुए भी उसका प्रकार और कक्षा तो बिलकुल अलग ही ढंग की होती है । साधना की परिपक्व भावना से उत्पन्न सत्त्वगुण ज्ञान के अनुभव में प्रगट हुआ करता है । ऐसी कक्षा में रजस जीवन में शक्ति के स्वरूप में आता जाता है और तमस वह गुण किसी परम शांति स्थिति में, किसी अवर्णनीय शांति में, किसी परम विमल ऐसी स्थिरता में परिणाम प्राप्त होता हुआ अनुभव होता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४२४)

* *

जागृति तो साधना के मार्ग में बड़े से बड़ा साधन और लक्षण है । जैसी और जितनी जागृति उतनी और वैसी कार्य सिद्धि होगी । आध्यात्मिक मार्ग का भी निश्चित वैज्ञानिक शास्त्र है । इसमें कोई शंका नहीं है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४१८)

* *

नामस्मरण का उद्देश्य ज्ञानपूर्वक हृदय में हृदय से जीवंत रहा करे तो ही उसकी सार्थकता रहती है । बाकी खाली नाम लिया करें और भजन, कीर्तन किया करने से खास कुछ नहीं होगा । मन में मन से तो हम संसार में खेला करते हैं और संसार के विचारों में रुचि लिया करते हैं, तो ऐसा नहीं चलेगा ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४२२)

* *

जीवन का आमूलाग्र परिवर्तन साधना की भूमिका बनाये बिना संभव नहीं । जो कुछ प्राप्त करना है, उसे साधना से प्राप्त कर सकते हैं । उसके लिए पुरुषार्थ अनिवार्य है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८४)

* *

मन के साथ झगड़े बिना साधक का कभी अंत नहीं आएगा । स्वभाव को बदलना है और इसके बिना यमुना की गति को बदला नहीं जा सकता । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८५)

* *

साधक के जीवन में दृढ़ मनोबल की भावना सूर्य की तपन की तरह प्रगट हुई होनी चाहिए । अटल अर्थात् अडिगता तथा धारणा अर्थात् उसके पीछे ज्ञान की समझ और वह भी सतत, निरन्तर कार्यसाधकतायुक्त समझ हो । ऐसा जीवनसाधना का स्वरूप होना चाहिए । ज्ञानभक्तियुक्त व्यवहार किया करने से उसमें जीवनचेतन प्रगट होता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८६)

* *

साधनामय जीवन में प्रवेश होने से सात्त्विक गुण आते जाएँगे, विकसित होते जाएँगे, तब जाननें कि साधना सही दिशा में है ।

* *

सच्चा स्वीकार उसका नाम कि उसे स्वीकार करने के बाद उसमें से पीछे कदम भरना कभी न बने ।('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ९२)

* *

साधक को समय का मूल्य और उसकी उपयोगिता सही ढंग से परखना सीखना है । एक पल भी निरर्थक नहीं जाना चाहिए ।

आलस्य, तामस और प्रमाद को उसे झाड़ देना चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १६४)

* *

जो भी वृत्ति, विचार, भाव, परस्पर के व्यवहार से उत्पन्न वृत्ति, कर्म-प्रसंग और व्यवहार से पैदा होनेवाले भाव और उन द्वारा स्वयं में पैदा होती स्थिति, उन सभी का हृदय से पूरी स्वीकृति हुए बिना साधक खुला नहीं हो सकता ।

* *

'साधक को कहीं कोई बंधन नहीं होता', ऐसी मान्यता वह अज्ञानताभरी समझ है । जैसे-तैसे व्यवहार से कभी भी जीवन में व्यवस्थित विकास संभव नहीं होता । जीवन भी एक कला है और वह उत्तमोत्तम कला है; जैसे-तैसे तूलिका चलाने से कोई चित्रकला नहीं आ जाती । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २५१)

* *

साधना में निश्चितता, नियमितता और निरन्तरता आनी चाहिए, आवश्यक है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २५१)

* *

साधना से पैदा होती समझ को मात्र याद किया करने से कुछ नहीं होगा । अंधानुकरण करने से भी नहीं होगा; इसमें से दीखती या अनुभव होती प्रतिभा से चकाचौंध होने से भी कुछ नहीं होगा; परन्तु उसमें से जो चेतना जागे उसे, नए प्रकार के सर्जन की इच्छावाले तत्त्व को स्वीकार कर काम में जुटना पड़ेगा; तभी जीवन में नयापन प्राप्त होगा । साधना से रसज्ञ दृष्टि, शक्ति खिलती जानी चाहिए; जिससे प्रत्येक कर्म में उसका आगे-पीछे का उद्देश्य और ज्ञान प्राप्त होता रहेगा । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २८४)

* *

साधक की प्रत्येक भूमिका ठोस अनुभव की समझ और परिणाम पर रची होनी चाहिए। अनुभव को मात्र कल्पना के बल पर ही बलात् खींचकर नहीं लाना है, इसका ख्याल रखना चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४२)

* *

साधना के भाव अनुसार विचार, उसी के अनुरूप वाणी और उसी अनुरूप साधना का व्यवहार– इन तीनों की समझ प्राप्त करके ही साधक को सुमेल लाना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४५)

* *

ऐसा होने पर स्वयं दृढ़ स्थितिवाला साधक हुआ है, ऐसा मानना है। फिर आकाशवृत्ति उत्पन्न हुए ऐसे साधक के हृदय में रागद्वेषवाले विचार विपरीत फल उत्पन्न करते हैं । ऊपर के दोषवाले आंदोलन चिदाकाश में मिलकर, अपने स्वजातीय दोषवाले आंदोलनों को आकर्षित कर उन विचारों के आंदोलनों का फल समष्टि में उत्पन्न कराता है । इसतरह वह संसार में शांति के बदले अशांति पैदा कराने का कारण बन जाता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४३)

* *

काम करते करते बीच-बीच में पाँच दस मिनट काम एक तरफ रखकर अंतर में एकभाव से डुबकी लगाकर जीवंत अभ्यास विकसित करने जैसा है ।

* *

सद्गुरु के जीवन के जो प्रसंग ऐसे घटित हुए हों कि जिससे जीवन में प्रेम, श्रद्धा, भक्ति पैदा हो और बढ़े ऐसे घटित हुए हों कि

वैसे प्रसंगों को बार बार हृदय में दुहरा कर सद्‌गुरु की हृदय में प्राणप्रतिष्ठा करके, उनमें अपना मन, हृदय आदि को लगाने यदि अपने दिल से मथा करेंगे तो भी भाव का परिशीलन होता अनुभव कर सकेंगे । किसी भी ढंग से हृदय में भाव का लगातार संग रहा करे यह आवश्यक है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ८५)

* *

कर्म का मूल्यांकन कर्म के स्थूल परिणाम की दृष्टि से नहीं, परन्तु उसमें रहे और परिणामस्वरूप उसमें से झरते भाव की दृष्टि मुख्य रूप से करने से भी ऐसा गुण विकसित होता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८५)

* *

किसी भी प्रकार के जीवनविकास की साधना की नींव ही श्रद्धा है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ८५)

* *

श्रद्धा अर्थात् जो जीवन में प्रगट हो और जीवन के प्रवाह को उसके भाव के प्रवाह में वहन कराये । सद्‌गुरु के प्रति एक तरह का मानसिक अहोभाव पैदा होना यह तो बहुत प्राथमिक प्रकार की श्रद्धा तो है । इससे बहुत कुछ नहीं होता ऐसा अनुभव होता है, यद्यपि बिलकुल बेकार नहीं होता । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ९२)

* *

साधना में आगे जाकर एक ऐसा दौर आता है कि जब साधना एक निर्बंध रूप से सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ हमें चलाये उस तरह चलने की ज्ञानभक्तिपूर्वक की, जीवंत, चेतनात्मक, कोमलतम आंतरिक प्रक्रिया । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०१)

* *

ब्रह्मचर्यपालन करने की आवश्यकता इस मार्ग के लिए कितनी अधिक आवश्यक है, उसका महत्त्व और ज्ञान होना चाहिए । इतना ही नहीं परन्तु साथ ही साधक का प्राण, सूक्ष्मरूप से या सूक्ष्म ढंग से भी, जातीय विषयवासना में रुचि जरा भी न रखें, न लें और जो कुछ कामवासना के पोषक हों, वैसे मनोभावों और वृत्तिओं को उत्तेजित करे ऐसा हो उन सभी में से अपने आपको पूर्णरूप से पीछे खींच लें और उस विषय में हमेशा विशेष जागृति और ध्यान रखें ।

('जीवसंशोधन', आ. १, पृ. १२३-२४)

* *

नम्रता अर्थात् कायरता नहीं । नम्रता अर्थात् कहीं भी किसी में से भागना नहीं; नम्रता अर्थात् आचारविचार के नियमों का शुष्क पालन और प्रत्येक प्रकार के मान-आदर देने की नीतिरीति भी नहीं । यह सब नम्रता का स्वरूप नहीं । नम्रता तो आत्मा का एक गुण है । फिर भी साधक ज्ञानपूर्वक नम्रता के गुण को जीवन में ला सकता है और उसे लाना भी चाहिए ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १२६)

* *

नम्रता लाने के लिए निराग्रही, निरासक्त होना बहुत जरूरी है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १३०)

* *

केवल समाज के रुढ़िबंधन तोड़ने के लिए यानी कि समाज सुधार के उद्देश्य से ही कोई प्रवृत्ति साधक को नहीं करनी है । अपनेआप ऐसा प्रसंग सिर पर आ पड़े तो रुढ़ि के बंधन को तोड़ने से हिचकना भी नहीं है और घबराना भी नहीं है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १६२-६३)

* *

साधन तो साधन ही है न कि साध्य । ध्येय की सिद्धि के लिए साधन है । साधन यदि परंपरागत बन गया तो वह व्यर्थ है । साधना को भावना द्वारा परिपूर्णरूप से वैसे उचित व्यवहार में लाये बिना ध्येय को प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १९९)

* *

ध्यान में तीन या चार घण्टे बैठें या अमुक साधन ऐसा हुआ कि वैसा हुआ अथवा अमुक तरह दृढ़ रहें या दृढ़ता रही, व्यवस्था बनी रही, नियमबद्ध रहा गया– यह सब महत्त्वपूर्ण नहीं है । परन्तु *इन सभी के परिणाम से दैनिक व्यवहार में भावना कितनी जीवंत रहती है, एक में ही तन्मयता कितनी रही है, भावना में उत्कटता की मात्रा कितनी बढ़ रही है, सद्गुरु में कितनी प्रीति बढ़ रही है, यह सब सही प्रमाण हैं और उसी तरफ हमारा लक्ष और महत्त्व रहना चाहिए । इसी का नाम सही ध्यान है ।* भले ही हम ध्यान में न बैठ सकते हों, तब भी भाव के लक्ष्यबिन्दु के प्रति हमारी वृत्ति अव्यभिचारिणी रह रही हो, तो वह ध्यान करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । परन्तु साथ ही साथ इतना ध्यान रखने की आवश्यकता है कि उपरोक्त स्थिति हमारी हो इसके लिए निरन्तर आंतरिक और बहिर् साधनयुक्त (भावप्रेरक, चेतनात्मक) साधना करना हमारे जैसे के लिए बहुत आवश्यक है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २०९-१०)

* *

हमारे स्वभाव के विकृत मोड़ हमें बहुत बहुत दंश दें । यह हमारी कमजोरी है, दोष है और आध्यात्मिक जीवनविकास की साधना

के लिए वे भारी अवरोधरूप हैं । यह सब जहाँ तक दंश न दे, तब तक उसमें से मुक्ति नहीं मिल पाएगी । मात्र नामस्मरण किया करेंगे तो अपनेआप सब व्यवस्थित हो जाएगा ऐसी जो मान्यता है, वह ठीक नहीं; यद्यपि नामस्मरण भी पूरी तरह सतत निरन्तर हो सके इतना सरल नहीं है और स्वभाव के वे विकृत मोड़ तो वैसे के वैसे हमेशा रहा करते हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २४८)

* *

साधक में यदि भावना पैदा न हो रही हो तो सद्गुरु के **भाव** का स्वीकार और प्राकट्य साधक में होते देर लगेगी, क्योंकि सद्गुरु के **भाव** को पत्थर के आवरणों को तोड़ तोड़कर, भेदकर गहरे उतरना होगा । कितनी ही बार वह **भाव** वहाँ का वहाँ स्थिर पड़ा भी रहे और ऐसा भी हो कि भाव अपनी असर का जितना चाहिए उतना और वैसा उपयोग न होने पर वापिस भी जा सकता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८१)

* *

साधक के जीवन की भूमिका का जैसे परिवर्तन होता जाएगा वैसे-वैसे उसका सत्य का अनुभव अधिक गहरा, विस्तृत, उदार, शुद्ध और अंतरतम होता जाएगा ।

* *

साधक भूलें तो करेगा, परन्तु यदि उसमें भी साधना की भावना सतत रखा करेगा तो उसे उसकी भूल समझ में आ जाएगी और उसमें से फिर मुड़ जानेवाला है । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ८४)

हमने सोचा और माना वह सबके लिए उपकारक है, ऐसी मान्यता के मूल में संकुचितता का जहर अंतर्निहित है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. २, पृ. ९)

* *

स्वधर्म के यथार्थ पालन से सच्ची विशालता जन्म लेती है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९)

* *

हम अपना ही देखें और आंतरिक विकास के प्रति अभिमुख रहें, इसमें बुद्धिमत्ता और चतुराई है । इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि इसमें जिसे हम स्वार्थी या मतलबी कहते हैं वैसा होने की **यह** सलाह है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९)

* *

जो सहिष्णु और सर्वग्राही है, वह तो सभी को विनयपूर्वक समझने का प्रयत्न करता है और फलस्वरूप उसका हृदय और बुद्धि विशाल होते हैं । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १०)

* *

विशाल दृष्टि रहित साधुता निरर्थक है, वह साधुता है ही नहीं ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १०)

* *

सच्ची श्रद्धा का मूल्यांकन यह अपना ही आंतरिक विकास है ।

* *

किसी भी विषय पर अतिशय विचार किया जाय और उसमें से कुछ भी आचरण में आये ऐसा न हो या हो न सके तो वह सारी विचारधारा ही घातक है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १३)

* *

भावना का प्राबल्य इतना सबल है कि इससे संस्कार पोषित होते हैं और जिन संस्कारों को भावना पोषित करती है, इससे मनुष्य के

समग्र जीवन का निर्माण होता जाता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४)

* *

किसी भी बात को अंतर की खूब गहराई में स्थिर कर रखने का एक सच्चा मार्ग, उस भावना का सातत्य है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १५)

* *

जीवन में सात्त्विक संघर्ष पैदा होता है, तब हृदयमंथन होता है; ऐसे मंथन से नवनीत निकालने की कला जानना अनिवार्य है और यह सही ढंग से मथनेवाले को अपनेआप सूझता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १६)

* *

कर्म के संस्कार चित्त में सतत पड़ा करते हैं और पड़ा रहा करते हैं; वह कब फूट पड़ेंगे, निश्चितरूप से नहीं कह सकते हैं ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १७)

* *

कोई भी वृत्ति मन में उठती है, तो वह उसका प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १७)

* *

किसी भी प्रकार की ग्रंथि को लेकर बैठना यानी जीवन के विकास को रूँधना है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १८)

* *

जीवन के प्रत्येक विद्यमान क्षेत्र के सर्व प्रकार से और सर्व भाव से पूरी तरह आंतरबाह्य शुद्धि हुए बिना सचमुच पूरी साधना होनी

कभी संभव नहीं है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १९)

* *

सारा आधार मन में रुचि पैदा हो, इस पर आधारित है । जिसमें मन की रुचि हो, जो मन को अच्छा लगता है, वैसा काम करने के लिए मनुष्य सब कुछ कर डालता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १९)

* *

अपने से बिलकुल विरुद्ध विचार या आचारवाले के प्रति भी सहिष्णु रहें और रहने का सतत प्रयत्न किया करते हों तो हमारी तटस्थता बढ़ती जाती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८)

* *

जिसे हम संतलोक मानते हैं, वह तो सूखी लकड़ी जैसा होता है । उसे अपने विषय में रसमय, गीला रखना वह हमारा काम है ।

* *

भाव यह विचार का अव्यक्त मूल और विचार भाव का व्यक्त स्वरूप है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २१)

* *

कर्म को महत्त्व देने पर भी उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधक को कर्म का आदि, मध्य और अंत में सतत समान गंगा के प्रवाह जैसा हृदय का भाव प्रेरित करने का अभ्यास चैतन्य कर्म करने में लगातार संपूर्ण लक्ष रखते रहना है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २१)

* *

प्रत्येक कर्म में जिसकी श्रद्धा और भाव ज्ञानभक्तिपूर्वक रहा करते हैं, उसे कहीं छलने जैसा नहीं है । उसका रक्षक उसका भाव

ही बनता है । जो मनुष्य अपनी भावना बनाये रखने का एकमात्र कर्तव्य में ही मस्तरूप से निर्भय और निर्भर रहा करता है, उसे उसके हृदय की चैतन्यमय हुई भावना से अतिरिक्त रूप से कुछ भी अकल्याण करने में कोई भी शक्तिमान नहीं हो सकता ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २१-२२)

* *

जैसे शुद्ध पानी में मैला पानी मिलता है, वैसे सद्भावना के साथ जो सारा अपने में से निम्न मिलता जाता है, इसलिए वैसा होता है और उस सद्भावना की असर या महत्त्व कम होता जाता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २२)

* *

श्रीभगवान की स्मरणभावना को धारणा तथा साथ प्रत्येक होते जा रहे कर्म में यदि **जीव** उसी प्रकार के साधनों से सतत एक-सा हृदय से लगा रहे और स्वयं को मिलती जाती सर्व प्रवृत्तियों और परिस्थिति में एकमात्र हृदयस्थ भाव को विकसित करने की तथा उस चैतन्य आदर्श को चेतनास्वरूप में मूर्तिमंत किया करने की धारणा वह रखता जाएगा तो वह **जीवात्मा** वैसा ही होगा यह निर्विवाद तथ्य है। ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २४)

* *

साधना के मार्ग में **जीव** का जो भी किसी दूसरी तरफ (निम्न प्रकार) होने पर जो बैचेनी, भार या ऐसा लगे तो साधना के लिए उस **जीव** की योग्य तैयारी नहीं हुई है ऐसा जानें ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २४)

* *

संस्कारगत परम्परायुक्त मान, आदर देने की प्रणालिका में जब प्राणवान ज्ञानपूर्वक का चैतन्य नहीं होता, तब वैसा मान, आदर देने

की स्थूल, जड़ प्रणालिका देनेवाले और लेनेवाले दोनों को हानिकारक सिद्ध होती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २६)

* *

अपने से अधिक ऊँची कक्षा के **जीव** के प्रति हृदय से जो मान, आदर देना है, वह अपने में जीवनविकास की वैसी भावना के उदय के लिए है, वैसी भावना रखकर देना है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २७)

* *

संसार में पैसा तो बहुतों के पास होता है; उसकी दुर्गंध विशेष रूप से है, पर उसकी सुगंध तो किसी भाग्यशाली में ही प्रगट होती अनुभव की जा सकती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. २८)

* *

जीवन में संग्राम सब जगह और सभी भूमिकाओं में व्याप्त है । जो **जीव** ऐसे संग्राम का ज्ञानपूर्वक सहर्ष स्वीकार करता है, वैसा **जीव** जीवन का योग्य विकास कर सकता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३०)

* *

जीवन के धर्म से अतिरिक्त रूप में– अलग रूप से कोई साधना नहीं हो सकती । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३०)

* *

संसार यह तो जीवन की प्रत्यक्ष पाठशाला है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३४)

संसार यह तो मनुष्य के अंतर में सुमेल पैदा करने, अनेक में फैला होने पर भी एकरूप से जीने, आचरण करने या रहने के बोधपाठ

रूप तथा सभी में अपने को ही अनुभव करने को मिला है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३४-३५)

* *

संसार मिला है, शक्ति का विकास करने और शक्ति के ज्ञान के अनुभव के लिए । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३६)

* *

जीवन में आते संग्राम का उद्देश्य **जीव** को शक्ति की पहचान करवाना तथा इससे शक्ति का उद्‌गम होने और ज्ञान का अनुभव होने के लिए है । संग्राम, सचमुच प्रकृति के स्वभाव का एक सहज लक्षण है ।

संसार में जो कुछ भी हमें आ मिलता है, घटित होता है, उसकी भूमिका तो हमारे में ही विद्यमान है । दूसरों की भूमिका के फलस्वरूप वह नहीं है । दूसरे तो मात्र केवल निमित्तरूप हैं । इससे दूसरों से ऐसा कुछ होने पर मन को क्लेश, संताप या दुःख न होने देकर दूसरों को निमित्तकारक समझकर उनके विषय में मन को कभी भी विचलित न होने दें । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३७)

* *

संसार को त्यागने से कोई संसार से अलग नहीं हो जाता है । संसार का हेतु तो जीवन के फलितार्थ ही है । संसार से अलग होने से संसारी मन उसके विषय में विचार करने से रुक नहीं जाता ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३९)

* *

संसार तो भगवान का ही व्यक्त भाव है; इसलिए उसमें (संसारमें) मन के दृष्टिकोण को बदलने का हमें संभव करना है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ३९)

* *

जागृत हुई सद्भावना यदि जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना विस्तार न करते अनुभव हो तो जान लें कि बीच में कोई विक्षेप है । ऐसे विक्षेप प्रत्येक जिज्ञासु को आत्मनिरीक्षण तथा अपने करणों का पृथक्करण करके, ढूँढ़ करके दूर करने चाहिए ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ४२)

* *

हृदय की जागृत सद्भावना दूसरों के जैसे अच्छा देखने या उसमें प्रेमभाव रखने को हमें प्रेरित करती है, वैसे ऐसी भावना का विस्तार होने पर सभी में वह उसी तरह हमें– मन को– प्रतीत होगी ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ४३)

* *

जो कुछ भी है वह उसके यथास्थान, यथायोग्य रूप से है और वह जो कुछ सारा मिला है, मिलता है और मिला करेगा, वह सब ज्ञान की अनुभूति के लिए साधन रूप में प्राप्त हुआ होता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ४४)

* *

वृत्ति अर्थात् गति । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ४७)

* *

वृत्ति होने पर मन को वह प्रेरित किये बिना नहीं रह सकती । भावना को जगाने और जगाने में भी प्रयत्न होता है– हो सकता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ४९)

* *

मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ४९)

* *

जीव विकास की दृष्टि से देखने पर बहनों के **जीव** को पुरुष **जीव** से अधिक ऊँची कक्षा का मैं मानता हूँ ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५०)

* *

ज्ञानभक्ति अर्थात् मात्र नामस्मरण किया करना ही नहीं है । भजन किया करना या भजन में मस्त हो जाना वह भी पर्याप्त नहीं है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५१)

* *

जहाँ जहाँ सद्‌गुण या ऐसी दैवी संपत्ति के अनुभवदर्शन हों वहाँ वहाँ कदर-भक्तिभाव से और ज्ञानपूर्वक अपना सिर झुकाएँ ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५२)

* *

संतों को मात्र जानने या उनके साथ मात्र रहने से हमारा कोई उद्धार नहीं हो सकता । जहाँ तक हमारे जीवन और मन के भाव का संपूर्ण 'उन्नयन' होता न अनुभव कर पायें, तब तक जरा भी संतोष न मानें ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५२)

* *

गुरु या संत की कृपा-मदद तभी प्राप्त होती है, जब हम में वैसी दृष्टि, वृत्ति और अभिगम प्राणवान हो, सचमुच तो हमारे अपने बिना दूसरा कोई **गुरु** नहीं है । **गुरु** तो सर्वत्र और सभी में व्याप्त हैं । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५३)

* *

प्रत्येक संतात्मा की जीवनसारणी भिन्न-भिन्न होती है; प्रत्येक की एक दूसरे के साथ तुलना करना जरा भी योग्य नहीं है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५४)

* *

जीवन के आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करना अति कठिन है । व्यक्ति मानता है, उतना सरल नहीं है । **इस** मार्ग में हमें अनेक प्रकार के अनेक स्वजनों का हनन करना पड़ता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५५)

* *

जीवन में मौज उड़ाने के लिए ले जा रहे हैं, ऐसा ही ख्याल लोग यात्रा करते हुए रखते हैं । लोग केवल घूमने के लिए जाते हैं । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५६)

* *

जीवन के ध्येय-आदर्श की भावना और उसकी धारणा प्रत्येक होते जाते कर्म में उसी पल ही जितनी-जितनी प्राणवान बनाये रखने हेतु हमारे द्वारा संघर्ष किया जाएगा, उतने प्रमाण में हम जीवन के ध्येय-आदर्श को मूर्तिमंत कर पाएँगे ।

* *

कसौटी और मंथन ये जीवन विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण अंग हैं; इनके बिना जीवन का सही तेज जानकर, परखना या परखा नहीं जा सकता । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६०)

* *

विसंवाद दिखता है सही, परन्तु सुमेल या संवाद यही पूरे संसार और जगत की नींव है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६१)

* *

हमारा क्षेत्र संसार है, परन्तु संसार में संसार की भावना नहीं रखनी है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६२)

* *

मन को उसके मन पसंद विषय में रुचि लेते रोकने हेतु हमें उसे जीवन ध्येय के विषय का कोई दूसरा काम साथ-साथ देना चाहिए और वह है प्रेमभक्तिपूर्वक प्रभु का नामस्मरण ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६५)

* *

मन को समेटने-प्रज्वलित करने, ऐसा चेतनामय आंतरिक बल प्राप्त करने के लिए साधना करनी आवश्यक होती है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६५)

* *

मनरूपी देहली को लांघे बिना जीवन के चेतन के घर में हम प्रवेश नहीं कर सकते हैं । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६६)

* *

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार के आनंद की आशा रखकर ही दुःख सहता है । जीवन में आनंद न हो तो जीवन टिक ही नहीं सकता । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६७)

* *

जगत हमारी दृष्टि से अलग-अलग लगता है, क्योंकि हम ही अलग-अलग होकर, अलग-अलग रहते हैं ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६८)

* *

संसार को छोड़कर भी छोड़ नहीं सकते । संसार हमसे चिपका नहीं है, किन्तु हम संसार से चिपके हैं और इससे मन की स्थिति को ही मात्र वहाँ पलटना रहता है । मन अपने आप नहीं पलटता है । इसके लिए ही साधना की आवश्यकता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ७०)

* *

जगत में समझदार को ही अधिक सहन करना होता है और अधिक सहना पड़ता है । यही मेरे मन से तो तपश्चर्या है । संसार में जो सहना होता है, वह जीवन की शिक्षा के लिए है, जीवन के विकास के लिए है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ७८)

* *

प्रभुमय जीवन अर्थात् पहले तो सात्त्विक जीवन का विकास ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८०)

* *

संसार यह दूसरा कुछ भी नहीं है पर वृत्ति या भावना का विस्तार है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८१)

* *

संसार यह तो प्रत्यक्ष जीवन के बोधपाठ सीखने की पाठशाला है और जीवनविकास की प्रयोगशाला है । इसके जैसा दूसरा कोई प्राणवान गुरु नहीं है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८२)

* *

अंतर में अंतर्मुख रह पाना यह सतत उस प्रकार के निरन्तर

अभ्यास बिना संभव नहीं हो सकता ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८२)

* *

किसी से भी कहीं पलायन नहीं हो सकता । यह तो कोरी कायरता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८२)

* *

सब जो कुछ भी हुआ करता है, उसका मूल तो हमारे अपने में रहा है । हमारे अपने में इसप्रकार की भूमिका हुए बिना वैसा कुछ हमें स्पर्श करने की ताकत या प्राणवाला नहीं बना पाता ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८३)

* *

जगत में परायों-दूसरों को सह लेते हैं और उसे निगल भी जाते हैं; उसी तरह अपने बच्चों और अपनों का सहना या समझपूर्वक निगल जाना माँबाप के लिए और बुजुर्गों के लिए उतना ही योग्यता क्षम है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८४)

* *

मनुष्य के शरीर का माहात्म्य और रहस्य समझने के लिए ही जन्मदिन का हमारे में महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८६)

* *

अव्यक्त से व्यक्त होना, वह जन्म । ऐसे जन्म के भी अनेक प्रकार होते हैं । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८९)

* *

(किसी पवित्र स्थान की) दिव्यता, रम्यता या प्रभुमयता कहो,

यह सब मन के लिए हैं; मन न फिरे, न पलटे, वहाँ तक अन्य कहीं भी कायमी सुख, चैन, आराम नहीं मिल सकता ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८९)

* *

स्वधर्म-आचरण यह तो **जीव** का **शिव**मय होने के मार्ग का प्रथम चरण है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९०)

* *

नाम की प्रतिष्ठा अधिक है । नामी से भी नाम चढ़ जाता है ।

उच्चात्मा के प्रेमभाव का भाजन हम होते हैं, वह कल्याण का कारण है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९१)

* *

साधक हमेशा अपना ही देखने और स्वयं को ही योग्य ढंग से मठारने में लक्षवान रहता होता है । उसे दूसरे की कुछ पड़ी नहीं होती । वह जितना अकेला अपने में केन्द्रित हो एकाग्रता से आचरण करेगा, उतने ही प्रमाण में वह समष्टि के मध्यबिन्दु को भी स्पर्श करता है । अपने जीवन की सब प्रकार से जो **जीव** पूरी तरह शुद्धि किया करता रहता है, वही **जीव** संसार की सच्ची सेवा करता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९३)

* *

यह बावलापन और धुन तो है पर उसमें अंधापन कहीं भी नहीं है । झोंकने या होमने के लिए उल्टा ये तो आवश्यक अंग भी है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९४)

* *

नम्र से नम्र और धूल से भी धूल हैं ऐसा निश्चय हुए बिना

और वैसा बने बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते हैं ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९९)

* *

जो कुछ भी हुआ करे वह हमारे मन-हृदय की सजीव चेतना के साथ प्रभु को समर्पण किया करो ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १०२)

* *

किसी को भी **जीव** स्वभाव से अन्यथा मन में लेने से, 'अरे रे ! यह तो हमारे प्यारे भगवान का द्रोह हो रहा है ।' ऐसा हो और इससे अत्यधिक पछतावा और दुःख हो, तो जानना कि हम श्रीभगवान के चरणकमल में शरणभाव बनाये रखने के लिए समर्थ हो पाएँगे । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १०३)

* *

जीव की शुद्ध सात्त्विक भूमिका हुए बिना श्रीभगवान का कृपा-संपर्क होने पर भी **जीव** उसे कभी भी अनुभव नहीं कर सकता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १०३)

* *

गुरु द्वारा यदि जीवन का विकास न साध सकें तो वैसे गुरु को करना व्यर्थ है ।

* *

गुरु यह कोई स्थूल नहीं । ''गुरुडम्'' यह भी एक घिरा हुआ खाना है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १०५-१०६)

* *

गुरु से यदि हमें लाभ न मिले और हम यदि **गुरु** से लाभ प्राप्त

करने की उत्कट परवाह हृदय से भावनापूर्वक चेतना सजीव न रखें तो ''गुरु'' यह भी अंधियारा कुँआ है। ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १०९)

* *

साधक के मौन-एकांत का काल एक बहुमूल्य और सरलता से न प्राप्त हो सके ऐसा अमूल्य काल है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ११२)

* *

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों भोगते तो हैं ही; (उपभोग भी करते हैं) ज्ञानी उपयोग की दृष्टि से भोगता है और वैसे ज्ञान, भान के साथ भोगता है और अज्ञानी मात्र भोगने की ही क्रिया करता है। ज्ञानी को भोगना उपाधिरूप नहीं, जबकि अज्ञानी का भोगना उपाधिरूप ही होता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ११७)

* *

मनुष्य को अपनी विपत्ति के समय, विषम स्थिति के समय, यदि किसी के हृदय की सहानुभूति मिलती है, उसकी असर लम्बे समय तक उसके दिल में वास करती रहती है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ११८)

* *

जिस **जीव** का भगवान के नाम का रटन भले ही रुढ़ि की तरह हो और ऐसे रटन की अखंड धारा सतत निरन्तर-गंगाधारावत् यदि प्रभुकृपा से हो सके तो ऐसी प्रवृत्ति में भी चेतन प्रगटे बिना नहीं रह सकता । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १२०)

* *

गुण का भी अतिरेक होने से गुण का गुणपना मिट जाता है, वैसे

ही गुरु को अहंकारवश मर्यादा लाँघ जाने से उसका गुण और गुण की शक्ति मिट जाती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १२६)

* *

गुरु की **भावना** हम में पूरी तरह से, सर्वार्पण भाव से और समर्पण भाव से और वह भी लगातार, समग्र तथा केन्द्रित रूप से चेतनामय आराधना सभी करणों में न हो सके, तब तक **गुरु** भी पंगु होता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १२६)

* *

जो कुछ भी मिले उसमें से यदि **जीव** उसके सद्‌गुण की भावना देखना विकसित किया करे तो **जीव** में सद्‌भावना सजीव होने की संभावना पैदा हो सकती है । सभी **जीव** के सद्‌गुण देखने और उसे अपने में उतारने का मन बनाये रखना भी साधना का अंग ही है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १२८)

* *

हमारे उत्तम रहनसहन का अनुसरण करके दूसरे **जीव** भी वैसा करने के लिए अवश्य प्रेरित होंगे ही ऐसा मानने में तर्कदोष है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १३१)

* *

हृदय में सद्‌भावना सजीव होने से हृदय को जहाँ-तहाँ से, बाहर से सद्‌भावना ही मिलनी है, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १३२)

* *

मनुष्य को जिस प्रकार की और जितनी श्रद्धा होती है, इससे

दूसरी तरह कुछ कही दूसरे ढंग का हो सकना संभव नहीं है । अंततः तो अपनी श्रद्धा में ही सही मूल्यांकन समाहित है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १३५)

* *

अमुक ही संपूर्ण योग्य है और सर्वसमर्थ और सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा आध्यात्मिक क्षेत्र के जीवन में नहीं हो सकता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४१-४२)

* *

संसार और जीवन में प्रेमभाव से किया गया हो या कहीं अन्य भाव से किया हो– जितना भी जिस ढंग से किया हो उस भाव से और उस ढंग से उस जीवन में पैदा होता ही है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४३)

* *

किसी भी मार्ग के प्रति जितनी उत्कट में उत्कट व्याकुलता प्रकट हो, तब उस मार्ग के प्रति का प्रयत्न भी सहज और सरल बन जाता है । ऐसे प्रकार की सहज व्याकुलता प्राप्त होने पर, फिर प्रयत्न नहीं करना पड़ता । वह तो हुआ ही करता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४३)

* *

जहाँ तक हृदय की इन्द्रिय व्यवस्थित न हो गई हों, वहाँ तक आध्यात्मिक जीवन की चेतनाशक्ति के कुछ प्रमाण भले ही मिले हों फिर भी बुद्धि उसे स्वीकार कर सके ऐसा नहीं होता ।

हृदय की बात हृदय स्वीकार कर सके, ऐसी सहृदयता विकसित हुए बिना केवल अकेली बुद्धि के कोरेपन से आध्यात्मिक जीवन का सही हार्द और उसका महत्त्व कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है ।

बुद्धि में शंका रूपी वृत्ति प्रकृति ने रखी है, वह इसलिए कि

सत्य की खोज में प्रवेश करने के लिए वह हमें सतत मंथन कराती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४५)

* *

अकेला प्रारब्ध भी नहीं और अकेला पुरुषार्थ भी नहीं; दोनों एकदूसरे से जुड़े रहते हैं । उन्हें एकदूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है ।

जगत में जैसे सुख और दुःख दोनों हैं और दोनों का उद्देश्य निर्माण का है, वैसे संसार में अशुभ, अन्याय आदि जो कुछ हैं, वे सहेतु हैं । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४८)

* *

इस जगत में और जगत की रचना में सभी कोई उस उस जगह योग्य हैं और उस उसकी योग्यता के प्रमाण में ही हैं; कुछ भी अधिक नहीं या कुछ भी कम नहीं । जो कुछ भी है, भगवान का ही अंशरूप है ।

इस जन्म में **जीव** जिस प्रकार की मनोवृत्ति, भावना, विचार, कल्पना, मान्यता और क्षेत्र की जैसी-जैसी प्रवृत्ति किया करता रहता है, उसी के अनुसार वह अपनी सृष्टि अपने लिए पैदा करता रहता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४९)

* *

रागद्वेषादि ऐसे अलग-अलग द्वन्द्व की भूमिका से रंगे हुए अहम् भरे मन की भूमिका में से होनेवाला कर्म सत्य की भूमिकावाला किस तरह से हो सकें ऐसा मनुष्य कभी भी विचार नहीं करता ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १५२)

* *

वृत्ति होते ही वह गति कराएगी ही । वृत्ति का अर्थ ही उस प्रकार

की गति का उत्पन्न होना है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १५३)

* *

कर्म में जहाँ तक **अहम्** प्रवर्तित होता है, वहाँ तक **जीव** को कभी मुक्ति नहीं मिलती । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १५४)

* *

मनुष्य साधारण रूप से प्राप्त या कमाया धन यद्वातद्वा रूप से बरबाद नहीं कर डालता; परन्तु **जीव** को नैसर्गिक रूप से प्राप्त कामवृत्ति आदि की पूँजी या शक्ति, उसे तो वह असावधान होकर नशे के मद में स्वच्छंदतापूर्वक जैसे-तैसे और जहाँ-तहाँ खर्च कर डालता है और वैसा करने से उस वृत्ति आदि का स्वरूप विकृत होता जाएगा, ऐसा भान भी उसे नहीं रहता ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १५५)

* *

कार्य कोई भी और जैसा भी हो; उसे करते समय मनुष्य की चिंत्वनभावना की भूमिका जिस प्रकार की रहती है, उसी भाव अनुसार कर्म का परिणाम आता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १५८)

* *

पुरुषार्थ व्यवहार में जितना शोभित नहीं होता उतना वह परमार्थ में सुशोभित होता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १६०)

* *

संक्रान्तिकाल यह पुराने और नये काल के बीच का कठिन से कठिन मंथनकाल है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४८)

* *

उथलपुथल हुए बिना नवसर्जन की योग्य व्यवस्था खड़ी नहीं

हो सकती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. ४, पृ. १४८)

* *

दुःख में भी सूक्ष्म रूप से सुख विद्यमान रहता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ४, पृ. १४९)

* *

ज्ञानपूर्वक की जागृत हुई महत्ता का स्थान चिरंजीवी है; जब कि महत्ता से चकाचौंध हो जाना तो जड़ दशा भी हो सकती है । इस दशा में विकास की गति होना संभव नहीं है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ४, पृ. १५२)

* *

प्रत्येक संघर्षशील **जीव** को अपने जीवनविकास को मापने के लिए किसी एक प्रकार का सामर्थ्य स्वयं में पैदा हो जाना चाहिए । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ५३)

* *

लगनी के बिना रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती और रुचि बिना मन स्थिर नहीं रह सकता ।

* *

मनुष्यजीवन का प्रत्येक व्यवहार विश्वास की मूल नीव पर ही टिका हुआ है ।

* *

जहाँ विशेष गरज है, वहाँ **जीव** को अधिक शंका नहीं होती है ।

* *

प्रत्येक मनुष्य में प्रभु के पास जाने की शक्ति है, इतना ही नहीं, पर भगवान तो हमेशा आवाज देते ही रहते हैं; हम मनुष्य ही उनके पास नहीं जाते । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १५)

* *

साधना के मार्ग पर सभी तरह से और सभी भावों से भिखारी बनना होगा । वहाँ कोरा सुख नहीं है, रातदिन परिश्रम करना पड़ता है । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. २९)

* *

मन से जितना अन्यथा हमने भटकना रखा, उतना पारावार नुकसान होगा । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. २९)

* *

चर्चा से मताग्रह बढ़ता है और अहम् भी ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ३७)

* *

जहाँ रुचि है वहाँ उसके साथ की शृंखला भी होगी या आएगी ही । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ४०)

* *

दानवृत्ति करुणावृत्ति में से पैदा होती है । करुणावृत्ति का भी हमें अपने में और अपने लिए उपयोग करना है ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ५८)

* *

जो भी साधना किया करें उस साधना के मूल में भाव-की गहराइयों को बढ़ाते जाना है .

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ७३)

* *

सावधानी-चौकन्नापन हो वह अच्छा है, परन्तु उसमें चिकनाई नहीं होनी चाहिए ।

* *

मितव्ययिता भी अच्छी बात है, परन्तु पाँच, पचास, पाँच सौ या पाँच हजार खर्च कर देना पड़े तो मन में खटक या तनाव नहीं होना चाहिए । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ९६)

व्यवस्था इच्छनीय है, परन्तु अव्यवस्था हो जाय तो भी हमारी वृत्ति असंतुलित नहीं होनी चाहिए ।

* *

स्वच्छता स्वीकारलायक है, पर साथ ही इतनी गंदगीवाली जगह में रहना पड़े तो भी चित्त स्थिर रह सके ऐसी तैयारी होनी चाहिए । ('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ७७)

* *

साधक को उसके उद्देश्य के ज्ञान का भान रखते हुए सभी प्रकार के संकोच और शरम को दूर भगा देना चाहिए ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १००)

* *

दूसरे के सामर्थ्य से जो अपने को मापना और मपवाना चाहते हैं, उसमें सभी के समक्ष दिखाने की हिंमत और साहस नहीं आ सकते हैं । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १०१)

* *

हमारे द्वारा मान लिये गये चाल-ढाल-रिवाजों-आदतों को आदि छोड़ देने के लिए हमें मन, प्राण, शरीर को आघात देना पड़ेगा और आदतें आदि से कितनी ही बार उल्टा भी चलना पड़ेगा । इन सभी का अर्थ फिर ऐसा नहीं होता कि हमें सत्य के मार्ग पर नहीं चलना है । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १०३)

* *

हमारे करण जितने प्रमाण में विशुद्ध हुए होंगे उतने ही प्रमाण में हमारा सत्य भी सत्य होगा । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १०३)

* *

बुद्धि से प्रेरित सत्य की श्रद्धा ने जब तक अनुभव से ठोस हकीकत का स्वरूप नहीं लिया, तब तक सत्य पचा है, ऐसा नहीं माना जाएगा; अंततः तो श्रद्धा जब वास्तविक रूप धारण करेगी तब काम होने लगेगा । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ११४-१५)

* *

नम्रता एक वस्तु है और हीनता-ग्रंथि (inferiority complex) अलग वस्तु है । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ११५)

* *

शास्त्र आदि सब हम में ही हैं, वह प्रत्येक संतपुरुष और भक्तजनों के अनुभव का नवनीत है ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १२७)

* *

संतों और भक्तों ने भगवान के आगे अपने आपको अत्यन्त पापी, नीच, पामर आदि अनेक विशेषणों से अभिवादन किया है । उस समय उनका माप दुनियादारी के लोगों के जीवन के साथ की तुलना से नहीं होता । उनका वह माप तो उनके और प्रभु के बीच का जो अंतर हुआ है, उसका है; और जो दर्द आर्द्र हृदय से पुकार के रूप में उठती है, उनसे ऐसा कहलाता है ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १२९)

* *

किसी भी क्षेत्र में एकाग्रता, उमंग, निष्ठा के साथ लगे रहें, अविश्रांत रूप से हमने काम किया होगा तो इससे जो मनोविकास होता है, वह दूसरे क्षेत्रों में भी उपयोग में आता ही है ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १४४)

हृदय में यदि एक बार शुद्ध प्रेम उद्‌भव हो सका, तो यह प्रेम एकसाथ कितनों को ही उतने ही प्रमाण में गहरे अंतर से चाह सकता है । ऐसे प्रेम की कोई मर्यादा नहीं, प्रकार नहीं । उस प्रेम में किसी की रुकावट नहीं हो सकती, साथ ही प्रेम किसी को बाधारूप भी नहीं हो सकता । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १५३)

* *

तीव्रता के वेग से यदि हमारी शक्ति मुरझाती हो, तो वह तीव्रता सच्ची तीव्रता नहीं पर व्यग्रता है ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १७३-७४)

* *

हमें अपनी मरजी अनुसार निर्माण नहीं करना है; भगवान की मरजी अनुसार निर्माण करना है । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १८५)

* *

असंतोष भले रहे, भले बैचेनी रहे, पर किसी प्रकार की घुटन तो रहनी ही नहीं चाहिए । ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १८६)

* *

भगवान का भाव हमारे में तभी आएगा, जब हम सर्वोमुखी रहने पर भी प्राधानतः एकाग्र रूप से, केन्द्रित होकर हृदयस्थ रहेंगे ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १९२)

* *

प्रत्येक पल के कार्य की गति हमारे अंदर की आध्यात्मिक या दैवी चेतना को हमारे द्वारा मदद होती रहती है या नहीं इस विषय में सावधानी रहे इसका नाम जागृति ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १२७)

* *

जगत में प्रकृति का खेल भी हमीं खेलते हैं अथवा इसके मूल में या बीच में हम हैं; जैसे पहिये के बीच में लोहे की धुरी होती है और उससे पहिये चला करते हैं वैसे ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. २१४-१५)

* *

जैसे सेवा के क्षेत्र में जाने से उसमें से हमें वेग मिलेगा ऐसी कल्पना करते हैं, वैसे हमारे घर के क्षेत्र में से भी वैसा ही चेतन प्राप्त हो सकता है; और प्राप्त कर सकते हैं । यदि बाहर की सेवा के क्षेत्र से हमें मदद मिले तो घर में से क्यों नहीं ? उल्टे बाहर की सेवा में, घर के लोगों से, सेवा लेनेवाले की प्रेमवृत्ति कम होती है, अर्थात् घर की अपेक्षा वहाँ से तो मदद कम मिलने की संभावना रहती है ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. २४०)

* *

साधना रूढ़ होते ही निष्प्राण हो जाती है । आज में भूत और भविष्य समाये हुए हैं और कल कैसी बनेगी, उसकी चाबी आज के वर्तमान विषयक जीने की कला पर निर्भर है ।

* *

हमें अपने कार्य स्वभाव से ऊपर उठकर करने हैं । सद्-असद् दोनों में स्वभाव-प्रकृति से प्रेरित होकर हमें आचरण नहीं करना है । ऐसी चेतना हमारे में होनी चाहिए ।

* *

जैसे योग अर्थात् स्वच्छंदता नहीं है, वैसे ही योग को कोई बंधन भी नहीं हो सकता । योगी को कोई विधिनिषेध नहीं है । योग में स्वच्छंदता या विलासिता संभव नहीं । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४)

* *

अपरिग्रह का एक उत्तम अर्थ मन में किसी भी बात का अभिप्राय-मंतव्य को जकड़कर संग्रहकर न रखना, यह भी है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४)

* *

विचार करते रहने की आदत साधना में बाधा रूप है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५)

* *

मितव्ययिता यह अच्छी चीज है, परन्तु उसे करने की वृत्ति किसमें से उद्‌भवित होती है, यह देखना चाहिए । वैसी वृत्ति कितनी ही बार धनसंपत्ति पर स्वामित्व की और संग्रह करने की वृत्ति से भी जन्म लेती है । लाखों रुपयों का धर्मादा ट्रस्ट किया हो, ऐसे मनुष्य भी पैसों को जकड़कर पकड़ते हुए देखा गया है । फिर मितव्ययिता के हमारे नियम मिलावटवाले होते हैं । इससे पहले तो उसमें से पर होना होगा । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५)

* *

साधक का आधार नैतिक भूमिका से मिटकर यौगिक भूमिका से पैदा हुआ होना चाहिए । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५-६)

* *

प्रकृति का संपूर्ण त्याग करना, यह हमारी दुनिया की उत्पत्ति का उद्देश्य हो ऐसा नहीं लगता ।

* *

हमारी मुक्ति मात्र जन्म-मरण के फेरों को टालने के लिए नहीं है । यह मुक्ति अर्थात् पुरुष की अपनी सहज, स्वतंत्र चेतनात्मक शक्ति, अपनी प्रकृति में सिद्ध करना है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ९)

* *

मनुष्य जैसे विचारों का सेवन करता रहता है, वैसे विचारों के आंदोलन स्वाभाविक रूप से उसके आसपास के वातावरण में व्याप्त होता जाता है ।

* *

समय आने पर ही साधना करें, उसे भी छोड़ देना होगा । यानी साधन इतना प्यारा नहीं, जितना ध्येय, साध्य ।

अनेक शाखाओं से एकात्मभाव में परिवर्तित होना ही होगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४)

* *

विशेष व्यक्तिओं का मौन उनकी वाणी से भी अधिक बार विशेष असरकारक सिद्ध होता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११)

* *

जिज्ञासा को परिपक्व करने के लिए मेहनत करनी ही होगी । उस मेहनत में जितने अनुपात में प्रेम-रस होगा उतने अनुपात में हमारे में स्वयं स्फुरित **भाव** जागनेवाला है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २२)

* *

जन्मसिद्ध भी पुरुषार्थ करते हैं । मुक्तावस्था प्राप्त करने से पहले या अवतार के स्वरूप में प्रगट होने से पहले उन्हें भी प्रबल वेग करना पड़ता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २३-२४)

* *

जिज्ञासा होनी यह एक बात है और उसमें से भाव का जन्म होना यह दूसरी बात है और वह **भाव** कर्म में अवतरित हो, यह दूसरी बात है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २३)

* *

भूल होने के बाद उसकी चिंता करना यह तो 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत' जैसा है । यह तो उल्टा अंधेरे में टकराने जैसा है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २४)

* *

साधना में भी नहीं डूब जाना है । महापुरुषों के जीवनचरित्र बगीचे में खिले गुलाब के फूल जैसे हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २६)

* *

जहाँ मंथन होता है, वहाँ कालकूट विष भी ऊपर आना संभव होता है; परन्तु उसे पी जाने की हिंमत और साहस हमें पैदा करनी है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २८)

* *

हम अपने आपको ही पूरी तरह अपना नहीं बना सकते हैं, तो दूसरा कोई हमें माने ऐसा भ्रम रखना यह बेहूदा है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २९)

* *

यदि हम वर्षाऋतु आने से पहले साफ करके, जोतकर, जमीन नर्म करके, खाद आदि डालकर तैयार रखेंगे तो ईश्वरकृपा से वर्षा होते ही उसमें से बीज (हम में बीज तो पड़ा हुआ है ही) अंकुरित हो निकलेंगे । इसलिए हमारा काम तो खेत को जोतकर, मेंड आदि मजबूत करके, खाद डालकर तैयार करना है और फिर वर्षा की राह देखा करनी है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३१)

* *

हम जैसे अधिक एकाग्र होते हैं वैसे सामनेवाले के बल का जोश भी बढ़ता है, इसलिए हम उसके सिकंजे में न पड़ जाँय इस विषय में अधिक सावधानी रखनी है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३२)

* *

हमारे विचारों की असर तथा हमारी वासनाओं की असर भी हम में तो सभी जगह फैली ही है, वैसे दूसरी जगह भी फैली है । इसप्रकार हमारे विचार हमें तथा विश्व का निर्माण करते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२७)

* *

संकल्पशुद्धि यह भी साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । वह मात्र विचार रोकने से संभव नहीं । जहाँ तक हम में संस्कार पड़े हैं, वहाँ तक संकल्पशुद्धि होनी संभव नहीं है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३५)

* *

संस्कार भी तभी लय होंगे, जब हम प्रभु में एकराग-तल्लीन हो जाएंगे । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३५)

* *

सूरज करोडों मील दूर है । फिर भी उसकी ऊष्मा हमें लगती है ही; तो जो तत्त्व इससे तो कहीं शक्तिशाली है और इससे भी समीप है इसकी ऊष्मा हमें क्यों न लगेगी ?

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३८)

* *

हम से होती भूलों से हमें अपने सत्य का मार्ग सूझेगा ही– पर यदि उन भूलों का तीव्र संवेदनपूर्वक का यथार्थ भान होता होगा तभी । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३९)

* *

हमें लकड़ी जैसा शुष्क नहीं होना है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४०)

* *

हमारे सर्जन से ही हमें आगे जाने पर मदद मिला करे इसतरह हमें व्यक्त हुआ करना है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४०)

* *

लोहे की बड़ी पाट को काटनी होती है, तब छोटी करवत द्वारा काम लेते हैं और उसके अलावा उस पर बूँद बूँद पानी पड़ता रहता है, वैसे ही हमें मन के साथ आचरण करना है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४१)

* *

मन बेकार नहीं, बुद्धि बेकार नहीं; दोनों हमारे मित्र बन सकते हैं । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४२)

* *

जहाँ तक संसार के विषयों में या दूसरे किसी में भी हमारा मन रहा करेगा, तब तक हमारे मूल काम में कभी तमन्ना जन्म लेनेवाली नहीं है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४३)

* *

वातावरण में से भी कौन – कौन सी भावनाओं का दर्शन हुआ करता है और सीखने को मिल सकता है, यदि हम में इसप्रकार की जागृति कहो या चेतना ग्रहण करने की भूमिका (जैसे स्याहीचूस स्याही चूस लेता है वैसे) या वैसी कला हो तो ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४५)

जैसे लोहचुंबक उसकी सीमा में आ जानेवाले सभी लोहे को अपने स्वभाव से खींचता ही रहता है, वैसे भगवान हमें खींचने को तैयार ही है; परन्तु वे हमें खींचे उस सीमा में आ जाँय हम पर निर्भर है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४५)

* *

अंतर में बीज को अंकुरित करने के लिए हृदय में सतत प्रेमरूपी पानी का सिंचन करते ही रहना होगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४७)

* *

समुद्र की गहराई में या तल में जैसे मोती जैसे मूल्यवान रत्न होते हैं, उस प्रकार हृदय में भी वैसे रत्न हैं । जितने प्रमाण में हमारी दृष्टि अंतरमुखी होगी, उतने प्रमाण में बाह्य दृष्टि में भी अंतर पड़ेगा ही । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५०, ५२)

* *

हमारी क्रांति जितने प्रमाण में हमारे में होगी, उतने प्रमाण में बाहर भी होगी ही । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५२)

* *

जीवनआदर्श को सतत सामने रखेंगे तो हम किसी से भी संतुष्ट नहीं होंगे, वैसे ही उस उद्देश्य की उत्कट जिज्ञासा और तमन्ना रहेगी, तो किसी में लिपटेंगे भी नहीं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५४)

* *

चाहे जैसा भी असत्य हो या कचरा जैसा हो पर उस प्रत्येक में से यदि हमारा मन सत्त्व ग्रहण करनेवाला संभव हुआ होगा तो कहीं से भी उसे जीवनविकास की खुराक प्राप्त हो ही जाएगी ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५४)

* *

किसी के भी काम में मदद करना इसमें कोई गलत नहीं है, पर हमें किसी का भी मूढ हथियार बनकर ऐसा नहीं करना है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५९)

* *

हम जिसे उपजाते हैं, वह यदि हम में समन्वय पैदा न कर सके तो वह बाधक है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६१)

* *

हमारे द्वारा पैदा किये गये भूत ही हमें घुटन देते हैं और उसमें डुबा देते हैं । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६१)

* *

अपने आप को हम सतत टोका करेंगे तो हम दिये की बाती की तरह जला करेंगे और हम पर कालिख इकट्ठी नहीं होगी । कालिख इकट्ठी होगी तो हमारा तेज घटेगा और एक समय ऐसा आएगा कि जब हम पूरी तरह बुझ भी जाँय । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६४)

* *

यदि देने से हमारे हृदय की भावना न बढ़े, हमारा मन उदात्त न हो, हमारी संकुचितता दूर न हो तो वैसा देना व्यर्थ है । उल्टा वैसा देना तो घुटन देनेवाला भी हो सकता है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६४)

* *

निःसंग अर्थात् मनुष्य से अलग ऐसा नहीं; पर वृत्ति, विचार, भाव, सुख, दुःख आदि किसी भी प्रकार की भावना और आंतरिक मनादिकरणों की प्रवृत्ति से अलिप्त । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६७)

* *

हमारा मार्ग या योग यह कोई केवल चार पाँच घण्टे का नहीं परन्तु प्रत्येक पल के लिए है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६७)

* *

हमें अपनी पसंद-नापसंद, अच्छी-बुरी जैसी वृत्तिओं को बदलना होगा । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७०)

* *

हमें जिससे घृणा या द्वेष हो उसे ही पहले गले लगायें और वह भी अंत:करण के उमंग से । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७०)

* *

हमें किसी ने एक वस्तु भेंट दी हो तो उसे कितने आदरपूर्वक संभालकर आलमारी में अच्छी जगह रखकर शोभा दे और अच्छा दिखे इसतरह हम रखते हैं ! तो प्रभु ने हमें यह जीवन भेंट दिया है, उसका मूल्य उस भेंट जितना क्या हम नहीं आंक सकते ?

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७१)

* *

जहाँ तक हम में standards (मानक या नीतिनियमानुसार ही मूल्यांकन करने की आदत) है, वहाँ तक हमारी दृष्टि और वृत्ति उतने प्रमाण में संकुचित रहेगी । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७२)

* *

जीवन का निचोड़ अनुभव में है, पर 'अनुभव' तो तभी होंगे जब उसके पीछे हम अपने उद्देश्य को प्रत्येक कार्य में जागृत रख सकेंगे । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७४)

* *

हम भगवान में सतत डूबे रहने का जानलेवा प्रयत्न ज्ञानभक्तिपूर्वक किया करेंगे और ऐसा यज्ञ अविरत एवं दीर्घकाल तक सद्‌भाव से चलता रहेगा तो हम में ऐसी आन्तरिक भावना खिल उठेगी जिसके प्रताप से सब कुछ होना संभव है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७५)

* *

जगत में यदि कोई अधिक से अधिक बड़ा चमत्कार हो तो वह प्रेम की शक्ति का है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७६)

* *

हम जिस तरह से विचार करते हैं, उसी तरह से वे घूमकर दुबारा हमारे में घुस जाते है; इसलिए नकारात्मक विचार जितने कम हों उतना अधिक अच्छा और अंत में तो वे संपूर्ण बंद हो जाने चाहिए; नहीं तो वापिस वे विचार दुगने वेग से हम में पैठ जाएँगे और जीवन को नुकसान करेंगे । विचार मात्र अटकें तो सर्वोत्तम ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ८३)

* *

बहिर् में एक दृष्टि रह सकें इसके लिए भक्ति की आवश्यकता है और अंतर में एक होने के लिए ध्यान की आवश्यकता है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ८४)

* *

मन में ही झुँझलाने की अपेक्षा विस्फोट होना अधिक अच्छा । हो सके वहाँ तक न झुँझलायें, वह उत्तम बात है । झुँझलाने से जितना नुकसान होता है, इससे अधिक कम विस्फोट होने से होता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १००)

* *

भावना की कोई लहर उसके सघन और तेजस्वी स्वरूप धारण कर लेती है, तब कहे हुए बोल तुरन्त हृदय में उतर जाते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०२)

* *

वटवृक्ष बड़ा होने पर उसमें से शाखाएँ फूटकर दुबारा जमीन में मूल रूप से चिपक जाती हैं, पक्की जड़ बनाती हैं और उसमें से दूसरा वटवृक्ष दुबारा उत्पन्न होता है; इसप्रकार एक वटवृक्ष में से अनेक वटवृक्ष हो जाते हैं । उसी तरह हमारी आंतरिक भावना खिलकर यथार्थ रूप में खूब सघन बन जाती हैं, तब सभी दिशाओं में उसके अंकुर फैलकर काम करने लग जाते हैं; उसी तरह वह भी महान कबीरवट जैसी फैलती-फूलती है । उसके बाद वह कैसी शीतल छाया देती है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०७-०८)

* *

कर्म के संस्कारों के कारण जो भी विचार उठें, उन विचारों के अंक हमें जोड़ने नहीं हैं । योग की यह एक बड़ी क्रिया है । जितने अंश में हम जागृत रहकर इस विचार परम्परा को लयात्मक करने की क्रिया करते रहेंगे, उतने अंश में चित्त के द्वन्द्व और गुण के संस्कारों की असर अपनेआप विलय होगी ही ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १११)

* *

जगत के दबाव से हमें मुक्त होना है । सभी के देखते हुए या सभी के बीच अमुक तो हम से न हो ऐसी वृत्ति भी निकाल देनी है । उसमें से कुछ अंश में सद्-असद् का विवेक बनाये रखना है, परन्तु वह तो तब हमें अपनेआप सूझ जाएगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११५)

* *

बाह्य जगत में जब हमें सुमेल होने लगे, तब हमें समझ जाना है कि अंदर भी सुमेल हो रहा है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११५)

* *

समाज के किसी भी अंग को तुच्छ मान करके हम कभी आगे नहीं बढ़ सकते हैं । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११८)

* *

हमारी दृष्टि आत्मलक्षी होने के साथ-साथ सर्वलक्षी भी होनी चाहिए । कट्टर से कट्टर विरोधी के प्रति भी प्रेम, सहानुभूति और कदर की भावना होनी चाहिए; उसका दृष्टिबिन्दु भी समझने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११८)

* *

जब अपनेआप कुछ हो रहा हो, तब किसी भी प्रकार की बुद्धिमत्ता उसमें नहीं लगानी चाहिए ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२०)

* *

किसी का मत फेरने के लिए हमारा दृष्टिबिन्दु थोपने पर वह दूर होने के बदले कभी-कभी अधिक दृढ़ हो जाता है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२१)

* *

हमारा प्रेम कहीं हमें एक दूसरे के लिए राग में या आसक्ति में न प्रेरे ऐसा होना चाहिए । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२२)

* *

हमें यदि भगवान का होना होगा या उनके पास जाना होगा तो उसी की शरतों से ही ऐसा हो सकेगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२३)

* *

जैसे-जैसे हमारी स्वीकारात्मक, ग्रहणात्मक शक्ति और भावना बढ़ती है और उस विषय के चिंतन में गहरे उतरते जाते हैं, वैसे वैसे जितना अधिक सूक्ष्म रूप से कहने में आता है वैसे, अधिक सूक्ष्म रूप से हम उसे समझने के लिए तैयार रहते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२४-२५)

* *

जिस मनुष्य को स्वयं अपनी भूल समझ नहीं आती है, उसे अपनी भूल दूसरों के कहने से या बताने से गले उतरनेवाली नहीं है । शायद समझ में आएगी तो वह उतनी मर्मवेधक नहीं होगी । इसलिए हमें अपनी भूल अपने आप ही खोजने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२६-२७)

* *

अपने आप के प्रति हम जितने वफादार रहेंगे, उतने प्रमाण में हम दूसरों के प्रति प्रामाणिक हो सकते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२७)

* *

प्रेम काल और स्थान को लंबा कर सकता है, वैसे संक्षिप्त भी कर सकता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १२९)

* *

आध्यात्मिक जीवन में व्यावहारिक और आध्यात्मिक ऐसे दो अलग-अलग भाग जीवन के नहीं कर सकते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४६)

* *

'बाड़ के बिना बेल नहीं चढ़ती' ऐसी कहावत है; परन्तु बेल को यदि चढ़ना हो तो उसे अंकुरित होना होगा । उसे चढ़ने के लिए बाड़ के रूप में निर्माण हो चुका ही है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५५-५६)

* *

समझ किसी के समझाने से लेनी और अनुभव से पैदा होनी, इन दोनों के बीच में बहुत अंतर है । स्वयं अपने आप जो समझे, वही गहराई में जा सकता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५८)

* *

जहाँ तक अनुभवों का योग्य रूप से लाभ लेने की शक्ति, दृष्टि और वैसी अभिलाषा पैदा नहीं होगी, तब तक वह अनुभव ऊपर ही ऊपर से चला जाता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५९)

* *

जो वस्तु करनी हो उसे तो तब तुरन्त ही हृदय के सहज और सरल उमंग से करनी चाहिए । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६०)

* *

भगवान और माया इन दोनों का एक साथ भजन नहीं हो सकता । भगवान के दर्शन होते ही आंतरिक क्रियाओं में सहज रूप से रूपान्तर होने लग जाता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६१)

* *

जिन विषयों में जो अनुभव होते हैं, वे अनुभव-ज्ञान की समझ या ठोस रूप से हमारे जीवन में पूरी तरह न उतरें, वहाँ तक अनुभव पूरी तरह है कि नहीं वह निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६४)

* *

भगवान का भाव अत्यन्त सूक्ष्म होने से आधार बिना पकड़ना बहुत दुर्लभ है । इसके लिए हमारे जीवन विषयक विधायक के साथ का हृदय से ज्ञानभक्तिभरा सजीव संपर्क, साधना का बहुत आवश्यक अंग है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६६)

* *

सही श्रद्धावान और जिज्ञासु को जीवन में किसी से भी और कहीं भी हानि होनी संभव नहीं है । उसकी श्रद्धा और हृदय का जिज्ञासुभाव उसे जहाँ-तहाँ से उबार लेगा । उसे कोई मूर्ख नहीं बना सकता । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६७)

* *

हमारे जीवन ध्येय विषयक हमें अपने आपको बार-बार समझाना होता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६८)

* *

विजातीय परिचय (भाइयों का बहनों के साथ और बहनों का भाइयों के साथ) अपनी भावना की दृष्टि का विकास हो इसतरह साधना की दृष्टि से बनाना है । साधक की इसके अलावा दूसरी दृष्टि और वृत्ति नहीं हो सकती । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७२)

* *

प्रत्येक कार्य में और उसके होने पर भगवान की दृष्टि रहे और हमारी भावना के विकास की दृष्टि से उसे हमारी समझ और आचरण में उतारना चाहिए । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७३)

* *

जीवन को सूक्ष्म की भावना में विकास साधने के लिए हमें स्थूल अनुभवों में सूक्ष्म भाव समझने का प्रयत्न करना होगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७६)

* *

स्वप्न में वासना का कोई एक प्रकार नहीं है । उसका जोर जब प्रबल होता है और बाह्य रूप से सभी इन्द्रियाँ जब निश्चेष्ट और निष्क्रिय बन गयी होती हैं, तब वह इन्द्रियों के मूल में वासना गहरी उतरती है और बाह्य इन्द्रियाँ निश्चेष्ट और निष्क्रिय होने पर भी उसकी प्रकृति के स्वभावानुसार वह उस अनुभव को वहाँ वहाँ लेती है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७७)

* *

जिस स्थिति में पड़े हों उस स्थिति में और उसमें से ही हमें अपना विकास साधना है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७७)

* *

संसार का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं कि जहाँ रहकर भगवान को भज नहीं सकते । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७७)

* *

साधना के मार्ग में 'त्याग' या 'बलिदान' करने जैसा कुछ नहीं है । इसमें तो अनुभव हो सके तो ही उचित । हमें तो अपना संपूर्ण समर्पण करते रहना है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७७)

* *

विकसित होती हुई और विकास हो चुकीं भावनाएँ – जब उफ़ान आए तब उन्हें व्यक्त न करके नामस्मरण के साथ उसे गहराई से हृदय में भावनापूर्वक उतारने का प्रयत्न करना चाहिए ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७९)

* *

पति-पत्नी का संबंध वासनाओं का ऊर्ध्वीकरण करने के लिए है यानी कि उसे शुद्ध और उच्च प्रकार का बनाने के लिए है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८०)

* *

प्रत्येक संबंध हमारी आंतरिक चेतना को सजीव जागृत रखने के लिए है— फिर वह व्यावहारिक, सात्त्विक या आध्यात्मिक हो— ऐसा ज्ञानपूर्वक का संपूर्ण ख्याल प्रत्येक साधक को अंतर में रखना चाहिए । संबंध और संपर्क **जीव** को **जीवदशा** में प्रेरित करता है या आत्मदशा में प्रेरित करता है, यह उसे प्रत्येक प्रसंग में विचारना चाहिए । जहाँ तक जगत और व्यवहार में है, वहाँ तक संबंध रहेगा और होगा । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८०)

* *

भावनात्मक उत्तेजना जागती है, तब उसमें डूब जायें, वह भी योग्य नहीं । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८०-८१)

* *

हम जब दूसरों के विषय में अन्यथा रूप से कुछ सोचते हैं, तब हम अपने में उस वृत्ति के बीज बोते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८७)

* *

विचार न जन्मे यह उत्तम है; परन्तु तामस या जड़ताभरी प्रकृतिवाले को विचार न हो, तो वह ठीक नहीं । जिसमें रजस प्रकृति है, उसमें तो विचार होगा ही । सत्त्वगुणप्रधान प्रकृतिवाले को विचार में समता पैदा होगी । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८७)

* *

हमारे विचार हमारा निर्माण करते हैं अर्थात् अंतर्मुखी और एक ही भावना के एकलीनतायुक्त विचार रहें, यह आवश्यक है । विचारों की शृंखला कभी नहीं जोड़नी है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८७)

* *

जैसे शब्द की आवाज की लहरें वातावरण में फैल जाती हैं, यह वास्तविक्ता है, वैसे ही विचारों की भी लहरें हुआ करती हैं और वह वातावरण में फैलती हैं । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८८)

* *

हमारा यदि कोई प्राणवान चौकीदार हो तो वह हमारी ऊर्ध्वगामी होने की जागृत तमन्ना है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १९८)

* *

मन के **जीव**दशा के भाव से जैसे जैसे अधिक जुड़ेंगे, वैसे-वैसे हमारा **जीव**पना भी अधिक उत्कट बनता जाएगा ।

* *

हृदय की आँख अर्थात् तटस्थता अथवा विवेकदृष्टि ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २०५)

* *

किसी भी प्रकार के ऊर्ध्वगामी पथिक को उसके उत्साह में, भाव में, जोश में, साहस में, हिंमत में और आहुत होने की तमन्ना में किसी भी प्रकार का द्विधाभाव हो, उसके हृदय में उलझन या वैसी हलचल हो ऐसा कुछ हम से नहीं होना चाहिए । किसी भी दृष्टि भेद या मतिभ्रम करने में हमें नहीं पड़ना है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २१४)

* *

जिस परिस्थिति में अपने आप हम पड़ते जाएँगे । उन उन परिस्थितियों का धर्म पालन करते-करते और उसी तरह उसे स्वयं छोड़ते हुए हमें अपने मार्ग पर चलना है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २१६)

* *

आध्यात्मिक मार्ग में– या किसी भी मार्ग में– किसी के पीछे खिंचकर हमें अधिक बल या प्रेरणा नहीं मिलती । यदि हम स्वतंत्ररूप से उसमें पड़ते हैं तो उसमें हमारा अपना बल कार्य करता है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २१८)

* *

युद्ध किया करने से हम में जागृति रहा करती है । जहाँ युद्ध नहीं होता, वहाँ तैयारी भी कुछ नहीं रहती और जागृति भी कुछ नहीं होती ।

* *

हृदय में आये आदरभाव तो जीवन को पलटने और जीवन को नयी गति देने में बहुत आवश्यक होते हैं ।

* *

जो कुछ होता है, वह हम से नहीं हो पाता, पर हम में जो चेतन निहित है, उसके कारण वह सब होता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १३)

* *

साधना यानी **जीव**स्वभाव को पलटने या उल्टाने की ज्ञानपूर्वक की प्रक्रिया । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १४)

* *

यदि विवेक न आये तो वह साधना नहीं । विवेक की भूमिका तो तटस्थता, समता आदि भावों के साथ में है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १७)

* *

जो **जीव** जाग्रत रहता है, वह नीचे गिरने पर भी खड़ा होनेवाला ही है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १८)

* *

भगवान का नाम भूलने पर हमें असह्य वेदना होनी चाहिए ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १९)

* *

भगवान के चरणकमल में ज्ञानभक्तिपूर्वक की संपूर्ण शरणागति हमारे एक एक करण के हो जाने के बाद प्रकृति का दिव्य रूपान्तर हुआ करता है; उसके बिना नहीं । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १९)

* *

मानव के हृदय में जागा सद्‌भाव ही दूसरों में जो उत्तम तत्त्व है, उसे परख डालता है । मूल्य या महत्त्व सद्‌भाव में निहित है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२)

* *

सभी के साथ ज्ञानभक्तिपूर्वक के हृदय का सुमेल बनाये रखने में जीवन की यथार्थता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२-२३)

* *

जीवन को सर्वोमुखी बनाना है, नहीं कि कुएँ के मेढ़क जैसा ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४)

* *

संसार यह जीवन की खुशबू बहलाने के लिए मिली तपश्चर्या की भूमिका है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २५)

* *

जीवन का रस संसार में नहीं, पर अंतर में है । व्यक्ति का ही विस्तार-स्वरूप संसार है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २५)

* *

संसार में दूसरों को तथा दूसरों का कुछ न देखते हुए जो **जीव** मात्र अपना प्रतिबिम्ब उनमें देखकर, वहाँ जिस तरह अपने को सवांरने का सूझता है, वैसे यदि वह अपने को रचनात्मकरूप से सवांरने का किया करें तो संसार जैसी पाठशाला या गुरु दूसरे कहीं भी नहीं मिल सकते । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४)

* *

संसार में संसार की तरह जीने से तो जीवन कूड़े का ढेर हो जाएगा । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २६)

* *

प्रत्येक वृत्ति से अलग रहने और होने का ज्ञानपूर्वक प्रयत्न रखना चाहिए ।

* *

जीवन की भावना को आकार देने के लिए भूमिका की प्रथम आवश्यकता रहती है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २६)

* *

जो भी **जीव** अपनी लाचारी की बात करता है, वैसा **जीव** जीवनविकास के मार्ग में कभी आगे नहीं बढ़ सकता है । जहाँ शक्ति नहीं, वहीं लाचारी और पामरता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २९)

* *

लाचारी होने में तो कोरी नामर्दाई है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २९)

* *

श्रद्धा जिस प्रकार भाव-ज्ञानमूलक है, वैसी ही शक्तिप्रेरक भी है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ३०)

* *

सात्त्विक नम्रता की जीवनविकास के मार्ग में जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता जीवन को सुसज्ज रखने में भी है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ३१)

* *

सच्ची भक्ति पैदा होते ही बुद्धि की सूक्ष्मता व्यक्त होती है । भक्ति में बावलापन नहीं है । भावयुक्त धुन है सही ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ३३)

* *

भक्त किसी से भी नहीं हारता, किसी से भागता नहीं । जो भी आ मिले उसे प्रभुकृपाप्रसादी समझकर उसे वह प्रेमभक्तिभाव से ज्ञानपूर्वक स्वीकार करता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ३४)

* *

अज्ञानमूलक दशा में होता त्याग वह त्याग नहीं, वह तो खाली घिसटने जैसा है, खिंचने जैसा है । उसमें विवशता का भाव होता है । लाचारी की स्थिति होती है । उसमें से क्लेश, संताप, उद्वेग आदि बढ़ते हैं और जीवन चकनाचूर हो जाता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ३६)

* *

हमें अपने से दूसरों को अधिक महत्त्व समझपूर्वक देना है। हमें कोई सही रूप में समझे या नहीं इसकी लेश मात्र भी चिंता किये बिना दूसरों को हमें सही रूप में समझने का सजग प्रयत्न करना है।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ४२)

* *

हमें जिसमें से प्रेरणा प्राप्त करनी है, उसका चेतनात्मक भावपूर्वक भान हमारे आचरण में यदि रखा करें, तो उसका चेतना-स्मरण भी हम में सजग रहता है और हमें बल प्राप्त होता हुआ अनुभव होता है। ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ४३)

* *

सकल सारे कर्म करते हुए हमारे मन को साक्षी होते हुए रहना चाहिए। ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ४६)

* *

जो **जीव** जीवनविकास की भावना को दृढ़ करके मन के सभी भावों को समझकर भावना का विकास करता जाता है और जहाँ नकारात्मक भाव पैदा हो, वहाँ रुककर उसके बहाव में न बहकर तटस्थता से ऐसे भाव को प्रभुकृपा से नकारता है, इन्कार करता है, वैसा **जीव** आज नहीं तो कल जागनेवाला ही है।

('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. ५३)

* *

जीवनविकास साधने के लिए मनोमंथन बहुत आवश्यक अंग है। ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ५९)

* *

अधिक विचार किया करने से आध्यात्मिक मार्ग में नहीं पड़ा जा सकता है। ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ६५)

ध्येय के प्रति अत्यन्त उत्कट अधीरता और उसके साथ-साथ अटूट धीरज रखना चाहिए । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ६६)

* *

तपश्चर्या में कोरी शुष्कता है या मात्र कठोरता है, यह ख्याल गलत है । आनंदपूर्वक और ज्ञान के उद्देश्य से, हृदय के उत्साह से जो तप होता है, उसमें से तो फूल की तरह जीवन में खुशबू पैदा होती है और जीवन भरा-भरा लगता है । तप से तो गुण, शक्ति और ज्ञान पैदा होते हैं । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ६८)

* *

सब कुछ निश्चित लक्षणों से मापें । लक्षणों द्वारा समझने की आदत डालने से कभी भी भ्रम में पड़ने जैसा नहीं होता ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ७०)

* *

आध्यात्मिक मार्ग के रास्ते का अंत नहीं । ज्ञान का विकास तो होता ही जाता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ७२)

* *

हृदय से पैदा हुआ सच्चा पछतावा जीवन को वैसी की वैसी दशा में नहीं पड़े रहने देगा । सच्चे पछतावे से जीवन की गति ऊर्ध्व हो जाती है । ('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. ७५)

* *

हमारे जीवन और मन में जो अन्य उत्पन्न होते हैं, उसका कारण वे दूसरे नहीं पर हम स्वयं ही हैं ।

('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. ७५)

* *

नरम-नरम रुई जैसी भावना से जीवन का कभी निर्माण नहीं हो सकता । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ८०)

* *

हमारे सभी आग्रह, ममता, इच्छा आदि सभी यदि हमें टालने हों, तो बुजुर्गों के कहे अनुसार करने में हमारी सभी मतता, इच्छा, आग्रह, अहम् आदि टालने का एक बड़े से बड़ा साधन बन सकता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ८५)

* *

संयुक्त कुटुंब की भावना को यदि हम सही रूप में समझते हों, तो उसमें से अनेक गुण विकसित करने के मौके प्राप्त हुआ करते हैं । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ८५)

* *

प्रेम की भावना में एक ही पक्ष है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ८७)

* *

साधना जितनी आंतरिक प्रकार की और प्रमाण की है, उतनी ही ऊपरी तौर पर बाहर से व्यावहारिक प्रमाण की भी है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ८८)

* *

जीवन में जब जब किसी की तरफ से कोई सूचन मिले, तब उसके दो हिस्से कर देने चाहिए; उपयोगी और बिनउपयोगी । जो कुछ कहने में आये या सूचित करने में आये और जिसे करने में कोई कहीं गैरलाभ न हो, यानी कि भावना में क्षति न पैदा हो, जिसे करने में कोई विरोध न हो, वैसा तो एकदम स्वीकार करके तुरन्त कर ही देना चाहिए । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ८८)

* *

साधारण रूप से छोटी-छोटी बातों में करने या न करने में मन के आग्रह, ममता, आसक्ति आदि के दर्शन या अभिव्यक्ति हुआ करती है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ८८)

* *

वृत्ति यह शक्तिस्वरूप है, यदि ज्ञानभक्तिपूर्वक उसका उपयोग होता हो तो । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १५६)

* *

वृत्ति से ही वृत्ति का निर्माण होता है । वृत्ति के पैदा हुए बिना कुछ नहीं बनता या नहीं होता । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १५६)

* *

साधनामार्ग के प्रति भावना का अनुशीलन और परिशीलन जीवन में सतत निरन्तर हुए बिना कोई अधिक हस्तक्षेप इसमें नहीं हो सकता । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ९७)

* *

दूसरों के दोष हृदय में बसे तो वहाँ हमें सावधान रहना चाहिए । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ९८)

* *

मन यदि प्रेमभक्ति, भावना के वेग से प्रभुस्मरण में मस्ती के साथ रमा करे तो दूसरे **जीवों** का कुछ अन्यथा रूप से टोकना या दुःखदायक कहना हमें उस रूप से नहीं लगेगा ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ९९)

* *

हमारे में रहा पुरुष यदि जागृत हो जाय तो फिर प्रकृति, प्रकृति होने पर भी और प्रकृति के रूप में स्वयं बहती होने पर भी और प्रकृति प्रकृति के रूप में भाग लेने पर भी, उसमें प्रकृतिपन नहीं रहता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १००)

* *

निराशा में से यदि हमारा मन, बुद्धि, प्राण और अहंकार हमें सचेतन न करते हों तो हमें ऐसी हुई निराशा उस प्राण के प्राकृतिक स्वभाव की है ऐसा समझें । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ११२)

* *

भावना यदि जीवन के निर्माण में योग्य आकार न दे सके तो ऐसी भावना की ऊष्मा यह तो मौसम बिना बरसाद जैसी समझें ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ११६)

* *

कहीं कोई भार या बोझ लगे तो जानना कि कहीं झनझनाहट की भावना है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ११७)

* *

विचार से पैदा हुई समझ अलग है, भावना से पैदा हुई समझ अलग है और व्यवहार से आयी समझ अलग है । विचार, भावना और व्यवहार इन तीनों का सुमेल हमें रखना है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ११९)

* *

दृष्टि, वृत्ति और भाव आकाशगामी होते हुए भी उसके कदम तो वास्तविकता की भूमिका पर होने चाहिए ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ११९)

* *

हमें तो जीवन में प्रेमज्ञानभक्ति की दृढ़ता लानी है और उसी दृढ़ता से जीना है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. ११९)

* *

संसार यह मरुभूमि नहीं; परन्तु साधनामय जीवन जीने के लिए तपोमय भूमिका है । संसार में हमें वृंदावन का अनुभव करना है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १२२-२३)

* *

एक की एक बात में जिस-जिस के विचार बार-बार आया करें तो उसमें **जीव** लिपटा है ऐसा मानना ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १४१)

* *

किसी संतात्मा में जीवनविकास के लिए उसके ज्ञान-भान के साथ यदि खूब मनोभावना जन्म ले रही हो तो उसे आसक्ति न मानें ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १४२)

* *

जिस प्रकार के विषय में मन लगता है, उस प्रकार का मन बनता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १४२)

* *

किसी के भी साथ संघर्ष हो इसका अर्थ तो यह हुआ कि हमारा मन अभी टक्कर का स्पर्श कर सकता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १५५)

* *

जीवन की भावना मिथ्या नहीं है । इसके जैसी ठोस वास्तविकता दूसरे किसी प्रकार के जीवन में नहीं है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १५६)

* *

जो जो हमें **जीव** मय दशा में रखा करते हैं, उन सभी को गुरु की चेतना द्वारा हमें संपूर्ण शुद्ध करते हुए, उनके प्राकृतिक धर्म को बदल बदलकर आधार के एक एक करण में शरणभाव पैदा करना है । ऐसा शरणभाव पैदा होने पर, उसके बाद ही सही आध्यात्मिक मार्ग की चेतना का प्रवाह हमारे आधार में शुरु हुआ होता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १५८-५९)

* *

हम में दुर्गुण हों तो उसे नि:संकोच रूप से स्वीकार करने की जाहिर ताकात पैदा करनी चाहिए । स्वीकार करने से कुछ अंश में हम उन दुर्गुणों से अलग हैं और उनके प्रति हमारी उसे स्वीकार करने की भूमिका नहीं है । विशेष कुछ नहीं तो उसके प्रति अभिरुचि तो है ही नहीं, इसके लिए तो हमारा मन उस प्रकार के विषय में आगे बहता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १६४-६५)

* *

सारा संसार हमें तिरस्कृत करे या मजाक उड़ाये तब भी हमें भगवान के चरणकमल की आसक्ति में सदा मस्त होकर रहना है । संसार और संसार के लोगों का अस्तित्व हमारे मन में बिलकुल गौण हो जाय ऐसा हमें होना है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १७५)

* *

(प्रभु की) लगनी लग जाय यह एक बात है और लगनी लगानी यह दूसरी बात है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १९०)

* *

साधना का परिणाम प्रकृति और स्वभाव का रूपान्तर ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १९३)

* *

जैसे नमक बिना भोजन, वैसे सद्‌भाव बिना की साधना ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. १९६)

* *

जैसे आईने में मुँह देखें और हमारा रूप दीखता है वैसे ही प्रसंग हमें अपना रूप दिखाई देता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २१०)

* *

कोई अपमान करे और उसे ज्ञानपूर्वक यदि पी जाँय और मन से उद्वेलित न होते हों तो वह हमें सबल बनाता है । लाचारी से भोगा हुआ अपमान अधिक निर्बल बनाता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२१-२२)

* *

जहाँ भी अनिष्ट हो उसका सामना करने की वृत्ति से नहीं, परन्तु हमें उस परिस्थिति में जो करना हो वह उसके योग्य धर्म के पालन के लिए क्या करना चाहिए, ऐसा सोचकर उसे करना चाहिए ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२२)

* *

प्राप्त अमृत भी महा सद्‌भाग्य के अभाव से मनुष्य जहर के समान बिगाड़ सकता है और समझदार, विवेकी और बुद्धिशाली **जीव** प्राप्त जहर को भी उसकी मात्रा बनाकर, खा-पचाकर उसमें से शक्ति प्राप्त करता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२३)

* *

जिसे सर्व में से, तिरछे-खड़े सर्व प्रसंगों में से, सुंदर ही देखकर अनुभव करने की कला जीवन में प्राप्त होती है ऐसे **जीव** धन्य हैं ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२३)

* *

अन्यथा विचार आए उनके सामने यदि हमारे में सच्ची समझ जाग गयी होगी तो उसी के अनुसार सामने के विचार निश्चयपूर्वक रखने चाहिए । तभी उन अन्यथा विचारों का जोर टूट पड़ेगा और असर कम होगी । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२५)

* *

नकारात्मक स्थिति की समझ होने पर भी उसमें बहा करना यह तो कोरी पामरता है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२७)

* *

समर्पण किया हो उसके विषय में कुछ भी आगेपीछे के विचार समर्पण करने के पश्चात हमें नहीं आने चाहिए, तो वही योग्य प्रकार का उत्तम समर्पण गिना जाएगा । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २२७-२८)

* *

दलदल में फँसा **जीव** मेहनत करने से तो उल्टा अधिक दलदल में उतरता जाएगा । इसलिए उस समय मेहनत की वहाँ सार्थकता नहीं, परन्तु ऐसे अवसर पर दूसरों की मदद के लिए, जितना जोर हो उतने से, मदद माँगने के लिए आवाज लगाने में सार है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २३१)

* *

दुर्गुण या दोषों का सही भान होना उसका लक्षण तो यह है कि हमें बहुत ही कचौटते, चुभते और साल रहे हों और उनसे मुक्त होने के लिए सक्रिय रचनात्मक उत्कटता प्रकट होती है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २३४)

* *

दुर्गुण या दोष अपने आप रुकते या दूर नहीं हो जाते । वैसा करने के लिए तो उस विषय की उस प्रकार की उत्कट संवेदनशील जागृति दिल में दिल से पैदा हुई होनी चाहिए ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २३६)

* *

विजातीय स्पर्श से संकोच होना वह भी योग्य नहीं, वैसे उसके प्रति का विस्तार होना वह भी योग्य नहीं । सर्वप्रकार की भड़क और फड़क में से मुक्त होना है । शरीर की भड़क मिटानी है, शरीर तो साधन के लिए है ।

सर्व का मूल बीज अपनी प्रकृति है । दूसरे किसी को दोष देना या दूसरों के दोष देखना वह अपनी पामरता और निर्बलता है । हम स्वयं ही विशेष जागृत रहने का प्रयत्न करें और हमें अपने को ही दोष देना है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २३९)

* *

हमारी धारणा के अनुसार और हमारी समझ के अनुसार सब होना चाहिए और वही सच है, इसप्रकार का मानस हो तो वह एक प्रकार की स्वच्छंदता और संकुचितता ही है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४०)

* *

व्यक्त में जैसा है वैसे का वैसा वह अव्यक्त में भी है । पर जो अव्यक्त में है, उसी तरह ही वह व्यक्त में है ऐसा नहीं होता ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४१)

* *

स्थूल में हम कभी चेतन विषयक संपूर्ण सही सजगता एकदम पैदा नहीं कर सकते हैं ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४१)

* *

जो राग हमें स्थूल में चिपकाये न रखे, परन्तु उस राग में से विवेकयुक्त समझ रखकर तटस्थ और समता लाकर बाहर निकाले वह राग उत्तम है । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४२)

* *

संत पुरुष में राग होना यानी हमारे निम्न प्रकृति के मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार को उसकी चेतना के हृदयभाव के साथ मेल बनाये रखना । ('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४२)

* *

सच्ची श्रद्धा सामान्यतः एकदम पैदा नहीं होती । श्रद्धा भी आते आते आती है, तब भी श्रद्धा का मूल गुणधर्म तो सहज है ।

('जीवनमंडाण', आ. ५, पृ. २४२)

* *

भगवान पर श्रद्धा यह तो नगद धन है । जैसे नगद धन द्वारा आवश्यक चीज क्रय कर सकते हैं, वैसे भगवान पर की श्रद्धा प्रसंग आते हम यदि दृढ़ न बना पाए तो यह श्रद्धा वह श्रद्धा नहीं, पर एक प्रकार का खाली दिखावा है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २)

* *

प्राप्त जीवन की परिस्थिति में से नवचेतन और नवजीवन की आशा का अंकुर उगाना और उस प्रकार का पुरुषार्थ जगाना या पुरुषार्थ करने में उसकी सच्ची मनुष्यता निहित है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३)

* *

भागना तो सभी को आता है, परन्तु परिस्थिति के सामने खड़े रहकर, परिस्थिति में मिलजुलकर, उसमें से ऊपर आना, यह विरल वीर आत्मा का काम है। ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३)

* *

किसी की भावना को सहलाना इससे तो उसके जीवन को अधिक दु:खी करने जैसा है। ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३)

* *

किसी के मन को अधिक गुदगुदा बनाने में कदापि मददगार न होवें। परिस्थिति आ पड़ने पर उसमें से जीवन में मर्दानगी आती है, ऐसा कुछ हो सके तो उत्तम सेवा है।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ४)

* *

चेतन का कोई आकार या रूप या गुण कुछ नहीं है। तब भी वह है और वह व्यक्त नहीं होता, तब भी वह व्यक्त होता है।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ५)

* *

बिनाकाम की पंगु भावनाएँ प्रकट करने में जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए। जीवन निर्माण तो ठोस नींव पर तैयार करना है। किसी को भी इसतरह आश्वासन देने का कोई अर्थ नहीं है।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ५)

* *

जीवदशा की गति में चढ़-उतर तो बारबार हुआ करती है।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ६)

* *

जीवदशा के दूसरे किसी प्रकार के पुरुषार्थ में स्थूल प्रकार के लाभ या गैरलाभ दोनों साथ-साथ समाये हैं; जबकि आध्यात्मिक मार्ग के प्रयत्न में मात्र लाभ ही है । गैरलाभ बिलकुल नहीं है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ६)

* *

प्राप्त परिस्थिति से ऊबकर भागना अथवा सदा उससे असंतुष्ट रहा करें और उसका दोषारोपण हमेशा दूसरों पर ही डाला करें और इससे सदा निराश रहें, यह तो पागलपन को निमंत्रण देने जैसा है ।

* *

हमारी इस जन्म की प्रकृति की गति और दिशा जिस प्रकार की हो, उसी प्रकार का हमारा पुनर्जन्म है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ६)

* *

जितने प्रमाण में उत्कट प्रकार की भावना अधिक सात्त्विक, उतने प्रमाण में उसका जन्म पहले होगा ऐसा कुछ अंश में सही है; और आध्यात्मिक मार्ग की जिसे लगनी लगी है, ऐसे **जीव** का जन्म दूसरे प्रकार के **जीवों** से अधिक जल्दी होता है ऐसा अनुभव है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७)

* *

जीव की हरेक दशा में हम पतन की पल में हैं, खाई में हैं या चढ़-उतर की दशा में हैं, उसका उत्कट संवेदनशील भान उस समय यदि **जीव** को हुआ करे, तो पतन की दशा में वह तुरन्त जागृत हो सकता है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७)

* *

हम दूसरी कोई भी प्रवृत्ति कर रहे हों, तब भी हमारा मन तो हमारे असली काम में ही लगा रहता है, उसी तरह जीने की कला साधक को सीखनी पड़ती है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७)

* *

जहाँ तक हमारे होते जाते पुरुषार्थ में हमारा हृदय लगा नहीं है, वहाँ तक हमारा वैसा पुरुषार्थ पूरी तरह फलित नहीं हो सकता है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ९)

* *

जितना समय उत्तम प्रकार की भावना के आचरण में बीत गया, उतना समय हम सही रूप में जीये हैं, कहलाएगा ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १०)

* *

यों भी दुःख सहन तो करना ही पड़ता है । उसके बदले ज्ञानपूर्वक दुःख को स्वीकार करते हुए दुःख सचमुच जीवन के निर्माण के लिए स्वर्णिम अवसर है, ऐसा समझकर, यदि कोई **जीव** उसे अपनाये तो– उसके लिए दुःख तपस्या के समान है; और जो तपस्या में हृदय है, उस प्रकार की तपस्या में तो आनंद, उत्सव निहित है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १२)

* *

संसारी कक्षा के **जीवों** की दया या प्रेम वह दया या प्रेम नहीं, यह तो **जीव**प्रकार की खाली-खाली लोलुपता है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १३)

* *

बुद्धि में भावना का तत्त्व जुड़ने से सही सोचने की आदत और उसका सही गुण अंतर में जागृत टिक नहीं सकता ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १४-१५)

* *

दोष का मनन-चिंतन से दोष का बल अधिक बढ़ता है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १५)

* *

'अच्छे' के प्रति सद्‌भाव जागे, इसमें उसकी कोई कींमत नहीं । पर 'बुरे' के प्रति भी सद्‌भाव जगाकर जागृत करना है । जितनी 'अच्छाई' प्रेरणा दे सकती है, उतनी 'बुराई' भी अवश्य प्रेरणा दे सकती है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २३)

* *

प्रयत्न के साथ-साथ हमें भगवान की कृपा-मदद जब और तब याचना करते रहना है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २१)

* *

बुद्धि यह ज्ञान का करण है और भावनाएँ– सहानुभूति आदि भाव के करण हैं, जीवनविकास के मार्ग में बुद्धि और भाव दोनों की आवश्यकता है ।

* *

यदि हमारी बुद्धि सतेज और सूक्ष्म न होती जा रही हो तो उसमें हमारा हृदय नहीं है ऐसा निश्चित मानें ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २२)

* *

जीवन में संस्कार से विशेष महत्त्व प्रेम का है । प्रेम से भाव का मूल्यांकन जीवन में श्रेष्ठ है । प्रेम के जागे बिना भाव नहीं जाग

सकता । ऐसे भाव के जागने पर हमारे करण उसके राग में रहते हैं; परन्तु ऐसा भाव सहजरूप से जगता नहीं है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २३)

* *

सब कुछ अभ्यास से आता है । अभ्यास बिना साधना में प्राण प्रगट नहीं होता है । अभ्यास दृढ़ होते ही उसमें हृदय भी लगता है और सम्मिलित होता है । अभ्यास से एक प्रकार की पद्धति बनती है । इस पद्धति में एक प्रकार की रुढ़ि हो जाना भी संभव है; इससे अभ्यास में बारबार बुद्धि द्वारा, हृदय की मनोभावनाओं के द्वारा भावनाओं का उद्दीपन बारम्बार करते रहें ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २६)

* *

हृदय की भावना से भगवान की कृपा-मदद के लिए दिन में बारबार प्रार्थना किया करें । नामस्मरण की झलक में भावना का प्रवेश होने दें । हम जीते हैं, किसलिए उसका भी विचार करें ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २७)

* *

हमें हृदय की भावना में लीन रहना है । यही हमारा सही रंग और रस है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २८)

* *

हमारा विचारबल एक ही प्रकार की दिशा में और गति में सतत मनन-चिंतनमय रहा करे और उस भाव का उद्दीपन रहा करे तथा उसका वैसे ही आचरण हुआ करें तो निम्नप्रकार की बुद्धि अवश्य हटने लगेगी और हमारे पुरुषार्थ में हमें आनंद आने लगेगा ।

* *

प्रकृति में रहा चेतन अनेक प्रकार का रूप– नये-नये रूपों को भी धारण करता है । एक होते हुए भी अनेकरूप होता है । हम भी एक होने पर भी अनेक प्रकार के बार-बार हुआ करते हैं और बदला करते हैं । आकार एक भले दिखे पर आकार में प्रकार अलग अलग हुआ करते हैं । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३०)

* *

हमारी प्रार्थना का स्वर दिल में मधुर लगे, तब भाव सविशेषरूप से हैं ऐसा समझें । अत्यन्त कठोर लगे, तब मन का ठिकाना नहीं अथवा तो कुछ घुटन है ऐसा जानें ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३१)

* *

जीवनविकास के लिए साधना यह एकमात्र और अंतिम मार्ग है, ऐसी जिस **जीव** की आत्मप्रतीति है, वह किसी से फिर नहीं घिरता । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३६)

* *

साधक के लिए तो सात्त्विक भूमिका पर का रजोगुण हो तो वह उत्तम है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ४४)

* *

जगत में किसी का नाश नहीं । मात्र फेरबदल हो सकता है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ४८)

* *

जीवन में रचनात्मक गुण हम में सुदृढ़ता से हो यह तो आवश्यक है ही, परन्तु उतने से पूरा नहीं होता । मात्र सदाचार और नीति के माप का जीवन और उसकी भूमिका से मनुष्य को ऐसे कोई आत्मविश्वास

और निष्ठा का जन्म नहीं हो पाता तब भी या जो उसे उसके जीवन संघर्ष की पल में सीधा खड़ा रह सके ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ४९)

* *

ज्ञानपूर्वक का नमन और उसके साथ प्रेमभक्ति का संचार यह हमारी भावना को उन्नत बनाता है ।

* *

हम से जो कुछ हो सके, अच्छा या बुरा, वह ज्ञानपूर्वक और प्रेम-भक्तिपूर्वक समर्पण करते रहने का यज्ञ और उसकी भावना का अभ्यास हमें करते रहना है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ५२)

* *

जिस तरह कोई लगे उस तरह का ही वह है, वैसा कभी भी हम न मानें । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ५३)

* *

उच्चात्मा का, गुरु का आश्रय जीवन के ऊर्ध्वीकरण के लिए अच्छा है । वह साधनरूप है । किन्तु सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम तो केवल भगवान ही हैं ।

हम जहाँ तक **जीव**दशा में है, वहाँ तक हमारे में जो कुछ उत्तमोत्तम है, वह भी चेतन की अपेक्षा में पर्याप्त और योग्य नहीं है ।

जीवदशा में जो भी वृत्ति, मनोभाव हो और वह उत्तम प्रकार के होने पर भी वह बंधनकर्ता है । उदाहरण– पुण्य हो तो भी वह बंधनकर्ता है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ५४-५५)

* *

अनुभव का ज्ञान कोरा नहीं होता । वह तो प्रचलित धन है ।

प्राप्त अनुभव से समझकर, उसका निरीक्षण करके उससे आगे भी बुद्धि जा सकती है; परन्तु बुद्धि को भी अनुभव के आधार की आवश्यकता रहती है ।

मनन चिंतन यदि हुआ करे तो बुद्धि, अनुभव की ठोस भूमिका ऊपर ठोकर मारकर आगे जाने को हमें प्रेरित करती है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ५७)

* *

समझ समझ के भी प्रकार होते हैं । जो समझ हमें ऊँची दिशा की ओर ले जाती है, वह समझ मात्र केवल बुद्धि की नहीं होती ।

बुद्धि ऊँची दिशा का सोच सकती है, पर वहाँ ठहर नहीं सकती । उसकी उड़ान खाली खाली होती है । बुद्धि मदद करती है सही, पर वह अनुभव के जोर पर ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ५७-५८)

* *

जीवन यह अंधा कुँआ नहीं है अथवा तो आँधीतूफान के पवन की तरह उड़नेवाले को जहाँ-तहाँ उड़ाये यह तूफान भी नहीं है । जीवन में कठिन से कठिन परीक्षा में और वैसे प्रसंगों में जीवन की एकसमान बुनावट निरन्तर रूप से बुनता जाता है । इसप्रकार लगातार पट बुनने के लिए जैसे प्रसंगों में **जीव** को रहना पड़ता है वैसे वैसे प्रसंगों में वह रहता जाता है ।

प्रत्येक प्रसंग में जीवन के निर्माण का उद्देश्य है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ६२)

* *

साधना का अर्थ गले में फाँसी देकर जीवन को समाप्त करना नहीं, परन्तु सहज स्वाभाविक रूप से उसका विकास हो और उसी तरह वृत्तिओं का सुमेल हो और उसमें से शांति, समता, तटस्थता, धीरज, सहिष्णुता, प्रसन्नचित्तता आदि गुणों का विकास होता अनुभव होने लगे, उन गुणों की शक्ति का जीवन में आनेवाले प्रसंगों में ज्ञानपूर्वक उपयोग होने लगे और उसके द्वारा जीवन भरा लगने लगे और धन्यता का अनुभव हो, उसका नाम है साधना ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ६६)

* *

भावना वास्तविकता के प्रदेश में व्याप्त रहे, उसके लिए साधना है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७०)

* *

मौनएकांत लेने का उद्देश्य लगनी लगाने का है और साधना में विशेष एकाग्रता, केन्द्रितता प्राप्त हो ऐसा उद्देश्य है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७१)

* *

हमारे अहम् को हो सके उतना समझ समझकर ज्ञानपूर्वक आघात दिया करना है । हमारा माना या कहा न हो, तब मन में विशेष खुश होना है, क्योंकि इसतरह अहम् को धक्का लगता है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७१-७२)

* *

बिना काम के किसी को कोई सूचन न करें । सूचन यह अहम् की संतति है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७२)

* *

जीवन में मानवता के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, उतने में और उसकी मर्यादा में ज्ञान और भक्ति की परिसमाप्ति नहीं होती । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७३)

* *

सद्‌भावना की जागृति होने पर तथा उसके टिकने पर स्थूल में सूक्ष्म के दर्शन होते हैं ।

* *

जीवन की कमाई सद्‌भावना की नींव में निहित है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ७७)

* *

प्रेम से होता हुआ नाश यह उत्तम प्रकार के जीवन का रचनात्मक पहलू है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ८४)

* *

प्रेम जीवन निर्माण हेतु है और उसका साधन है, साथ ही वह साध्य भी है, इसलिए भक्ति से भी प्रेम का स्थान ऊँचा है ।

* *

शरीर की संभाल रखना आवश्यक है; उसकी चिंता करनी पागलपन है; वैसे उसे पुचकारना भी बावलापन है; पर उसकी योग्य देखभाल करना यह हमारा धर्म है ।('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ८५)

* *

भावना की गति से कर्म में चैतन्य उत्पन्न हो तो वह भावना उपयोगी है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ९१)

* *

चेतन का अनुभव करने के लिए विसंवाद में संवाद की दृष्टि को हृदय में जागृत रख हमें आचरण करना है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ९६)

* *

असत्य भी सत्य को प्राप्त करने की भूमिका का साधन है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ९७)

* *

हमें जो भी विचार, वृत्तियाँ, मनोभाव आदि उठा करें, उस पर से हमें अपनी कक्षा की समझ आ जानी चाहिए ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १२१)

* *

मनुष्य के हृदय में एक दूसरे के प्रति अविश्वास लगे, तब भी मूल में तो, अंतर्गत रूप से विश्वास-श्रद्धा रहते ही हैं; जैसे नदी के पट में भले ही पानी सूखा हुआ लगे, परन्तु अंदर ही अंदर पानी तो होता ही है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १२७)

* *

घृणा, दया, लज्जा, भय, शोक, निंदा, कुल-अभिमान तथा शील, स्वभाव और जाति का अभिमान ये सब भी अमुक प्रकार के संकोच हैं । इनमें से मुक्त होना ही चाहिए ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १२९)

* *

जीव से हो उतना सफल पुरुषार्थ कर करके अंतिम दौर तक उसमें संघर्षशील रहें और वैसे सकल उपाय किये होने पर भी कुछ न कर पाये, तब वह प्रभु को मदद के लिए पुकारे । अंत में तो पुरुषार्थ करके उसमें मिटकर-लिप्त हो जाना है, ऐसा होकर उसके सही अर्थ में 'निर्बल' होना है । उसके बाद प्रार्थना करने की कला– '**निर्बल के बल राम**' इसमें से हमें प्राप्त होती है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १८२)

* *

जीवदशावाले तो भेद को बढ़ाने में ही समझते हैं । भेद को अभेद में ले जाना तो कोई विरला वीर **जीव** ही कर सकता है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १८३)

* *

प्रारंभ में और ठीक लंबे काल तक भी साधक का स्वप्रयत्न अनिवार्य है । मूर्ख और अज्ञानी लोग 'सब गुरु ही कर देंगे' ऐसा मानकर कुछ भी करे बिना तमस से प्रेरित हो ऐसे ही पड़े रहते हैं । स्वप्रयत्न में अहंकार न रहे, उसका पूरा ध्यान रखें ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १९१)

* *

जीवन में जो कुछ सारे कर्म अपने अहंकार को पोषित करने अथवा तो ममता, मोह, लोभ, काम, क्रोध, राग, मद, द्वेष, ईर्ष्या, लालसा, कामना, आशा-इच्छा, तृष्णा आदि वृत्तिओं से प्रेरित होकर ही किया करता है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १९५)

* *

तत्काल से किसी पर भी मत, अभिप्राय या समझ नहीं बंधने की जागृति सावधानीपूर्वक रखनी ही चाहिए ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १९९)

* *

जिस-तिस में सिर खपाने की इच्छा हो तो मानना कि वह अहंता है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २०१)

* *

अहंता से मुक्त मनुष्य कैसा होता है वह आँखों के सामने आये उसका व्यक्त लक्षण एक तो यह है कि वह साधारणतः पूरीतरह सज्ञान निराग्रही रहा करता है । ('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २००)

* *

(शरीर की आरोग्यता और सुख पूरीतरह बने रहे उतने प्रमाण में) अल्प आहार, अल्प विहार, अल्प निद्रा, अल्प बोलना, अल्प संबंध, अल्प संपर्क, अल्प व्यवहार, अल्प जाना-आना और मिलना यह सारे मन को संयमित बनाने के लिए बहुत ही सहायक होते हैं । ये सारे 'अल्पता' के प्रकार के पीछे का उद्देश्य तो यह है कि **जीव** को अधिक से अधिक अंतर्मुखता बनाये रखनी है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. १९९-२००)

* *

नम्रता अर्थात् स्वयं कुछ भी नहीं– एकमात्र भगवान ही सब कुछ हैं, ऐसी निष्ठापूर्वक की ज्ञानयुक्त भावना ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २००)

* *

जीव उलझ जाय, सूझता न हो, शरीर से निर्बल पड़ जाय, व्याकुल हो जाय, अशांत हो, दुःखी हो, तो अभी उसमें अहंता भरी हुई है ऐसा जानें, क्योंकि उसकी अहंता को उसप्रकार के आघात लगते हैं, उसीकारण उसे वैसी भावना होती है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २०१)

* *

मैले कपड़ों पर रंग ठीक से नहीं चढ़ पाता है । कपड़े के ठीक रंगने के लिए पहले तो उसमें से मैल निकालना होगा । इसीतरह अंतःकरण, आधार के सभी करणों की शुद्धि के विषय में है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. २०३)

* *

संत को समझने और पहचानने के लिए हमारी आँख, मन, हृदय उस प्रकार के हो गये हों, तो ही उनको पहचान सकते हैं, जान सकते हैं, बाकी तो नहीं ।

* *

कोई भी मनुष्य–आत्मा समग्र रूप से पहचानना लगभग दुर्घट सत्य है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २०५)

* *

जीवन की समस्याओं का समाधान बुद्धि के निर्णय के बदले हृदय से प्राप्त होते हैं, इसके लिए साधक को अंतर्मुखता अधिक से अधिक बनाये रखनी है ।

* *

अंतर्मुखता पूरीतरह से विकसित हुए बिना बुद्धि में समता नहीं आ सकती । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २०९-१०)

* *

सद्‌गुरु की भावना के लायक होना और उनकी पसंदगी में आना अर्थात् जीवनविकास की समग्रता में भी पात्रता बताते रहे ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २२३)

* *

जीवन का निर्माण ऐसे ही नहीं हो जाता । उसके लिए तो हथोड़े के प्रहार भी सहन करने पड़ते हैं, चारों तरफ से तथा ऊपर और नीचे से ठुकना पड़ता है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २२७)

* *

जीवन यदि जीना ही हो तो जीवनविकास के यज्ञ के लिए, जी तोड़ कोशिश पूरी तरह फना हो जाने के लिए जीवन हो तो यह हमारा सद्‌भाग्य है । ऐसे फना होने से ही जीवन में सुगंध पैदा होती है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २३१)

* *

हमें जो मारने आता है, वही अंत में तारकर जाता है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २३२)

* *

जो कुछ **जीव**दशा के भाव का उद्‌भव हो, वह सब हमारे असली स्वरूप का नहीं है, ऐसा प्राणवान प्रत्यक्ष ज्ञानभान रचनात्मक रूप से उस बेला में हम में जाग जाय तो समझें कि समता की प्राप्ति होने लगी है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २३५)

* *

जीवस्वभाव का कोई भी प्रकार का नकारात्मक भाव– इसका नाम भी अशुद्धि कह सकते हैं । शुद्धि यानी मात्र नीति-नियम अनुसार हो इतना ही नहीं ।

* *

नीतिनियम की पद्धति एकमात्र ऐसे विचार से और आचरण से करणों की शुद्धि होती है, ऐसा मानने से कहीं अतिशयोक्ति या तर्क दोष लगता है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २३६)

* *

पुरुषार्थ भी अकेला नहीं और न कृपा ही अकेली है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २३९)

* *

नामस्मरण जब ज्ञानभक्तिपूर्वक की जागृति के साथ हुआ करे, तभी उसमें से हृदय में सही जागृति आ सकती है, एकाग्रता और एकरतता की भावना आ सकती है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २७४)

* *

सद्‌गुरु तो जो **जीव** स्वयं मर मरकर फिर पुनर्जीवन प्राप्त करते रहते हैं, ऐसे **जीवों** पर वे न्योछावर हो जाते हैं ।

* *

जो **जीव** शहादतभरे जीवन की कुरबानी से अपने सद्‌गुरु की भक्ति करता है, जीवन को न्योछावर करके श्रीगुरु के चरणकमल में

आहुतियाँ प्रेम से दिया करता है, ऐसा **जीव** सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त करने के योग्य होता है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २७८)

* *

सद्‌गुरु को हमें हृदय में जागृत करना है । सद्‌गुरु अर्थात् प्रत्यक्ष शरीर की आकृति नहीं, परन्तु उनके हृदय में प्रगट हुई चेतनभावना कि जिसकी मदद लेकर ऊपर आ सकते हैं ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३०६)

* *

साधक को हो सके उतनी शान्ति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता आदि गुणों को, इन सभी गुणों को बहुत ही संभालना है । जीवनविकास की भूमिका बनाने के लिए वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं; परन्तु यदि उसे ही महत्त्व देकर मात्र गुणों को प्राप्त करने संघर्षरत रहें, तो उसका अन्त नहीं आएगा । इससे अच्छा तो हृदय में एकनिष्ठा से चेतन-स्मरण की भावना यदि बना सकें तो वैसे गुण हमारे अंदर आते जा रहे हैं हम अनुभव कर सकेंगे । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २९४)

* *

हारते हुए भी अड़िग रहकर जो प्रभु को प्रेमभक्तिभाव से स्मरण करता है, वही जीवन को प्राप्त करता जाता है ।

* *

जिसे प्रभु बिना जीवन अप्रिय और नीरस लगता है, उसके जीवन में प्रभु स्वयं हृदयरस और शक्ति प्रेरित करते हैं ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३०४)

* *

मुक्त-आत्मा में एक प्रकार का सात्त्विक 'हुंकार' हो सकता है; परन्तु वह 'हुंकार' का प्रकार और **जीव**दशावाले के 'हुंकार' का

प्रकार, यह दोनों के प्रकार में मूलभूत अंतर है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३३२)

* *

श्री (धन), सत्ता और कामवासना– इन तीनों **जीव** को **जीव**पन में रखनेवाले प्रखर अवरोध हैं ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३३२)

* *

जीवनविकास की साधना में इसप्रकार की स्थिति आती है कि जिसमें साधना के लिए ज्ञानभक्तिपूर्वक धारण की गई नम्रता स्वयं ही तेजस्विता में आती है, एक शक्ति स्वरूप में पलटती है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३३४)

* *

सच्चे हृदय की नम्रता वह भेड़ जैसी नहीं होती; उसमें तो अग्नि का प्रचंड तेज और शक्ति भी होती है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३३४)

* *

आदर्श की परछाई के अनुभव में कितने ही **जीव** अपने मूल आदर्श का ही वह अनुभव है, ऐसा मानकर उसमें संतोष प्राप्त कर लेते हैं ।

आदर्श की संपूर्णता के शिखर पर पहुँचते-पहुँचते तो आदर्श का स्वरूप भी विस्तार और विशालता प्राप्त करता जाता है और आदर्श की रूपरेखा भी बदलती जाती है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३४०-४१)

* *

आदर्श को प्राप्त करते करते आदर्श स्वयं ही एक के बाद एक उसकी उत्कृष्टता में परिवर्तित होता जाता है ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३४१)

* *

जिसके जीवन में किसी उच्च आदर्श की आग जलती ही न हो, वैसे **जीव** दूसरे को कहने और सुधारने जैसा नहीं होता ।

('जीवनसोपान', आ. ५, पृ. ३४२)

* *

संसार में सब है और ऐसा का ऐसे ही चलता रहेगा । कितने ही सुधारक हो गये, कितने ही महात्मा हो गये, कई संत और सद्‌गुरु हो गये और साक्षात् भगवान के अवतार भी हो गये, तब भी हम सभी जैसे थे वैसे के वैसे हैं; इसलिए सभी का और संसार का विचार करना छोड़कर हमीं यदि व्यवस्थित सही ढंग से हृदय की सच्चाई से करने लगेंगे, तो कुछ होनेवाला है; बाकी संसार में तो सभी दिखेगा ही । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ४)

* *

साधक को अपनी आदत, मंतव्य, समझ, आग्रह, मतमतांतर, दोष, खराब आदत, आशा, इच्छा, कामना, तृष्णा, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर इत्यादि का स्वीकार करना है, पर वह स्वीकार उनमें से भी पर होने के लिए है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६)

* *

मनुष्य जो देखता है, सुनता है या जानता है, वह अपने ढंग से और वह भी समग्रता में तो नहीं ही; इससे उसके वैसे कार्य में यथार्थता पूरीतरह कभी नहीं आ सकती । ऐसी अधूरी जानकारी तथा

अधूरी दृष्टि एवं श्रवण द्वारा न्याय-अन्याय के बाट को लेकर तौलना और मापने बैठ जाना यह जरा भी समझदारीभरा नहीं है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ८)

* *

मन में जो मनोमंथन हो, उसमें से जीवन में योग्य परिवर्तन आये, ऐसी ठोस भावना बनी रहे, तो वैसा मनोमंथन योग्य प्रकार का समझें; बाकी तो मन बिना काम की तरंग में चढ़कर जीवन को गिरा भी सकता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ९)

* *

भाव बिना का कर्म और वह भी यदि जीवनविकास के प्रति लक्ष्यवाला न हो तो वह कर्म भले ही उत्तम हो, तब भी वह कर्म बंधन ही है ।

कर्म करते-करते जो भाव महत्त्वपूर्ण, ज्ञानभक्तिपूर्वक हृदय में जागृत बने होते हैं, उसी अनुसार ही कर्म के संस्कार और परिणाम आएँगे ।

हर किसी में भाव ही मुख्य वस्तु है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ९-१०)

* *

चिंता तो कभी न करें; पर चिंतन करें ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०)

* *

अभ्यास भी उपयोग के लिए ही करना होता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १२)

साधना अर्थात् जीवनविकास के लिए पल-पल की ज्ञानभक्तिपूर्वक की अंतर में अंतर की चेतनायुक्त जागृति ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५)

* *

जिसका मुख जिस तरफ मुड़ा होता है, उस ओर के अनुसार ही वह सब उसे दीखता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १६)

* *

संसार में रुचि रहती होगी तो संसारी बनोगे; प्रभु में रुचि रहती होगी तो प्रभुमय बनोगे । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १६)

* *

ढेर सारा काम हो, कैसा भी विषम प्रसंग हो, कितना भी भयानक दर्द हो, चाहे कुछ भी उल्टा-सीधा आड़ाटेढ़ा हो, उस समय यदि हम हृदय में हृदय से प्रभु को प्रेमभक्तिपूर्वक आवाज लगाएँगे और प्रार्थना करेंगे तो उस समय वह हृदय में प्रगट होता है, ऐसा अनुभव होता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १७)

* *

सद्गुरु की स्थूल निकटता प्राप्त करने का मन हो, परन्तु उससे अच्छा अपने हृदय में उसे जिंदा करने की कला साधक को सीखनी और बनाये रखनी है । मात्र स्थूल ढंग की निकटता वह सच्ची निकटता नहीं । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १७)

* *

भावना को निश्चित स्वरूप की भावना में अधिक से अधिक उत्कट कर उसकी मदद से हृदय में अपने सद्गुरु को मिलने में जो आनंद है, वह सच्चा आनंद है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १८)

* *

कोई कहीं अवरोध रूप नहीं; यदि हैं तो स्वयं ही अपने को अवरोध रूप हैं । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. २०)

* *

चोर-डाकू हम पर चाकू चलाते हैं चोरी करने या लूटने के लिए; सर्जन (शस्त्र-वैद्य) हम पर चाकू चलाते हैं तंदुरुस्त करने या जीने के लिए; दोनों कार्यों में क्रिया एक ही प्रकार की है, पर हेतु और भाव में मूल रूप से अंतर है; इससे क्रिया और कर्म का महत्त्व नहीं । परन्तु उसके पीछे के अंतर के भाव का ही महत्त्व है । डाकू का चाकू **जीव** की **जीव** प्रकार की इन्द्रियों का साधन है; सर्जन का चाकू जागृत आत्मा का है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. २१-२२)

* *

व्याकुल होने से उल्टा **जीव** के सामने जिस कारण वह व्याकुल होता है, वही अधिक बार आकर खड़ा रहता है और इससे ऐसी व्याकुलता का समय उल्टा अधिक बढ़ता जाता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. २३)

* *

जीवन में उच्च गति में बने रहना है, ऐसी भावना आना यह दुर्लभ घटना है; और उसमें भी सत्पुरुष का आश्रय अंतर की प्रेमभक्ति और ज्ञानभाव के साथ जागृत रहकर अपने आंतरिक विकास की समझ की कक्षा से हृदय में पैदा होता रहे वह तो इससे भी दुर्लभ है; और इससे भी अधिक दुर्घट तो सत्पुरुष के हृदय को समझना और अनुभव करना है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३०)

* *

प्रार्थना की भी हमें गरज होनी चाहिए । उसके बिना प्रार्थना के भाव में सच्चा उठाव नहीं आ सकता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३३)

* *

जीवन में प्रसंग आते हैं तो टुकड़ों में, उन सभी प्रसंगों को पिरोकर एक प्रकार की अटूटता और समग्रता उन प्रसंगों के अंतर में रही है और वह भावी की ओर ले जाती है । जीवन छिन्नभिन्न नहीं; अविच्छिन्न रूप से एक है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३३-३४)

* *

वर्तमान के हमारे दिखाई देते जीवन के पीछे और आगे भी एक परम्परा है । यह परम्परा अनादि है, वैसा होने पर भी उसमें चेतन होने से चेतन का ज्ञानभान प्रगट हो जाय तो वह अंतिम भी हो सकती है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३४)

* *

कितनों का कथन या लेखन उनके बहुश्रुतपन से प्रगट होता है, पठन में से प्रगट होता है, सुनी हुई बातों में से भी प्रगट होता है; परन्तु कोई विरल ही आत्मा का अनुभव से प्रगट होता है । अनुभव के कथन के पीछे आत्मविश्वास का उत्साहभरा चेतन निहित है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३३-३४)

* *

श्रद्धायुक्त **जीव** कभी यदि डूबे तो भी आत्मविश्वास कभी नहीं खोता । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३५)

* *

जिस उद्देश्य से व्रत लिया हो, वह उद्देश्य या उसका भाव यदि लाते रहें तो स्थूल रूप में कभी व्रत का भंग करना पड़े, तब भी सचमुच में उस व्रत का भंग नहीं होता ।

कर्म के पीछे कर्म को महत्त्व न देकर कर्म के उद्देश्य को यदि महत्त्व दिया करें और उसे करते समय उसके प्रति उस प्रकार की भावना हृदय में यदि रहा करे तो वह अति उत्तम होगा ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३६)

* *

चिढ़ने और व्याकुल होने से तो उल्टा गाँठ का गोपीचंदन खोना पड़ता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३७)

* *

जहाँ जहाँ भेद लगे वहाँ वहाँ जीवन की मृत्यु है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३९)

* *

सद्‌गुरु तो सर्वत्र जहाँ-तहाँ विस्तारित हैं । हमारे मन हृदय का लक्ष्य यदि उसमें पल-पल प्रेमभक्तिज्ञानभाव से एकाग्र, केन्द्रित और तादात्म्यभावमय रहा करता होगा तो हमें जो कुछ भी स्पर्श करेगा उनमें से वह बोध प्राप्त कराता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ३९)

* *

कभी लुढ़क पड़ें या खिंच जाँय उसे महत्त्व न दें; परन्तु उस अवसर में मन की जागृति किस प्रकार की रहती है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ४०)

* *

सद्‌गुरु भी साधन हैं, साध्य नहीं । नदी पार करने के लिए नौका रूप या मंजिल पर चढ़ने की सीढ़ी जैसे हैं ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ४१)

* *

'अर्ध सत्य में हमेशा सत्य का खून होता है' ऐसा मानने में हमारी समझ अधकच्ची है। सकल कहीं कर्म में उसके पीछे अंतर्गतरूप से खेल रहे भाव और उद्देश्य मुख्य रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं।

कहीं किसी का ढाँचा न बनायें। समझ का भी यदि ढाँचा बन गया तो वह बाधक सिद्ध होगा। ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ४४, ४६)

* *

हमारे हृदय में ज्ञानभक्तिपूर्वक का जागृत सद्भाव वह हमारा परम रक्षक है। ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ४७)

* *

चेतना के अनुभव की माँग है– कड़ी ज्ञानभक्तिपूर्वक तपस्या और कठिन साधना। ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ४८)

* *

आंतरिक शुद्धि हुआ करे या रहा करे तो वह अच्छा साधक, यदि जागृति न रखा करे तो वह नहीं बन सकता।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ४९)

* *

जप यह जितना बाह्य प्रकार का है, उसके साथ ही वह आंतरिक प्रकार का भी है। जप-यज्ञ की भावना और उसमें रहे निरन्तर रूप से आंतरिक बल प्रगट होते हुए अनुभव कर सकते हैं। जप-यज्ञ जारी रहेंगे तो नकारात्मक वृत्तिओं का इन्कार करना, उसका समझपूर्वक सामना करना आदि सब सूझा करेंगे।

जिस **जीवात्मा** का अहम् मिट गया है, उसे कहीं विरोध नहीं होता, बल्कि विरोध होता ही नहीं।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ५४-५५)

* *

कोई भी **जीव** किसी भी प्रकार का हो और उसका व्यवहार प्रत्यक्ष रूप में अधम से अधम हो, तब भी हमें तो उसमें सद्‌भाव रखना है, यह हमारे लिए उत्तम प्रकार की शिक्षा है ।

कोई हमारे विषय में कैसा भी माने, सोचे या व्यवहार करे तब भी हमें उसके विषय में उत्तमोत्तम सोचना, व्यवहार करना है, यह हमारे अपने जीवनविकास के लिए एक बड़े महत्त्व की तालीम है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ५६)

* *

भाव को उसकी उत्कटता में सघन होना यह कर्म से होता है । कर्म का महत्त्व भाव के कारण है ।

ज्ञान क्रिया में प्रत्यक्ष हुए बिना मोक्ष नहीं ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६२)

* *

आत्मनिवेदन अर्थात् हमें चेतन के भाव से जोड़नेवाली कोई दिव्य साँकल । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६२)

* *

साधक यानी जीवनविकास के पथ पर चलनेवाला निरन्तर भावभक्तियुक्त जागृति रखकर संघर्षशील **जीवात्मा** ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६३)

* *

यदि **जीव** अपनी निम्न प्रकृति को ध्यान में लेगा तो उसका जोर बढ़ेगा । विजय तो सामना करने और युद्ध करने में है । परिणाम जो भी हो । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६५)

* *

जिस-तिस में से जीवन के लक्ष्य को अधिक प्रोत्साहन मिले ऐसी किसी अगम्य प्रकार की अंतर्दृष्टि हमारे में जागनी चाहिए ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६६)

* *

जीव हारता हुआ भले ही लगे, पर यदि वह अपनी अंतर्दृष्टि खुली रखा करेगा, उसमें से जीत प्राप्त कर सीखने का हृदय में पक्का लक्ष्य रखा करे तो वैसा **जीव** हारते हुए भी जीवित रह सकता है । स्थिर खड़ा रह सकता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६७)

* *

साधक सही रूप से साधना में **जीव** लगाने लग गया होगा तो अपनी प्रकृति के ही अनेक सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम आक्रमण उस पर हुआ करेंगे । सामने **जीव** की प्रकृति द्वारा उसकी अपनी ही प्रकृति मानो कि आक्रमण करने को तैयार न हो रही हो, ऐसे भी सूक्ष्म अनुभव यदि साधक जागृत रहा होगा तो होंगे ही ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६७)

* *

स्वयं किसी तरह यदि यहाँ-वहाँ उल्टे सीधे हुए और अपने अंतर के लक्ष्य से चूके तो हम प्रकृति के खेल में अवश्य फँस जाएँगे । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ६८)

* *

विकास का मूलभूत सिद्धान्त घर्षण में रहा है । घर्षण बिना तो मनुष्य जैसा का तैसा पड़ा रहेगा । अंतर्मुखी के लिए घर्षण यह तो तेजस्विता को जीवंत रखने के लिए सही साधन है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ७०)

* *

हमें सावधान करने के अनेक प्रसंग भगवान जीवन में देते हैं । अनेक बार कठिनाई में डाल देते हैं । सही रूप में उसमें रखने जैसा कुछ नहीं है । हमारी प्रकृति हमें वैसी दशा में रख देती है; परन्तु ऐसे प्रसंगों में अपनी प्रकृति का जो सही दर्शन हो, अनुभव हो, उसमें से जो **जीव** बोध लेता है उसे तो—

''प्रभु ! तेरी पाठशाला जगतभर में व्याप्त है ।'' ऐसा आंतरिक ज्ञान प्राप्त होगा । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ७१)

* *

किसी ने अन्याय किया हो तो उसका स्मरण भी न रहे, इतना ही नहीं, परन्तु उस पर उपकार करने की भावना प्रत्यक्ष जागृत रह सके, ऐसा साधक को अपने विषय में करना चाहिए ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ७३)

* *

जो भगवान के लिए आतुर रहता है और उसकी आतुरता में जिसका हृदय द्रवित हुआ है, उसके जीवन के सभी प्रसंगों में उसका भगवान नवनिर्माण लाता है ।

जिसे जीवनविकास करना है, उसे वैसी नींव का आधार अपने जीवन में बनाना होता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ७४)

* *

वर्तमान में रहते हुए भूतकाल में बार-बार न झाँके, यह साधक के लिए बहुत आवश्यक है । वर्तमान को ही संभालकर सुरक्षित कर लें, उसमें उज्ज्वल भविष्य खड़ा कर देना चाहिए ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ७६)

* *

प्रत्येक **जीव**प्रकृति में कुतूहलवृत्ति विद्यमान है; वह हम में से समूल जानी चाहिए । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ७८)

* *

साधक को प्रकृति जीतनी है, इतना ही नहीं, परन्तु प्रकृति से भी पर होना है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ७९)

* *

भूलचूक से भी किसी को हम शर्मिंदा न करें । ऐसी शर्मिंदगी स्वयं ज्ञानपूर्वक मोल लें । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ८१)

* *

कोई जानबूझकर हम पर दोषारोपण करे या दूसरे ढंग से अन्यथा करे तो शीघ्र ही उसका खुलासा देने को मन तैयार हो जाय तो वह योग्य नहीं । साधक **जीव** को ऐसे तो अपने बचाव की वृत्ति भी छोड़ देनी होगी । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ८१)

* *

यदि कोई भी एक **जीव** के साथ हृदय का सच्चा सुमेल हो सका है तो दूसरे **जीव** के साथ भी अवश्य सुमेल साधा जा सकता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ८२)

* *

सीखने के लिए तो अति ज्ञानपूर्वक नम्र होने की आवश्यकता रहती है । ऐसी नम्रता जीवन में आते ही दूसरे गुणों की जागृति और शक्ति भी प्रगट होती जाती है; इससे साधना में तो शून्य से भी शून्य हुए बिना हमारे में सच्चा तत्त्वज्ञान उगनेवाला नहीं है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ८३)

* *

जीवन तो एक और समग्र है । जीवन में अनेक घटनाएँ होती हैं; फिर वे भूतकाल की हों या वर्तमान की हों, पर वे जीवन के साथ लगातार जुड़ी रहती हैं । जीवन यह कोई बंधा पानी नहीं । यह तो बहता गतिमान झरना है । मूल और मुख दोनों के बीच स्थल और काल का बहुत अंतर होने पर भी जीवन के प्रवाह की गति से दोनों एकदूसरे के साथ जुड़े रहते हैं । मूल और मुख दोनों अलग दिखने पर भी, दोनों की दिशा अलग-अलग होने पर भी, दोनों का उस स्थिति में कद अलग होने पर भी जीवन तो वही का वही है । केवल उसमें अनेक मोड़ और स्थिति में परिवर्तन हुआ करते हैं; परन्तु इससे उसकी निरन्तरता या समग्रता टूटती नहीं है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ८८-८९)

* *

आकर्षण का उपयोग जीवनविकास के लिए है ।

* *

संसारव्यवहार में सभी **जीव** एक दूसरे को एकदम सलाह, सूचना और शिक्षा देने को तैयार हो जाते हैं । ऐसे प्रसंग में हम आ जाँय, तब हमें शांति धारण करके उसके कहे मर्म को समझकर सही अर्थ निकालना है; परन्तु हमें स्वयं तो किसी को भी सलाह, सूचना या शिक्षा देने नहीं कूदना चाहिए । संभव हो माँगने पर भी ना कहें ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. ९९)

* *

किसी का भी अपने-अपने ढंग से प्यारा होते जाना यह तो मूर्खता है । इससे तो खड्डे में गिरेंगे, ज्ञानपूर्वक दूसरों को सानुकूल होकर व्यवहार करें यह दूसरी बात है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १००)

दोष से जो **जीव** जागे और जागकर जागे अनुसार आचरण करे उसे दोष नहीं लगता । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १००)

* *

किसी भी जीवन का मूल्यांकन उस **जीव** से हुए दोषों से कैसे मापा जा सकता है ? मनुष्य **जीव**दशा में हो, वहाँ तक दोष तो होंगे; परन्तु यदि जीवन की टेक हम में जागी होगी तो चेत जाने में देर नहीं लगती । दोष से मनुष्य कितना सीखता है और उस दोष को जीवनविकासक तत्त्व में कितना पलट सकता है, यही अति महत्त्वपूर्ण है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०१)

* *

जो जीव दुःख में सुख देखता है और सुख में दुःख जुड़ा देखता है, ऐसा **जीव** उस दोनों में से अलग पड़ ही जाएगा ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०२)

* *

संसार लगता है तो रहँट के घड़ों की माला जैसा; परन्तु रहँट मात्र नहीं, अनंत विस्तार की विविधतापूर्वक की यह दिव्य लीला है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०२)

* *

जो कुछ भी होता है, वह तो चेतन की शक्ति से । परन्तु वह सभी होते हुए पल में वह चेतन से होता है, ऐसा प्रकट स्मरण और अनुभव **जीव** को नहीं होता; इसी से तो **जीव** उसी में बंधता जाता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०२-०३)

* *

अच्छा और खराब यह भी **जीव**प्रकार के दो पहलू हैं; इन दोनों पहलुओं में से चेतकर अलग हो जाना चाहिए । ऐसा अभ्यास यह भी साधना का एक अंग है ।

भले ही हम गलत ढंगसे अन्याय का भोग बने हों, तब भी अन्याय को जरा भी स्पर्श न करें तो मन त्रास, ऊब, संताप कदापि नहीं पाता । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०५-०६)

* *

वाणी द्वारा जागृत रूप से विवेक बनाये रखना है । क्यों, कितना, कैसे, क्या, कब, किस तरह कहना यह कला हमारे में आनी चाहिए । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०५)

* *

जो सत्य है उसे वैसे का वैसा जहाँ-तहाँ हमेशा कह देना बुद्धिमानी नहीं है । उसे वैसा न कहने की अपेक्षा या न करने पर असत्य होता है ऐसा हमें लगता है, पर अचूक हरेक प्रसंग में वैसा मानना योग्य भी नहीं है ।

सामनेवाले का दोष जानते हुए भी हम ज्ञानयुक्त अनजान हैं, इसतरह आचरण करना यह जैसे-तैसे **जीव** का काम नहीं ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०६)

* *

अन्याय को सहन कर लेने के भाव की जगह जीवनविकास के गुणों को प्रेमपूर्वक बनाये रखने के लिए उसे स्वीकार करने की कला हमें सीखनी है । अन्याय का स्वीकार इसतरह करें कि जिससे हम उठें और अन्याय करनेवाले के जीवन में उस विषय का सच्चा ज्ञान पैदा हो और वह सच्ची समझ की कक्षा में प्रवेश करे । अन्याय स्वीकार करने की कला में से त्याग, बलिदान और समर्पण की कला अपनेआप जीवन में व्यक्त होती है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १०७)

* *

जो दुःख समझ की दृष्टि पैदा करे, वह दुःख तो ज्ञान का मूल कहलाएगा । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १०८)

* *

कोई हमारा दोष बतलाये, उसे सच्चा गुरु मानें । कोई कमी बताये तो उस पर अधिक खुश हों । उस समय हृदय में उल्लास हो तो हम सच्चे साधक हैं ऐसा मानें, दोष अंकित करनेवाले के गुणगान गायें । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १३७)

* *

मन की दुविधावाली स्थिति में मौन साधन आवश्यक भले ही हो परन्तु वह भी पर्याप्त नहीं है । ऐसी स्थिति टालने के उपाय लेने में सतत जागृति रखें तथा उस स्थिति का समय जितना छोटा हो सके वैसा करें तो बहुत कमाएँगे । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १३८-३९)

* *

जीवनविकास के लिए योग्य संबंध बनें और बढ़ने पर **जीव** की कदर हो उसकी कम से कम आशा रखें, वह उसके लिए अधिक योग्य है । जिस **जीव** को अपना विकास करना है, उस **जीव** के मन को प्रशंसा सुनने की स्थिति में न आना पड़े उतना अधिक उत्तम । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १३९)

* *

अभ्यास के मूल में यदि सचमुच का वैराग्य आ गया हो तो वैसा अभ्यास जल्दी फलेगा; नहीं तो अभ्यास अकेले-अकेले हुआ करेगा और निरन्तर, तो उसमें से भी वैराग्य आ सकता है । इसलिए हमें तो धीरज और हिंमत रखकर जो किया करना है, वह किया करें । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १४१)

* *

तुरई की बेल गर्मियों में खिलती है, इसीतरह सचमुच का साधक तो जीवनसंग्राम का रसिक बनता है । कठिनाई, उपाधि, दुःख, निराशा आदि जीवन में आने से कोई और प्रकार का सलीक़ा और जुनून आता है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १४२)

* *

समाज की प्रथा से भिन्न चलनेवाले **जीव** समाज और कितनी ही बार तो परिवार का प्रेम एवं सहानुभूति भी खो बैठते हैं । वे अकेले पड़ जाते हैं । उनके प्रति हमारा धर्म तो हृदय की प्रेमपूर्वक भावना से पूरीतरह मानसिक उदारता अपनाकर उनके साथ समभाव रखना है और संभव हो वहाँ सक्रिय रूप से भी ।

समाज की दृढ़ निष्प्राण हो गयी परम्परा को तोड़ने के लिए ऐसे प्रसंग तो हमारी आँख खोल देते हैं । समाज ऐसे **जीवों** को दुतकारके या अवगणना करके वे अपने सत्त्व को ही खोता हैं ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १४६-४८)

* *

स्वच्छंद और भूल से टकरा गये **जीव** की उल्टी अधिक देखभाल करनी है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १४९)

* *

धर्म की सच्ची भावना के प्राकट्य से तो हृदय की उदारता और विशालता अधिक से अधिक होगी ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १४७)

* *

सहन करना और गम खाना वह अच्छा है; परन्तु मन में उस विषय में कचौटन न रहे और मन में घुमड़ता रहे, तो वह बहुत खराब । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १४९)

* *

जीवन में 'दूसरे' को मानने से ही सारी पीड़ा पैदा होती है । जीवन में एक हम और दूसरा कोई होता तो वह हमारा रंगीला नटवर, आघात लगानेवाला भी वह है और उसमें से जीवन में प्रेरित करनेवाला भी वही है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १६६-६७)

* *

मनुष्य का सच्चा जोश तो वह जब विरोधी या मुठभेड़, संघर्ष, अवसर पर घिर जाता है, तब परीक्षा होती है ।

('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १३०)

* *

समुद्र में दौड़ लगाने का साहस, हिंमत करेंगे तो रखनेवाला तो राम है । वह तारे तब भी भला और डुबाये तब भी भला । उसके तारने और डुबाने में भी हमारा कल्याण होता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १३१)

* *

जीवन का सच्चा आनंद तो सभी स्थिति में जीवित रहे और जीवित रहे उसी का नाम आनंद है ।

आशा-निराशा यह तो मात्र प्रभुभावना की अतुल और अपार समुद्र पर की लहरियाँ हैं । समुद्र की गंभीरता या महत्ता इससे कम नहीं होती । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १७४-८१)

* *

दूसरे सभी प्रकार की वृत्ति की अपेक्षा भगवान के भाव की ही वृत्ति उठा करे वही जीवन का सच्चा कल्याण है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १८२)

* *

जगत में किसी का स्थूल दिया या लिया लंबा नहीं टिकता; परन्तु वह कर्म द्वारा हृदय में जो प्रेम उत्पन्न होता है, वह तो सदा जीवित रहता है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १८२)

* *

जीवन के धर्म-पालन में अधिकार अपनेआप समा जाते हैं ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १४३)

* *

श्रीभगवान की भावना का अनुशीलन और परिशीलन प्रारंभ में नाममात्र का हुआ करता है; पर उसमें से काम का वह हो सकता है । उस भावना को सर्व कर्म में जागृतिपूर्वक जोड़ने का सहज रूप से अभ्यास होता रहता है, इसका नाम सच्ची साधना ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १८६)

* *

यमुना (मन) की गति हमें उलटानी है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५०)

* *

चेतनभाव का सातत्य अखंड रहे वह जप है । मन को चेतन के प्रति सद्‌भाव से जिस तरह प्रेरित रख सकें वह जपयज्ञ ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५०)

* *

मन का सहज स्वभाव तो संकल्पविकल्प का है । यह उसका सहज लक्षण है । उसे तप से स्थिर करना है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५०)

* *

मनुष्य **जीव** भटकते-कूटते प्रकृति में प्रकृति का विकास करता है सही, परन्तु वह विकास अज्ञानमूलक रहता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५१)

* *

जीवन की आंतरिक चेतनाशक्ति को मार्ग देने जीवन में सारे संयोग मिलते हैं । ये संजोग भले कर्म के निमित्त हों, पर उनका आंतरिक उद्देश्य तो जीवन को फलदायी बनाने का होता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५४)

* *

मौन-एकान्त की साधना में अनुष्ठानों से **जीव** एकदम कोई **शिव** नहीं हो जाता, पर उसमें से **शिव** होने की संभावना होती है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५५)

* *

आध्यात्मिक जीवन के कितने ही लक्षणों में सूक्ष्म, सात्त्विक विनोद भी— जो हम लोगों में कम मात्रा में है वह— एक लक्षण गिनना चाहिए । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५६)

* *

भगवान के भाव को समग्र रूप से, सर्वभाव से प्राप्त करना, अनुभव करना और उसके सारे पहलुओं का हल अनुभव से हो जाने, पर उसकी संपूर्णता को कितना पाया जा सकता है, वह तो एक प्रभु जानें !

सत्संग का सेवन यदि जीवनविकास की दहकती भूख के कारण हो जाय, और अंतर के ऐसे सुषुप्त रहे हुए मात्र संस्कार द्वारा यदि होता जाय, इन दोनों प्रकारों में बहुत अंतर है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १५८)

* *

जो कुछ वृत्ति सामान्य रूप से उठती है, वह गति तो करती ही है । वह बंधी हुई नहीं रहती । परन्तु ऊर्ध्वगामी जीवन की सद्वृत्ति में मनुष्य **जीव** प्राणचेतना डाले बिना वह गति में नहीं आ सकती । इसीसे ही प्रभुकृपा से प्रेरित हो **जीव** को प्रार्थना भाव से पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है ।

ध्येय पसंद हो, रुचे यह एक बात है और उसमें दृढ़ात्कम रूप से अच्छा अवसर आता जाय वह बात फिर अलग है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १६४)

* *

कोई भी संत या गुरु चमत्कार या जादू से कोई भी **जीव** में भगवान का भाव एकदम तत्क्षण नहीं ला सकता; ऐसी संभावना भी नहीं । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १६८)

* *

हमारे हिस्से में आया कर्म अहंता-ममता से दूर रहकर भगवान-प्रीत्यर्थ करते हो जाँए और वापिस **उसके** ही चरणकमल में समर्पण करने का चेतनात्मक अभ्यास करें, तो ही भगवान की कृपा या **उसकी** लीला– यह सब सत्य है कि मात्र गप्प है, यह हमें हृदय में हृदय से समझ आएगी । साधना किये करने में ही जिसे आत्मप्रसन्नता और आत्मसंतोष है, ऐसों को वह कब फलेगा, आज या कल ऐसा प्रश्न नहीं उठता; और मानो कि उठे या उठते हो तो वह उलझन में नहीं डालते हैं । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १६८-१७२)

* *

प्रत्येक कर्म यदि कोई न कोई सीखने की जागृत हेतु के ज्ञान से हुआ करे, तो फिर कर्म यह मानसिक भूमिका को शिक्षा देने की एक प्रयोगशाला ही गिनी जाएगी । वहाँ कर्म का महत्त्व नहीं रहता, परन्तु मानसिक तुला को ज्ञान का अनुभव शिक्षा देने के लिए कर्म तो मात्र साधन है । इसलिए अधिक महत्त्व वहाँ मानसिक तुला को शिक्षण देने का होना चाहिए । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १७४)

* *

यह संसार या जगत मिथ्या नहीं लगता । यह सब सहेतुकता के साथ वास्तविक है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १७७)

* *

अमुक ही संपूर्ण सनातन सत्य हैं, उनके सिवाय दूसरा कुछ सत्य नहीं, ऐसी दृढ़ गाँठ कभी न बाँधे । जिस समय समाज को जैसी और जितनी आवश्यकता होती है, उसी तरह वैसी महान आत्माएँ कालपुरुष रूप में ज्ञानभाव से प्रवर्तमान हुआ करते हैं । इसलिए वह काम उसी काल तक ही और उस काल के समाज सीमित उस काल में पूरा सत्य होता है । काल के अनुसार सत्य का स्वरूप भी बदलता रहता है ।

शास्त्र का शब्द, महापुरुष का शब्द और अनुभव का शब्द उसकी ऐसी एकवाक्यता पैदा हो वह अति उत्तम है, चेतन में प्रकट हुई आत्मा का कहना– कथन करना यह ज्ञानभावयुक्त होने पर भी हर काल के अनुसार उसमें भी श्रेयार्थी को उस काल के विकास की भावना में वह सब उस रूप में प्रगट होता हुआ लगता है । एक काल में जो अर्थ उसमें से प्रगट होता हो, तो दूसरे काल में उससे भी अधिक विस्तारवाला दूसरे प्रकार का अर्थ भी हो सकता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २२५-२६)

प्रभुदत्त कहो या कर्मप्रारब्ध कहो, जो गरीबाई मिली, जब से समझदार हुआ और जब वह अखरने लगा था, तब सोचने में यह आया कि जिन गुणों को प्राप्त करने में कितने लोगों को कितना पुरुषार्थ करना पड़ता था और उसमें से उसके सही अर्थ में वह (गरीबाई) ज्ञानभाव से प्राप्त हुई, तो प्रभुकृपा से इस **जीव** को तो जो सहज प्राप्त हुआ है, वह तो जीवन की बहुमूल्य पूँजी या लक्ष्मी प्राप्त हुई है और इसतरह तो यह **जीव** लक्ष्मीवंतों में भी अधिक लक्ष्मीवंत है । जीवन के उस काल के मूल्यांकन को उस तरह परिवर्तित करने में इसप्रकार की विचारधारा भी अपनेआप सूझ जाती थी, वह भी प्रभु की ही कृपा का परिणाम है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २२८)

* *

हम मानते हों या धारणा रखते हों उसी तरह ही वैसा हो तभी उसकी कृपा होती है या तभी वह कृपा करता है, ऐसा भी मानने में कोई तथ्य नहीं है । कोई कहेगा कि यह तो मात्र कल्पना ही कहलाएगी न ? तो दूसरी तरह से चिंता करने में भी कल्पना के सिवाय दूसरा क्या है ? मनुष्यमात्र जहाँ-तहाँ से कल्पना कर जीता होता है । जो कल्पना हमें ऊँचा उठाये और सामनेवाले को भी प्राबल्य देने, शांत्वना प्रेरित करने अंतर से प्रेरणात्मक हो सके, ऐसी कल्पना क्यों न रखें ? ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २३०-३१)

* *

कर्म का प्रताप, प्रभाव और उसकी असर कोई मात्र व्यक्तिगत नहीं होती; समष्टिगत भी होती है । संसार में हम अकेले होने पर भी अनंत के साथ जुड़े हुए हैं । विचार, वृत्ति, मनोभाव, तरंग, भावना

या भाव द्वारा सभी साथ मिलते हैं और एकदूसरे की असर में जाने अनजाने आ ही जाया करते हैं । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १८५-८६)

* *

जीवनविकास की भावना के साथ प्रभुप्रीत्यर्थ सतत कर्म में रत रहना और मन को उसी तरह रत रखना, इसके जैसी जीवन की दूसरी कोई उत्तम शिक्षा नहीं है । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. १८७)

* *

'समझ' का अंकुरण जीवन के अनुभवों में से आता है और समझाना यह तो एक अलग ही कला है ।

('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. २३८)

* *

जिस तरह तैरने की भूमिका बनाने के लिए और उस कला को हस्तगत करने के लिए पानी की आवश्यकता है, वैसे ही हमें इस जगत की और सबकी आवश्यकता है और वह ज्ञान उनके संपर्क से प्राप्त कर सकते हैं, उसके लिए यह सब 'सत्य' है और पश्चात् नहीं— हमारे तक ही । पर उसके पश्चात् भी उसका अस्तित्व नष्ट नहीं होता, मात्र उसका उपयोग दूसरी तरह का है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २४५)

* *

स्वजनों या संबंधिओं को पत्र लिखते समय या उनका पत्र पढ़ते समय हम इतना हृदय का सान्निध्य और संपर्क का अनुभव यदि एक दूसरे को न अनुभव करें तो हमारे हृदय के प्रेम में कोई कमी है ऐसा उसका अर्थ होगा । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. २०२)

* *

एकान्तिक जीवन में मौन का प्रधान स्थान है । उसमें समग्र आधार प्रभु को समर्पण करने की भावना को उद्दीप्त करने के लिए तो मौन की खास आवश्यकता है ।

सभी इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में रुचि लेते रोक सकें, तभी सच्चा मौन गिना जाएगा अथवा दूसरी तरह कहें तो मौन अर्थात् इन्द्रियों को अपनी-अपनी प्राकृतिक क्रियाओं से उपराम पाने की क्रिया । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २५७-५८)

* *

संयम अर्थात् जीवन में आचरित हो रहे भावों की सीमा । संयम अर्थात् अपने जीवन की रक्षा करने के लिए आयोजित जीवंत भावात्मक आचार की दीवार ।

जो संयमी जीवन जगत के प्रति कठोर कर दे, ऐसा संयम यथार्थ नहीं । जो संयम को बार-बार व्यक्त होना पड़े वह संयम ही नहीं है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २६४)

* *

मनोभावों को यथेच्छरूप से व्यक्त होने देने से उसकी शक्ति क्षीण होती है और जीवनविकास के कार्य में वह निरर्थक सिद्ध होता है ।

जीवन की किसी भी शक्ति को उद्देश्यपूर्वक सीमाबद्ध किये बिना, उसे अमुक विशेष वस्तु का अभ्यास नहीं करा सकते । असयंमी भावना और वृत्ति के प्राकट्य होने में निर्बलता पोषित होती है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २६६-६७)

* *

पानी से धोने पर जैसे कपड़ा और शरीर का मैल निकल जाता है, वैसे ईश्वर को हृदय से प्रार्थना करने से मन का और अंत:करण का मैल साफ हो जाता है ।('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २७१)

* *

साहित्य की भावना यदि जीवन के उच्च आशय को गतिमान करने में शक्तिमान न हो, जनता को अपनी जीवननिष्ठा में दृढ़ न करा सकती हो, तो उसे उच्च कक्षा का साहित्य कैसे कह सकते हैं ?

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २७८)

* *

सिर पर हथौड़े की मार पड़े यानी कैसी भी विकट या प्रतिकूल स्थिति में आ पड़ेंगे, तब भी जो भावना आयी हो वह उसके यथार्थपन में उल्टी अधिक सतेज और शक्तिशाली होगी और ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव हो तभी उस भावना को सही मानें ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २८२)

* *

हृदय से जो एक को समर्पित रहता है, एक को प्राप्त करता है, वह अनंत को भी पा सकता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २८७)

* *

दान करते समय जिसे दान करते हों, उसके प्रति हृदय से भक्ति हो और हमारे करण उदारता, विशालता आदि भाव ज्ञानपूर्वक अनुभव करें । हमारी संकुचितता का बाड़ा टूटे, तो ऐसा किया गया दान जीवनविकास बढ़ाता है सही । दान करने में प्रायश्चित का भाव उस कर्म को करते रह सकें तो दान का अर्थ है । दान करना तो हमारा धर्म है । उसमें कल्याण होने की भावना रहे तो वह भी यथार्थ नहीं । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. २२३-२४)

* *

केवल गुरु मंत्र लेने से कुछ नहीं होता । यह भी एक प्रकार का अज्ञानमूलक भ्रम है । जहाँ तक जीवन का मूल बहाव बदल न जाय, तब तक ऐसे लिये गये हजारों गुरुमंत्र व्यर्थ हैं ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २९०-९१)

* *

आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर, कामना, वासना, रागद्वेष, अहंकार आदि सभी को निकालो या कम करने का जब तक उत्कट भाव उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसी तैयारी जो **जीव** चाहकर भी नहीं कर पाता, ऐसे **जीव** को साक्षात् भगवान भी ऊँचे चढ़ाने में समर्थ नहीं हो सकते । ('जीवनप्रवेश', आ. ३, पृ. २२५)

* *

भूत लगे उसे तो कोई निकाल सकता है, परन्तु यदि कोई ऐसे चेतन में रहा है, ऐसी आत्माएँ किसी के गले चिपकी हों तो छूट नहीं सकतीं । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २९५)

* *

वृत्ति यह तो शक्ति का स्वरूप है । संसारी **जीव** की वृत्ति का मूल तो अज्ञान में है; जब कोई दिव्य, उच्च आत्मा की वृत्ति का मूल तो ज्ञान में निहित होता है । इससे दोनों की वृत्ति के मूल में भूमिका का अंतर होने से, उन दोनों को एक ही तरह देखने, समझने, मापने, अनुभव करने की मनीषा भले ही हम रखें !

अज्ञानी, संसारी **जीव** की वृत्ति अधिक बंधनकर्ता और रागद्वेष को बढ़ानेवाली है; जबकि ज्ञानी **जीवात्मा** की भावना मुक्तिप्रदेश में व्याप्त होनेवाली होती है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २९७)

* *

उपयोग ही ज्ञान है । जिस किसी में उपयोग के उद्देश्य के ज्ञान को हृदयस्थकर दृढ़तापूर्वक आचरण करे । उपयोग अर्थात् मात्र कोई स्वार्थ नहीं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १)

* *

साधन उत्तम से उत्तम हो, परन्तु यदि वे रुढ़िगत बना करें, तो उनमें से कुछ भी चेतन प्राप्त नहीं कर सकते ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १)

* *

गुरु जो कुछ हमें सूचन करते हों तो वह कोई व्यर्थ नहीं होता है । उसमें कुछ रहस्य और उद्देश्य रहता है । उस सूचन के पीछे उनके हृदय का भाव भी होता है । उस सूचन का आचरण प्रेमभक्तिज्ञानभाव से किये जाने पर उसकी स्मरणभावना भी दिल में रहा करती है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४)

* *

दूसरों के सूचनों को भी दिल से पालन करने की उत्कंठा यदि बनी रहे— अलबत्ता विवेक द्वारा— तो उनके हृदय का सद्भाव हमें मिलता रहता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४)

* *

जो कुछ भी करें उसे उसी तरह केवल करने के लिए न करें, परन्तु उसमें से भाव-शक्ति उत्पन्न हो सके उसके लिए करना है । ***जीव****भाव से दया अर्थात् अहंकार ।* ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ७)

* *

भावना को टिकाये रखने के लिए, उसे अधिक तेजस्वी और शक्तिशाली बनाने के लिए, अधिक एकाग्र, केन्द्रित करने के लिए नामस्मरण यह सशक्त साधन है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९)

* *

प्राप्त कर्म को हम पूरी तरह, उत्तमरूप से स्वयं अपने विकास की भावना से प्रेरित हो, जीवन को विकसित करने, प्रभु प्रीति हेतु करने हैं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९-१०)

* *

दूसरे किसी की बाधा नहीं है; जो भी बाधा है, वह एकदम सच्ची, दृढ़, अटल निश्चय से पैदा नहीं होती है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १०)

* *

हमें किसी का कहीं सामना नहीं करना है; सामना जो करना है, वह तो अंतर में आंतरिक वृत्तिओं का ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १०)

* *

सद्‌गुरु के लिए हृदय का भक्तिभाव जरा भी कम नहीं होना चाहिए; तभी वैसा भाव उपयोगी है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १३)

* *

भाव भाव को खींचता है और **भाव** को पैदा करता है । हृदय के भाव का बल जैसा-तैसा नहीं है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १५)

* *

गुरु का भावभरा पुण्यस्मरण वह प्रत्यक्ष संजीवनी है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १७)

* *

दूसरों का जो भी नकारात्मक हो, वह हमारे कान, आँख, मन में या ऐसे ही जो आ जाय उसे वाणी द्वारा या दूसरे किसी ढंग से

दूसरे किसी के आगे व्यक्त नहीं करना होता है । नकारात्मक लहरों की तरंगों को इस संसार-सरोवर में जितनी कम की जा सकें उतनी कम करें । ऐसा करने के लिए वाणी के ऊपर बहुत संयम की आवश्यकता रहेगी । ऐसे नकारात्मक लहरों का विस्तार होने देना वह एक प्रकार की निंदा है । निंदा का भी रस **जीव** को होता है । संसार के अनेक जहर इस निंदारस से पोषित होते हैं और वृद्धि को भी प्राप्त करते हैं । इनमें से जीवनविकास चाहनेवाले को उबर जाना चाहिए । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १८)

* *

किसी भी **जीव** विषयक दूसरे किसी भी **जीव** के आगे नकारात्मक उच्चारण करें तो समझें कि अभी सभी के प्रति ज्ञानपूर्वक सद्भाव विकास विषयक का महत्त्व हमारे मन हृदय में नहीं आया है । ऐसा ज्ञानात्मक सद्भाव रखने से हमें मन में शांति, समता, प्रसन्नता, सरलता आदि की भूमिका बनी रहती है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १९)

* *

जिस तरह, जैसे हमने सुना, सोचा, आचरण किया, बोले और जैसी वृत्ति उस पल हमारे में रहे, उसी तरह का वैसा, वैसी वृत्ति का जीवन हमारे लिए हम निर्माण कर चुके हैं ऐसा निश्चय जानें, समझें और मानें । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २०-२१)

* *

जीवकक्षा का नकारात्मक जो हो, वैसा जीवन में निर्माण नहीं होने देना चाहिए ऐसा अटल निश्चय यदि **जीव** करता है, वैसा **जीव** कोई भी किसी नकारात्मकता को अंतर में या बाहर से अनुभव होने पर अंतर से पूरी तरह सावधान हो जाता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २१)

जो कुछ भी हो तब भी जीवन में नकारात्मक पहलू को तो आँख, कान, मुँह में न लायें और जरा भी न लायें ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २०-२१)

* *

साधक को ज्ञानभक्तिपूर्वक जीवनविकास की दृष्टि, वृत्ति और भाव पैदा करते हुए आचरण करे, सोचे, समझे, कल्पना करे, माने, बोले आदि करे । जीवन की यही सच्ची कमायी है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २२)

* *

साधना का यज्ञ कोई जैसा-तैसा नहीं है । ऐसे जीवनविकास के लिए आचरित यज्ञ में सतत आहुति देनी होगी । जो कुछ होम करने जैसा हो, उसे प्रेम से होम करना होगा और सर्वस्व होम करना होगा । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २२)

* *

मौन का आंतरिक व्यापक सूक्ष्म स्वरूप प्रगट हुए बिना मन निःस्तब्ध नीरव दशा को कभी नहीं प्राप्त कर सकता । मन निस्तरंग दशा को जहाँ तक न प्राप्त करे, तब तक मन की मूल शक्ति व्यक्त होती हुई अनुभव नहीं हो सकती । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २४)

* *

जीवकक्षा का पुण्य भी बंधनकारक है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २६)

* *

मनादिकरण भावना से जब आर्द्र रहा करते हैं, तब दूसरे किसी प्रकार के विचार प्रवेश नहीं कर सकते और उठ भी नहीं सकते । ऐसी दशा में नामस्मरण आदि साधन भाव की रागात्मकता, एकाग्रता से अच्छी तरह हुआ करती है । भाव की एकाग्रता आते ही उसमें से केन्द्रितता आ जाती है । भाव की केन्द्रितता के होने से और उसकी संपूर्णता के शिखर पर पहुँचते और उस दशा में लंबे समय तक स्थिर रूप से रहने — जीते रहा करने से — उसके बाद उसका विस्तार भी होने लगता है । सद्‌गुरु का चेतनात्मक पवित्र स्मरण हृदय में हृदय से पैदा कर उसके हृदय के साथ हमारे हृदय का भावभक्ति से एक रागात्मक भरा अनुसंधान करके, वैसा ज्ञानयुक्त तादात्म्य ला लाकर, हृदय की एकता जब उत्पन्न होती है, ऐसे समय में जो जीवंत चेतनयुक्त केन्द्रितता प्रगट होती है, वह स्थिति ज्ञानदशा के अनुभव की भूमिका रूप होती है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २७)

* *

श्रीसद्‌गुरु के हृदय के भाव को जब साधक प्रेमभक्ति द्वारा हृदय में हृदय से पकड़ने लगता है, उस समय से साधक के जीवन का विकास बहुत तीव्र होने लगता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २८)

* *

जीवदशा में प्रत्येक ऊँची या नीची कक्षा में उपभोग यह तो मृत्यु है और उपयोग यह ज्ञान है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २८)

* *

आंतरिक करणों की शुद्धि का अभ्यास चेतनात्मक न हो तो साधना सफल होनी संभव नहीं है ।('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३१)

* *

स्थूल प्राण अपनी असर मनादि पर पहुँचाकर बुद्धि को भ्रमित कर देता है, चित्त में दोष उत्पन्न करता है, मन को हिचकोलों में चढ़ाता है, इसलिए विचार की पूरी तरह शुद्धता हम में नहीं रह पाती ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३१)

* *

फूल की मधु सुवास और उसके सौन्दर्य में रसग्रहणशक्ति द्वारा भगवान के भाव को ही साधक को अनुभव करना है । तब स्थूल इन्द्रियों को तृप्त करने का ख्याल जाग्रत नहीं होना चाहिए ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३३)

* *

समझ की भी न खुलनेवाली गाँठ होती है और उसमें से भी मुक्ति प्राप्त करनी है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४१)

* *

कोई भी किसी बात में किसी चीज़ का आग्रह न रहे, वह साधना के लिए उत्तम है, अंत में तो अच्छे या उत्तम आग्रह से भी पर जाना और होना है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४१)

* *

जो आनंद देने में है वह लेने में नहीं । देना जीवननिर्माण में सहायक होता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४३)

* *

जिस कारण से भी दिल की श्रद्धा बढ़ती जाती हो, उसे हृदय में प्रेमभाव से बार-बार सोचें और चिंतन करते रहें ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४४)

* *

बलपूर्वक, त्रसित होकर, ऊबकर, लाचार होकर काम करने की आदत को छोड़ना होगा । बिना मन के, उतावली में, अधीर हो, यद्वातद्वा, आड़ेतिरछे, अव्यवस्थित, घबराये हुए, कचौट के साथ और भाव बिना कर्म करने से उल्टा बोझ बढ़ता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४७)

* *

हिचकिचाहट के साथ कुछ किसी को दें तो ऐसा देने से कुछ उसकी योग्यता में फलित नहीं होता । यदि देने में कोई गिनती, मान्यता, अपेक्षा या उल्टीसीधी समझ रही हो तो वैसा दिया मिथ्या हो सकता है । जो कुछ देना हो, वह एक यज्ञभावना के रूप में अपने विकास के लिए और शुद्ध, निर्मल भावना लाने के लिए ऐसा करना है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४९)

* *

जगत अर्थात् परिवर्तनशील । अतः ऐसे परिवर्तनशीलता को हम जीवन में ज्ञानपूर्वक अपनाएँ और स्वेच्छा से हमारे जीवन का समूल परिवर्तन प्रभुकृपा से अपनाते रहें । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४९)

* *

प्रत्येक वृत्ति गति के साथ आकार धारण करती रहती है तो जीवनविकास हेतु पैदा हुई भावना हमारे आचरण व्यवहार में व्यक्त हुए बिना कैसे रह सकती है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ५१)

* *

इन्द्रियों की लालसाओं को जीतने का उपाय उस समय गद्गद भाव से और उसकी वेदना से व्यथित और सालते हृदय से, आर्त और आर्द्र भाव से श्रीहरि की प्रार्थना में निहित है । सतत भावनाभरा

नामस्मरण का निरन्तर दिल में दिल से रटन उस समय होना चाहिए । इसके जैसा दूसरा कोई सरल उपाय नहीं है ।

हमें श्रीहरि को भजना है– वह भी उसके प्रेम के कारण ही ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ५२)

* *

हमें यदि मान लिए सुखदु:ख की समझ में पड़ा ही रहना है तो जीवनविकास की आशा छोड़ देनी चाहिए ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ५५)

* *

संसारव्यवहार के वर्तन की रोज की निर्जीव चक्रमाला में ही यदि पिरोये रहना हो, तो फिर हो गया; यह संसार की चक्रमाला भले रही, किन्तु हमें यांत्रिक चक्रमाला रूप नहीं बनना है । हमें तो जागते रहना है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ५६)

* *

ज्ञानभक्तिपूर्वक का आत्यंतिक पूर्णरूप से आत्मसमर्पण न हुआ हो, वहाँ तक हमारे अपने निजी पुरुषार्थ की बहुत आवश्यकता रहती है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ६२-६३)

* *

दूसरों को आगे लाने का प्रेमभाव से यदि हम करेंगे तो उसमें हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा, उल्टा लाभ ही है । अहम् टालने की यह तालीम हो सकती है ।

किसी के भी प्रति नकारात्मक भाव उत्पन्न हो यानी कि यदि उसका बुरा हमारा मन सोचा करे कि तुरन्त ही उस **जीव** के उत्तम पहलू को याद करें । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ७४-७५)

* *

संसार के व्यवहार में न्याय-अन्याय के पहलू विद्यमान होने से हमें न्याय भी मिल सकता है और अन्याय भी; ऐसा तो होते ही रहा करेगा । फिर हमें जो अन्याय होते दिखता है, वैसा सचमुच अन्याय करने का उद्देश्य सामनेवाले का न भी हो । हमें तो हर किसी स्थिति में सद्‌भाव ही रखना है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ७६)

* *

कहीं किसी में जीवन नष्ट होते देख हमारे हृदय में दुःख-पीड़ा होनी चाहिए । कोई कीमती वस्तु या पाँच-पचास रुपए खोने पर जो भाव होते हैं, उससे अनेक गुना अधिक और उसमें भी तीव्रतम, उस समय हमें होना चाहिए ।

मनुष्य को स्थूल धन का नुकसान होने पर जो दुःख होता है, उसके सौवें भाग का भी पूरा जीवन-महामूल्यवान जीवन— व्यर्थ जाने में वह भाव नहीं होता । ऐसा है मनुष्य का दुर्भाग्य !

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ७७)

* *

व्यवस्था एक वस्तु है और परम्परा दूसरी वस्तु है । दोनों में बहुत अंतर है । व्यवस्था बनाकर मनुष्य उसे भी फिर परम्परा रूप बना देता है । जो कुछ व्यवस्था के आकार में रखकर वह फिर दुबारा परम्परानुसार ही वह करता होता है । यह ठीक नहीं है । जो कुछ हुआ करे, उसमें हमारे जीवन की भावना थिरके, नृत्य करती होनी चाहिए । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ८१-८२)

* *

दूसरे व्यक्ति की ओर से किसी की भी नकारात्मक बात निकलने पर उस समय हमें कला का उपयोग कर बात को बदलकर

किसी दूसरी ऊँची भावना के प्रसंग के भाव में उसे फेर डालना चाहिए । दूसरे **जीव** की भावना को भी तेजस्वी बनाना हो, इसतरह बात उपजाने की कला हम में होनी चाहिए ।

दुनिया की, सांसारिक, क्षुल्लक बातें न चाहते हुए भी सुननी पड़ें ऐसी नाजुक परिस्थिति के समय उन बातों को सुनने पर भी सुनना न पड़े इसतरह मन को नामस्मरण-धारणा में डुबो देना प्रभुकृपा से सावधानी से जागकर, हो जाय वैसी आदत हमें डालनी चाहिए ।
('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ८२-८३)

* *

जैसे काँटे से काँटा निकाला जा सकता है, जैसे जहर जहर की मात्रा से टल सकता है, वैसे ही **जीव** का संसारी रूप जीवनविकास की भावना को संसार में उसकी यथार्थता द्वारा जीने से टाला जा सकता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ८५)

* *

कर्म के प्रेरक बल प्राण, अहम् आदि की वृत्ति या भाव न हो, पर जीवनविकास की भावना ही उसका प्रेरक बल होता है और उसी कर्म द्वारा जीवनविकासक प्रेमभाव पैदा होता जाता है वैसे कर्म यज्ञ स्वरूप हैं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९१)

* *

सात्त्विक गुण आते ही साधना के भाव का विकास सहज रूप से हुआ करता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९४)

* *

अनेक लोग 'वे (प्रभु या गुरु) सब कुछ जानते हैं, वे अंतर्यामी हैं, उन्हें क्या कहने की आवश्यकता ?' ऐसे जो ख्याल रखते हैं, वह अज्ञानमूलक और भ्रमणात्मक है । अंतर्यामित्व की

हकीकत यथार्थ होने पर भी साधक को तो आत्मनिवेदन के रूप में जो कुछ है, वह सब कहना और लिखना चाहिए । प्रार्थना का आश्रय लेकर चेतना की कृपाशक्ति को पुकारते रहना है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ११०)

* *

स्वयं द्वारा होनेवाली प्रार्थना हृदयपूर्वक होने पर भी जब वह फलित न हो, तब **जीव** को अपने आपको, मन को, प्राण को, चित्त को, बुद्धि को, अहम् को उसके अनेक पहलुओं में फिरकर जाँच लेना चाहिए । कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य होगी ही ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १११)

* *

संसारव्यवहार में जहाँ हमें अन्याय होता हुआ लगे वहाँ अन्याय को अन्याय के रूप में कभी स्वीकार न करें । प्रभु का उसके पीछे हमारे निर्माण का आश्रय जानें । अन्याय हुआ है ऐसा लगता है तो हमारे मन, बुद्धि, प्राण और अहम् को । वे अभी तक पूरी समता, तटस्थता, शांतियुक्त दशा में कहाँ होते हैं कि उनका वैसा तोला हुआ तद्विषयक न्याय योग्यतावाला हो ? मनादि ने जो सोचा है वह बिलकुल सत्य ही है ऐसा कैसे गिन सकते हैं ? प्रत्येक प्रसंग के अनेक पहलू होते हैं । इसलिए उसे उसकी समग्रता से अवलोकन करना हमारे से कैसे संभव हो सकता है ? इसलिए माने हुए अन्याय को अन्याय रूप में मानने से तो हम ही शायद दूसरे किसी पर अन्याय कर बैठेंगे ।

हम भले ही कदाचित अन्याय के भोग बन रहे हों, पर हमसे किसी को अन्याय न हो जाय तथा किसी को अन्यायी न मान लें उसकी पूरी सावधानी रखनी है ।

हमारे अहम् पर जरा जरा-सी बात में चोट लगते ही उसकी क्रिया शुरू हो जाती है । अहम्पन से प्रकृति का कार्य होता रहता है और उसके पीछे प्रकृति की प्रेरणा है । हमारी ऐसी अहंता टले यह साधनामार्ग के लिए बहुत बड़ा और **जीव** के लिए बड़ा मुश्किल काम है; परन्तु उसे किये बिना कोई छुटकारा नहीं है ।

आशाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ, तृष्णाएँ आदि का स्फुरण होता भले ही दिखे, पर गतिमान होता न अनुभव हो तब जानना कि हमारा अहम् नरम पड़ गया है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १२१ से १२३)

* *

प्रार्थना करने से जिस विषय में प्रार्थना करते हों, वह फलित हो या न हो वह महत्त्वपूर्ण नहीं है । परन्तु जैसे-जैसे प्रार्थना का भाव हमारे हृदय में प्रत्यक्ष रूप से जीवित हुआ करता है, वैसे-वैसे श्रीभगवान के भाव के साथ हमारे अंतर का संबंध बंधता जाता है, यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १३४)

* *

कर्म की योग्यता-अयोग्यता देखने की अपेक्षा इन्द्रियों एवं मनादिकरणों की पात्रता एवं श्रेष्ठता योग्य प्रकार की हो, उसके प्रति हमारा चेतनामय रुझान सहेतुक बढ़े वह अति आवश्यक है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १४०)

* *

आजकल व्यक्तिस्वातंत्र्य के बदले व्यक्तिस्वच्छंदता समाज में बढ़ती जा रही है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १४३)

* *

जीव को अनुभव तो मिलता है, पर वह स्वयं परिमितता के फलस्वरूप उसे वह परिमित बना देता है अथवा उसे उसी स्वरूप में ही परखा जाता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १५४)

* *

हृदय के प्रेमभाव का स्पर्श तो अणु-अणु में उत्पन्न होता है । हमारे मिलने की गूँज, बोली, आँख, चाल, व्यवहार में झलकता है । इसका स्पर्श हुए बिना नहीं रह सकता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १५६)

* *

सर्वप्रकार के होते रहते कर्म के फल की कामनाओं और कर्तव्यबुद्धि का यदि समझपूर्वक सहज रूप से समूल त्याग होता रहे तो समता अपनेआप आधार के करणों में स्थापित अनुभव की जा सकती है । ऐसी समता स्थापित करते ही प्रभु की चेतना हमारे आधार में जगह-जगह पर पैदा करनी है और वह स्वयं कार्य करना आरंभ कर देगी । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १७५)

* *

सद्‌गुरु की भक्ति मात्र उनके शरीर की सेवा में पर्याप्त नहीं होती; परन्तु गुरु की चेतनात्मक भावना की धारणा हमारे हृदय में हरपल जीवित रहा करे; ऐसी धारणा से हम जिस किसी में ऊँचे उठने का प्रत्यक्ष उस समय ज्ञान प्रगट हुआ हो और वह कर्म यज्ञभाव से होता रहे और वह भी प्रभु चरणकमल में समर्पित हुआ करे और वह सब प्रभुप्रीतिहेतु हुआ करे– ऐसा ज्ञान उस उस कर्म को करते समय हमारे में जीवंत रहा करे, वही सद्‌गुरु की सच्ची प्रेमभक्ति है । जिसके

द्वारा हमारे जीवन का योग्य सही निर्माण हुआ करे, वह सद्‌गुरु की प्रेमभक्ति है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १८४)

* *

परम प्राप्ति के पुरुषार्थ के तौल में संसार का दूसरा कोई भी पुरुषार्थ आ नहीं सकता । ऐसे पुरुषार्थ के हार्द में प्रभुकृपाशक्ति बसी होती है ।

* *

सद्‌गुरु की सच्ची पहचान तो कभी बाह्य रूप से होती ही नहीं । वह तो आगे जाते-जाते अंतर में अंतर से होती रहती है । ऐसा प्रगट हुआ अनुभव ही सच्चा अनुभव है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १८४)

* *

सकल प्राप्त होते कर्म हमारे प्रभु की प्रसादी हैं, ऐसा ज्ञानपूर्वक स्वीकार कर जब कुछ नापसंद, अनुचित करना आ पड़े, ऐसे समय में भी उसे प्रभुकर्म समझकर उस कर्म में उस कर्म के पहलू को न देखते हुए उससे प्रभु में प्रेमभाव पैदा हुआ करे, तो ऐसे अनुभव होने से प्रेरणात्मक समझ हम में आएगी ही ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १९४)

* *

कुटुंब के बुजुर्ग भी हमारे जैसे ही मनुष्य हैं । जिस प्रकार हम में अनेक प्रकार की कमियाँ, खराब आदतें, अवगुण आदि भरे पड़े हैं वैसे उनमें भी हो सकते हैं; परन्तु इससे उनके प्रति हमारा सद्‌भाव, आदर, प्रेमभाव आदि घटना नहीं चाहिए । सद्‌भाव से सद्‌भाव प्राप्त होता है और वैसी भावना में बढ़ोत्तरी होती है । उनके प्रति जो भाव, आदर करना है, वह हमारे अपने विकास के लिए है । हम कोई गुण

की पूजा करने नहीं निकले हैं, परन्तु वे हमारे बुजुर्ग हैं यही तथ्य ही मान-भाव-आदर देने के लिए पर्याप्त होना चाहिए ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १९६)

* *

कसौटी के दौरान यदि **जीव** को जरा भी ऊब, त्रास, संताप हुआ या कठिनाई से वृत्ति जन्मी तो ऐसी कसौटी का परिणाम तो जीवन में अज्ञानमय मृत्यु आएगा । कसौटी तो जीवन को कसने की कसौटी है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १९७)

* *

''मन लागो मेरो यार फकीरी में''

फकीरी अर्थात् मात्र गरीबी नहीं, मात्र त्याग नहीं । फकीरी यानी मात्र फनागिरी भी नहीं । जिसमें मन-दिल लगा देना है, उसके बिना वह किसी दूसरे में चिपक ही न सके ऐसी मस्त दशा प्रगट हो वह भी 'फकीरी' के अर्थ के लिए पर्याप्त नहीं । इससे भी आगे फकीरी का भाव तो जीवनविकास की उत्तमोत्तम ज्ञानमूलक कक्षाओं में प्रकट हुआ करता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २००)

* *

कर्म का कर्तापन, उत्तमपन, उसका कौशल्य, शक्ति और कला— यह सब **जीव** का है ही नहीं । वह सब तो वातावरण के चेतन का विस्तारत्व से उत्पन्न हुआ है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २०४)

* *

गरीब की कोई 'दया' न खाएँ । दया खानेवाले हम कौन ? वह किसी से दया नहीं माँगता, माँगता है न्याय । वह दे सकते हों तो

दें । दया खाने की नहीं होती । सहानुभूति रखी जा सकती है । दया के भाव में सूक्ष्म अहंकार निहित है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २०८)

* *

गुरु के अंधे अनुकरण से कुछ हाँसिल नहीं किया जा सकता । वह तो जीवन की अज्ञानता में मृत्यु है । गुरु करने के लिए गुरु करना यह तो बिलकुल बेकार है । परन्तु जीवनविकास की भावना को जीवन में उपयोग करने के लिए सद्‌गुरु का ज्ञानभक्तिपूर्वक का सेवन करने के भाव से जीवनविकास की भावना के आधार के साधनरूप, सद्‌गुरु किये हों तो वे गुरु काम के हैं । ऐसा यदि सचमुच उसके योग्य भावार्थ में हमारे जीवन में हृदय से पैदा हुआ हो, तो उसका मापलक्षण है कि उसकी गरज जाग गई, जीवन में अनुभव होगा । यदि ऐसी पूर्ण सचमुच की गरज जाग गयी होगी, तो मन दुबारा, फिर-फिर के, उसकी ओर जाया करेगा । ऐसा हो तो वे बारम्बार हृदय में याद आया करेंगे ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २०१-११)

* *

गुरु को परख-परखकर, कसकर स्वीकार करो इसमें मना नहीं । स्वीकार करने से पहले जो कुछ भी अंतर से जानना हो वह बुद्धि, भावना आदि की मदद से जाना जा सकता है । पर एक बार उसे हृदय से स्वीकार करने के बाद उनके साथ खाली-खाली चुटकुले करना, शंका-आशंकाओं में उलझ जाना, तर्क-वितर्क करना आदि हमारे लिए थोड़ा भी योग्य नहीं है । उसे अपने जैसा ही (प्रकृति से प्रेरित मनुष्य जैसा) समझने, मानने, जानने में हमारा प्रकृति दोष रहा है वह निश्चित मानें ।

गुरु के हृदयभाव को सहज रूप से प्रेमभक्ति से यदि हम जीवन में स्वीकार कर सकते हों, तो वह सर्वोत्तम है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २१४)

* *

वस्तु को ठोस रूप में कर बताना है, वह कोई ऐसे ही थोड़ा होनेवाला है ? उसके लिए तो मेंहदी की तरह पत्थर पर पत्थर से बहुत भार देकर बार-बार यहाँ से वहाँ पीसकर महीन नरम लोंदे जैसा होना पड़ेगा । तभी उसमें से रंग उत्पन्न हो सकता है । ऐसा होने की जिसकी उम्मीद न हो उसके लिए यह मार्ग नहीं है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २३२)

* *

हम जो कुछ करते हैं, वह आघात-प्रत्याघात से प्रेरित होकर करते हैं और आघात-प्रत्याघात की भूमिका अर्थात् किसी न किसी प्रकार की क्षुब्धता की दशा । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २४३)

* *

कर्म, मात्र कर्म के लिए नहीं; जीवन के लिए कर्म है । कर्म किसी दूसरे के उद्धार के लिए नहीं; कर्म तो अपने जीवन के उद्धार के लिए है; ऐसी भावना प्रधानतः कर्म के आचरण में ज्ञानपूर्वक हमारे में जीवंत हुई होनी चाहिए । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २४५)

* *

जो कुछ जिसे उत्कटता से अखरे, उसमें से वह विमुख भी हो सकता है । दुःख हमें जगाये और गति में प्रेरित करे तो वह दुःख सच्चा है ।

दुःख स्वयं को जानने-समझने के लिए योग्य दर्पण है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २६४)

* *

अनुभव हुआ करते हैं यह तथ्य यदि सत्य है तो अनुभव से समझ का निर्माण भी हो न ? अनुभव कोई स्थितिस्थापक नहीं है । उसका लाक्षणिक धर्म तो प्रसार होता रहे करना है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २८०)

* *

जीव स्वयं जो समझता है, उसके अनुसार समझना, मानना, गिनना, स्वीकार करना, अनुभव करने का यह सारा प्रयत्न कर करके छोड़ने की ज्ञानपूर्वक की आदत डालनी होती है । किसी भी प्रकार की यहाँ-वहाँ की जो समझ रखने की होती है, उसमें **अहम्** की भी बड़ी भूमिका होती है ।

* *

दूसरे के काम में यदि कहीं जरा भी यहाँ-वहाँ प्रवेश करने का हुआ तो उसमें हमसे जाने अनजाने कोई न कोई सूचन दिया जाता है; अनेक बार तो ऐसे ही सुधार या सूचन कर देते हैं; फिर भले ही हमारी वैसी सूचना उस कर्म के उत्तमपन के लिए योग्य प्रकार की हो, परन्तु हमारे लिए तो वैसे टपक पड़ना नुकशानकारक है । ऐसा सूचन देना यह भी एक प्रकार का हमारा अहम् ही है । कितनी ही बार ऐसा अहम् बाह्यरूप से व्यक्त नहीं हो पाता, परन्तु मन में तो वह प्रकट हो ही जाता है; जब कि हमारा प्रयास तो मन में भी वह न पैदा हो ऐसा होना चाहिए ।

सूचना देने का अचानक जो होता है, उसका अर्थ तो यह है कि उसके प्रति हमारे में प्रगट होती समझ की उत्तमता विषयक भान अभी

हम में रहा है और उस प्रकार की समझ को सिर उठाने का अभी बहुत दिल रहा करता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २८९)

* *

जीवन में अनेक प्रकार के अभिमान होते हैं । समझ, बुद्धि, योग्यता, शक्ति, रूप, व्यवहारकुशलता, वैभवविलास, धन आदि विविध प्रकार के अभिमान होते हैं । ये सारे अभिमान हमारे जीवन से निर्मूल होने चाहिए । इन सारे अभिमानों में अहम् बहुत बड़ी भूमिका निभाता है । उसके द्वारा ही वे जीवित रहते हैं । इससे अहम् पर चोट हो, तब **साधक जीव** को अत्यधिक आनंद होना चाहिए ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९३)

* *

प्रतिकूल वातावरण में भी अखंड शांति, समता, प्रसन्नता आदि गुण निरन्तर जागृत रह सकें तभी उसकी सही कींमत है न ?

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९४)

* *

जीव ने भगवान के मार्ग पर चलने का किया कि लोग उसके पास से अधिक से अधिक उत्तमपन की आशा रखने लगते हैं । उन्हें ऐसा पता नहीं होता कि कोई कैसे एकदम से प्रकृति या स्वभाव सुधार सकता है ? साधक होने के साथ थोड़े ही सिद्ध हो सकते हैं ? परन्तु हमें तो इसमें से यह पाठ लेना है कि अब हमसे यद्वातद्वा व्यवहार करने से नहीं चलेगा । तब भी फिर हमें कोई लोक के लिए नहीं जीना है ।

लोग तो 'बेपेंदी के लोटे', की तरह हैं; आज एक के पक्ष में कल दूसरे के पक्ष में । जिसकी प्रशंसा करेंगे उसकी निंदा भी करेंगे । तब भी उनकी अवहेलना हमसे कभी भूल से भी नहीं हो सके

। लोगों में भी हमारे प्यारे प्रभु रम रहे हैं। उनके द्वारा हमें वह चेतावनी भी देते हों इस तरह हमें तो लोगों के बोलने से सीखना भी है। **तब भी लोग और वह (भगवान) दोनों एक नहीं हैं। लोगों में भगवान हैं, पर लोग भगवान नहीं हैं।**

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९५-९६)

* *

वैराग्य को और जीवन में प्राप्त हुए धर्म कर्तव्य को कहीं विरोध नहीं। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९८)

* *

अपने आप आनंद से, समझ के उद्देश्य से जो किया करें और करना ही पड़ता हो और किये बिना छुटकारा नहीं; इसतरह वैसा का वैसा कर्म किया करते हों, तो उन दोनों के परिणाम में भी भेद होता है। हमें तो जिस किसी आनंद से, जीवन के निर्माण का उद्देश्य जागृत ख्याल रखकर समर्पणभाव से किया करना है।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९९)

* *

आश्वासन देने पर भी नहीं दे पाते। लेने की कला उस के लिए **जीव** को सीखनी होती है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३१७)

* *

कर्म का उद्देश्य, मात्र केवल कर्म करने में ही नहीं रहता, पर वह करते-करते हृदयस्थ कैसी, कितनी गहरी भावना जागृत रहा करती है, वही सचमुच का कर्म करने का मुद्दा है।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३२३)

* *

भक्तिमय जीवन अर्थात् कल्पनामय जीवन ऐसा नहीं है। भावमय जीवन भी वह नहीं है। भक्ति यानी खोखलापन भी

नहीं । भक्ति की नींव तो ज्ञान की वास्तविकता से भरकर यथार्थ की ठोस नींव पर रचा होता है । भक्ति अर्थात् तो मनादिकरणों को निरन्तर लगातार उसके प्रिय चिंतन में गोंद की तरह चिपकाके रखे, तब उसे भक्ति कह सकते हैं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३२३)

* *

श्री भगवान की कृपा बिना निगरानी की नहीं है । वह तो उसके हुए हों उस समय भी उसकी अग्निपरीक्षा में कितने ही उनके भक्तजन कठिनाई में तरे हैं । इसलिए उनकी कृपा, उसके होने के पश्चात् भी, उसकी परीक्षा से पार उतरना होता है । कृपा का स्वतंत्र अस्तित्व है और सब कुछ है; पर पहले तो हमारा ही अस्तित्व कहाँ है उसका भान किसे है ?

अनेक बार हमें बलि का बकरा बनना पड़ता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३२८-२९-३२)

* *

कसौटी में से सही सलामत निकले बिना का सद्भाव भी किस काम का ? जगतव्यवहार में लोग भी रुपए परखकर लेते हैं, तब श्रीभगवान कोई सामान्य व्यक्ति से उतरते तो नहीं हो सकते न ?

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३३३)

* *

जो **जीव** सचमुच में संघर्षरत है, वह कभी भी सिर पर हाथ रखकर नहीं बैठता अथवा तो कभी परिस्थिति का दोष नहीं निकालना । अपनी अशक्ति, कमजोरी हो या चाहे जैसा भी हो तब भी उसे उस रूप में ही स्वीकार कर लेता है । उसमें वह किसी प्रकार की बहानेबाजी नहीं करता ।

'अमुक हुआ इससे ऐसा हुआ और ऐसा इससे ऐसा बना ।' वैसा वह कभी नहीं कहता । वह तो हिचक बिना का स्पष्ट, खुल्ला, हृदय का इकरार कर देता है । जो **जीव** परिस्थिति से लाचार हुआ ऐसा मानता है, वैसा **जीव** अपनी लाचारी को परिस्थिति के निमित्त से छुपाता है । इसलिए जो **जीव** पूरी तरह खुला नहीं है, वह किसी निमित्त को पीछे खड़ा करता है । वैसा **जीव** कहीं न कहीं अवश्य उलझ जाएगा । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३३८)

* *

यह मार्ग तो है **मरजिया** का । पहले संसार में मरना सीख लो और वहाँ मरते-मरते प्रभु का प्रेमभक्तिपूर्वक का, मुग्ध और स्निग्ध स्मरण हृदय में जागृत करो । उसे जहाँ-तहाँ महत्त्व दिया करो । संसार, सगेसंबंधी भी ये और पुत्र परिवार जो कहो वह सभी ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३३९)

* *

संसार तो अंतर में जड़ चुका होता है । बाहर का संसार और उसकी घटना– वह तो मात्र अंतर का व्यक्त स्वरूप है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३४०)

* *

जो भी आत्मनिष्ठ हुए हैं, उनमें कुछ अमुक प्रकार की विचित्रताएँ - खासियत देखने में आयी हैं । तो वह कैसे ? ऐसा लोग पूछते हैं । उसका उत्तर यह है कि सामान्य मनुष्य में और आत्मनिष्ठ में – दोनों की खासियत में, विचित्रताएं हो सकती हैं; किन्तु सामान्य मनुष्य प्रकृतिवश होकर विचित्रताओं का दास होता है, जबकि आत्मनिष्ठ स्वामी होने से वह उसकी सविशेषता है, वही उसकी लाक्षणिकता भी है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३४८)

* *

प्रकृति अपने असली स्वरूप में तो अशुद्धिवाली नहीं है । वह तो द्वन्द्व के खेल में पड़ी है । द्वन्द्व उसका लक्षण है । उसके निर्माण में ही द्वन्द्व रहा है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३४८)

* *

व्यक्तिगत जीवन में क्या या समग्र जीवन में क्या या सारे समाज या सृष्टि के जीवन में क्या, मन-बुद्धि आदि से जीवन के सभी प्रश्न सुलझ जाएँगे ऐसा अनुभव तो बतलाता नहीं है । मन-बुद्धि किसी का भी समग्रता और निरन्तरता को तौलने, मापने, समझने, अनुभव करने के लिए कभी भी शक्तिमान नहीं है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३५३)

* *

विष का कड़वा घूँट पीने की बारी आये तो उसे अमृत के रूप में स्वीकार कर जो **जीव** जीवनसंग्राम खेलता है, वही जीवन जीना जानता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३५५)

* *

प्राप्त धर्म नहीं छोड़ सकते; परन्तु वे सारे धर्म सांसारिक वृत्ति से आचरण नहीं करने होते, भगवद्भाव से आचरण करना होता है । उन धर्मों के पालन में जीवनविकास की भावना का ही सुदृढ़ता से एकमात्र ख्याल यदि रखा करें तो उस धर्म का उद्देश्य सही रूप में फलित हो सकता है । इसलिए संसार यह तो वृत्तिओं से तैरने के लिए की मुक्ति-नौका है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३६५)

* *

गीता का संन्यास यह वृत्ति का संन्यास है । गीता का धर्म प्राप्त परिस्थिति और प्राप्त धर्म से भागने के लिए स्पष्ट मना करता है ।

उसे वह कायरता गिनता है । जो ऊबकर, डरकर भागता है, वह धर्म के हृदय को प्राप्त नहीं कर सकता ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३६७)

* *

एकनिष्ठा आये बिना जीवन की साधना के पुरुषार्थ में नवचेतन, प्राण आनेवाला नहीं है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३६८)

* *

हमारी संस्कृति में जो अनेक प्रकार के सांप्रदायिक मत फैले, वे त्याग और भोग इन दोनों के बीच की वे सभी शाखाएँ हैं । त्याग या भोग दोनों प्रेमभक्ति-ज्ञानयोग की भूमिकावाले ही होने चाहिए, तभी उनकी शोभा है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३६८)

* *

संयम और दमन इन दोनों में बहुत अंतर है ।

दमन से बुद्धि, प्राण आदि कुंठित हो जाते हैं । जैसे नपुंसक मनुष्य में वासना नहीं होती ऐसा नहीं; इसतरह करणों को कुंठित बनाकर आगे बढ़ने के मार्ग को हमारी संस्कृति के अनुभविओं ने सामान्यतः नकारा है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३६९)

* *

अज्ञानमय जीवन में तो कोरा भोग ही है। जबकि ज्ञान की अवस्था में जीवन का यज्ञ संपूर्णरूप से परिपूर्ण होने के बाद, जो कुछ बाकी रहे वैसे भोग को यथार्थ गिना है और वही प्रभुप्रसाद है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७०)

* *

त्याग करना और त्याग भोगना इन दोनों के भावार्थ में आसमान-जमीन का अंतर है । त्याग भोगने में जो आनंद है, वह त्याग करने के आनंद से कई अधिक विशेष चढ़कर है । त्याग करने का आनंद

यह जीवनविकास के प्रमाण में निचली श्रेणी का मार्ग है। त्याग भोगने का आनंद यह जीवनविकास की सहज साधना का आनंद है अथवा वह सहज अवस्था का आनंद है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७०)

* *

प्रेम के कोमलपन को सभी समझते, स्वीकारते और स्वागत करते हैं पर प्रेम की कठोरता जब प्रेमभक्तिआनंद से स्वीकारें और स्वागत करें तभी सच्चा प्रेम परखा जाता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७१)

* *

जीवन का धर्म सांप्रदायिकता का नहीं; जीवन का वास्तविक धर्म विस्तारपन का है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७१)

* *

मनोभावों को सहलानेवाले शब्दों से या इसप्रकार की कागज की लिखावट से आश्वासन देने की रीति यह जीवनविकास की भावना को सही रूप से प्रेरित करनेवाली नहीं है; इससे उल्टा तो जीवन या भावना अधिक निर्बल हो जाती है। भाषा यह तो जीवन को आकार देने के लिए निर्बल और अधूरा साधन है; सच्चा साधन तो प्रेमभक्ति ज्ञानयोगपूर्वक की जीवन की तपश्चर्या है; शब्द में, शब्द लालित्य में, विचार में और मनोभावों में राचनेवाला **जीव** जीवन-विकास को सही रूप से नहीं साध सकता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७२)

* *

उत्तम शिल्पकार हो तब भी उत्तम रूप से मन चाहे पत्थर का वह शिल्प निर्माण नहीं कर सकता । ऐसे सर्जन के लिए उसे तो

अमुक प्रकार के शरतोंवाला विशेष पत्थर ही होना चाहिए। तभी उसमें से सर्जन के अंतर की उसके प्रति जागृत भावना की समझ के अनुसार निर्माण होता है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७४)

* *

भावना रहित हुआ सब कुछ, साधना के योग्य विकास के लिए मिथ्या है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७८)

* *

कर्म बिना ज्ञान नहीं होता है और ज्ञान के अनुभव बिना कर्म से मुक्ति भी नहीं है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३८२)

* *

गरज जगाने का काम कोई नहीं कर देगा, वह तो हमें अपनेआप जगानी होगी। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३८२)

* *

कहीं भी किसी का तिरस्कार करने से उसमें से नहीं निकला जा सकता। पर उल्टा दलदल में अधिक धँस जाएँगे।

जीवनविकास के मार्ग में तिरस्कार, घृणा, बैर, निंदा, अवमानना, अवगणना आदि वृत्ति का स्थान ही नहीं। बहुतों को ऐसा कहते सुना है कि, *'पाप को धिक्कारना सीखो, पापी को नहीं।'* परन्तु पाप और पापी इन दोनों को एकदूसरे से अलग करके अलग-अलग समझकर वैसे गिन सकने की ऐसी काम में आ सके सूक्ष्म विवेकशक्ति सामान्य **जीव** में तो होती ही नहीं। इसलिए पाप को धिक्कारने के साथ-साथ हमारा मन पापी को भी उसमें समा लेता है। इससे हमें तो सभी के प्रति अच्छे या बुरे के प्रति, एकमात्र जागृत सद्‌भाव ही रखना है। यदि हमारे जीवन में जीवनविकासक भावना का महत्त्व जागृत

रहा होगा, तो बुराई के प्रति हम चिपके नहीं रहेंगे अथवा चिपकते-चिपकते जाग जाकर बच सकेंगे, वह निश्चित मानें ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३८३-८४)

* *

सद्‌गुरु के वचन का पालन करते-करते मृत्यु आ जाय, तो उसे भी प्रेम से स्वीकार करने की तैयारी साधक में जागृत हुई होनी चाहिए । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३८४)

* *

महत्त्वाकांक्षा के भी प्रत्यक्ष लक्षण हैं । सच्ची महत्त्वाकांक्षा में तो खुमारी कोई और ही होती है । एक प्रकार की ध्येय की दिशा के प्रति धुन और उसकी मस्ती का नशा, उसके प्रति जागृत एकरागता, उसके प्रति तमन्ना, तन्मयता और एकतानता उसमें होती है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३९०)

* *

प्रयत्न में जब हृदयभावना मिलती है, तब प्रयत्न अधिक योग्य प्रकार का होता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३९२)

* *

सजग और संघर्षशील मनुष्य को तो कदम-कदम पर सोचना होता है । उसके तो प्रत्येक पल युद्ध की स्थिति जैसे होते हैं; आंतरबाह्य सभी जगह संग्राम जागृत रहा करते हैं ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३९५)

* *

सांसारिक जीवन की शृंखला से मुक्त हो ही न पा रहे हों और दूसरी तरफ मनुष्य की महेच्छा आध्यात्मिक जीवन के प्रति थोड़ी बहुत

भी हो, तो वैसे **जीव** को प्रार्थना कर करके भगवान की मदद माँगनी चाहिए । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३९७)

* *

सद्गुरु का कोई आकार-प्रकार नहीं, वह किसी एक प्रकार के चौकठे में जकड़ सके वैसी समझ नहीं है । यह मर्यादा नहीं, वैसे ही बंधन भी नहीं है । मुक्ति भी नहीं । वह तो जो हैं वह हैं ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४०४)

* *

जिसे है, उसे है, और जिसे नहीं, उसे नहीं । जिसके हृदय में जब वह जाग जाता है, तब से वह बुझता नहीं है । एक बार जगाकर यदि उसे प्राणवान कर सकें, तो उसके नये-नये अवतारों के अनुभव अभिनव प्रसंगों में हमें हुआ ही करते हैं । सद्गुरु को अमुक प्रकार से ही समझना वह तो अज्ञान है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४०४)

* *

जीव *प्रकृति को चैतन्यमय ज्ञानपूर्वक लय प्राप्त करना इसका नाम मरकर जन्म लेना है ।* ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४०५)

* *

मन तो भरपूर संसार से भरा हुआ रखा करना हो और भजन गायें या रामनाम लें तो इससे कुछ होनेवाला नहीं है । प्रभु के लिए रोमरोम में आग पैदा हुए बिना, ऐसी प्रेमभक्ति का शौर्य हृदय में प्रगट हुए बिना प्रभु को प्राप्त करना दुर्लभ है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४०६)

* *

'प्रेमशौर्यअंकित' हृदय की भक्ति आते ही आधार भी बदल जाता है । करणों द्वारा काम करती प्रकृति भी बदलती हुई अनुभव होती

है । भगवान के लिए ऐसा नैसर्गिक प्रेमभाव जब उत्कटता से प्रकट होता है, तब वह सब कुछ झाड़ पोछकर स्वच्छ, शुद्ध कर देता है और श्रीभगवान की प्राणप्रतिष्ठा करने के लिए आंतरिक भूमिका को वैसी योग्यता वाली बना देता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४०६)

* *

प्रभु के प्रेम बिना दूसरे किसी भी उद्देश्य का संपूर्ण अभाव, दंभ, अहम् आदि निम्न वृत्तिओं का संपूर्ण अभाव, भावताल करने की वृत्तिवाली कोई भी गिनतीभरी माँग का भी अभाव, प्रभु की खातिर ही प्रभु, अंत:करण की भावना से सज्ज हुई ऐसी पवित्रता– यह सारा साधक को अपने आधार में जागृत करना है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४०७)

* *

कितने ही **जीव** अपनी अशक्ति, प्रकृति, तामस अथवा खाली खाली पड़े रहकर बेकार समय बिताकर निष्क्रियता को ऊपर-ऊपर से तो दोष देते हैं और स्वीकार करते हैं । परन्तु अंतर में अंतर से वैसी अपनी दशा निर्मूल करने की बात पर वे सही रूप में उत्कट तमन्ना से हृदय में तड़पते नहीं हैं ।

साधक को अंतर्यामी के साथ का आंतरिक भावात्मक संबंध किसी न किसी साधन से, निरन्तर हरपल एकसमान जागृत रह सके और वैसे भाव में उसके साथ हृदय में हृदय से एकरस हो सके ऐसे ज्ञानभक्तिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४०८)

* *

जीवनविकास के प्रति जो आशावाद है, वह जहाँ-तहाँ, जिस तिस में बेकार कोशिश नहीं करते । उसका मार्ग, मति-गति और निर्णय सभी निश्चल होता है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४११)

* *

गुरु के चरणस्पर्श, साष्टांग दंडवत् प्रणाम, चरणामृत पीना, फूल चढ़ाना, धूपदीप, पूजाअर्चना, अगरबत्ती करना, मालाएँ पहनाना, भेंट सौगात देना, यह सब और इतना ही मात्र करना– इससे जीवनविकास की दिशा में कुछ भी नहीं होनेवाला है । जो काम करना है, उसकी जागृति, निष्ठा, सावधानी, देखभाल, आदि अभी कहाँ प्रगट हुए हैं ? स्वयं के काम का जागृत रटन प्रतिदिन के व्यवहार-आचरण में कहाँ रहता है ? केवल 'गुरु' 'गुरु' करने से क्या हो सकता है ? केवल गुरु के नाम का जयनाद पुकार करने से क्या हो सकता है ? ये सारी तो बाह्य पूजा है । इसका भी स्थान है, यदि इससे आंतरिक भाव उसके यथार्थ रूप में आ सकता हो तो, अन्यथा नहीं । इससे तो बहुत होगा तो इस मार्ग की अभिरुचि पैदा हो, इससे विशेष कुछ नहीं है । इसलिए जो सही में करना है, उसमें दिल लग जाना चाहिए । गुरु के साथ हमारे हृदय के तार का ज्ञानभक्तिपूर्वक का हृदय में हृदय से अनुसंधान हरपल संपूर्ण चेतनयुक्त जागृति में होना चाहिए । ऐसा अनुसंधान जब जागृत दशा में हृदय में पैदा होता है, तभी साधना सहजता से इस कक्षा में प्रवेश कर सकती है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४१६-१७)

* *

मीरां ने कहीं किसी को या किसी की अवगणना नहीं की । उसने जो किया है वह सुधार के उद्देश्य से भी नहीं किया । उसके और उसके प्रभु के बीच जो भी आड़े आये वह सभी उसने श्रीप्रभु के चरणकमल में प्रेमभक्तिभाव से समर्पण करती ही रही । उसके जीवन में कहीं भी स्वच्छंदता, उच्छृंखलता नहीं थी । उसकी सर्वस्व स्वार्पण करने की तैयारी सब तरह से और सर्व भाव से जागी थी । वह तो श्रीहरि का

वरण कर चुकी थी । श्रीहरि के लिए हृदय की उसकी आतुरता इतनी प्रचंड भाव से रहा करती थी कि उसके आगे संसार स्वयं शून्यवत् हो गया था । हम उसके आगे एक बेंत जितने भी नहीं हैं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४१९)

* *

रागद्वेष से उबरने के लिए हमें कोई खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता, पर सही प्रयत्न करना है प्रभुमय जीवन जीने के लिए । वैसा जीवन जीने की कला यदि प्रभुकृपा से प्राप्त हो सकी, तो रागद्वेष का तूफान जीवन से अपनेआप अदृश्य हो जाएगा । रागद्वेष और द्वन्द्वादि से मुक्ति पाने के लिए जो **जीव** प्रयत्न करता है, ऐसे प्रयत्न में जीवन का कल्याण नहीं ऐसा कहने का आशय तो नहीं ही होगा; परन्तु यह सारा प्रभुमय जीवन हो जाने से अपनेआप फलित होनेवाला ही है । इसलिए जो झुकाव देना है, वह गुणों की प्राप्ति की साधना पर नहीं, परन्तु आंतरिक जागृति और प्रभुभाव पर सही झुकाव देना हैं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४२०-२१)

* *

जिस **जीव** को चेतन का अनुभव करने की महत्त्वाकांक्षा है, ऐसे **जीव** की प्रार्थना तो हरपल उसके जीवन के तानेबाने में सतत निरन्तर जागृत बुन जानी चाहिए । ऐसे की प्रार्थना तो उसके प्रत्येक दैनिक व्यवहार, आचरण, संपर्क, संबंध, विचार, भावना, वृत्ति, बातचीत, कर्म उन सभी में ओतप्रोत हुई होनी चाहिए । ऐसे **जीव** की प्रार्थना में भाषा के व्यक्त शब्द मात्र नहीं होते; उसकी प्रार्थना तो उसके हृदय

द्वारा होनी चाहिए । जब ऐसी प्रार्थना फलित होती है, तब वह चेतना प्रेरक, प्राणवान होती है । ऐसी प्रार्थना स्वयं ही शक्तिस्वरूप हो जाती है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४२५)

* *

प्रत्येक हकीकत और प्रसंग के बहुत से पहलू होते हैं; इससे उसका समग्रता से जागृत ख्याल न रह सके, तब तक हीं किसी विषय में बुद्धि अपने निर्णयात्मक रूप में न प्रवेश करें, वही उत्तम है । 'अच्छा या खराब' यह तो मात्र मनुष्य के मन की सीमा का लक्षण है । इससे पर होने पर इन सभी का मूल्यांकन नहीं टिक सकता । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४२७)

* *

साधारणतः सद्भाव से सद्भाव होता है । यद्यपि सद्भाव रखे इससे सामनेवाला व्यक्ति अचूक सद्भाव रखेगा ही ऐसा न भी हो । ऐसे समय में हमें अपने सद्भाव पर आत्मसंतोष होना चाहिए ।

किसी के भी प्रति सद्भाव हो इसलिए सामनेवाले **जीव** के **जीव** प्रकार के भाव को सहारा देना चाहिए, ऐसा कुछ नहीं । सद्भाव रखने पर भी अयोग्य भाव का सामना हो सकता है । प्रह्लाद, ध्रुव के उदाहरण मौजूद हैं । मीरांबाई भी मध्ययुग में हो गई और दूसरे अनेक संतभक्तों के ऐसे उदाहरण हमारी जानकारी में हैं ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४२८)

* *

भावना को कर्म में प्रवेश कराना होगा । कर्म का परिणाम और उसकी कक्षा– जो उस कर्म में भावना हो और वह भी उस उद्देश्यलक्षी ज्ञानपूर्वक की हो तो– बदलते रहते हैं । इसप्रकार कर्म अति उत्तम

कक्षा का होने पर भी, यदि भावना ज्ञानपूर्वक उत्तम कक्षा की उसमें प्राणवान न रहा करती हो, तो वैसे उत्तम कर्म का भी परिणाम उत्तम प्रकार का नहीं आ सकता । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४२९)

* *

हमने जो काम हाथ में लिया हो तथा जो काम आ मिला हो उसमें मानो कि सफलता न भी मिले, तब भी उस काम के प्रति हृदय में उत्साह बनाये रखना है । हमारा काम के साथ और उसमें रहे अंतर्गत भाव के साथ संबंध है। काम के परिणाम से कोई मतलब नहीं । काम करने और काम करते रहने से परिणाम तो निश्चित है । संकल्प की शक्ति बहुत बड़ी है । आत्मविश्वास आये बिना संकल्प में शक्ति जागृत नहीं हो सकती। इसलिए जो काम हाथ में लें, उसमें संपूर्ण आत्मविश्वास दृढ़ करें और पूरा करके ही चैन लें।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४३०)

* *

काम करते-करते उस काम से कहीं भी रागद्वेष न हो उसकी संपूर्ण जागृति रखें। साधक का प्रत्येक कर्म रागद्वेष मिटानेवाला होना चाहिए, ऐसी जागृति रखते हुए हमें संसार में व्यवहार करना चाहिए।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४३०)

* *

अवगुण या दोष का स्वीकार जैसे उससे पर होने के लिए है, उसी तरह कर्म का स्वीकार उससे रागद्वेषादि की मुक्ति के लिए है।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४३०)

* *

जो **जीव** बालक के जीवन को रौंद डाले, वह राक्षसी प्रकृति का है ।

* *

साधनायम जीवन ही सच्चा जीवन है । साधना से जीवन में जीवन के सहस्र नयन खुलते हैं । जीवन में अनेक पहलू के साधक दर्शन खुलते जाते हैं । वह जीवन के सहस्रमुखी नारायण के दर्शन करता रहता है और जीवन के सर्व पहलुओं को वह सादर और सद्‌भाव से देखता है । जीवन के अनेक क्षेत्रों के प्रति सद्‌भाव के साथ वह तो सुमेल रखता रहता है । जीवन की संपूर्ण रचनात्मक प्रवृत्ति में वह समाधान पाता रहता है । उसे किसी के साथे विरोध नहीं ।

* *

यदि ध्येय के प्रति लक्ष्यबिन्दु एकाग्र, केन्द्रित, जागृत, निरन्तर रहा करता हो तो जीवन में आती-जाती परिस्थितियाँ और संयोग हमें वेधक एवं प्रेरणात्मक जीवनदृष्टि देते हैं ।

* *

जीवन में जीवन के ध्येय की भावना जब ज्वालामुखी के जैसी दहकती ज्वलन्तरूप से जागृत हो उठती है, तभी ध्येय के प्रति भावना के अनुसार आचरण प्रत्येक होते जाते हुए कर्म में पैदा हो सकती है और ऐसा मनुष्य जागृत हो सकता है ।

* *

स्फुट रूप से कुछ समझने की इच्छा न रखें । जितना अधिक सूक्ष्म रूप से कहा गया हो हम से समझा जाय उतना अधिक अच्छा, इससे हमारी बुद्धि कसती है और अधिक सूक्ष्म होती है । वस्तु का यथार्थ रूप क्या है और हमारी परिस्थिति के अनुकूल क्या है, वह भी इसकारण हमें समझ में आने लगता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २-३)

* *

भले कोई हमारी सरलता का, नेकदिली का गैरलाभ उठाता हो । सचमुच का गैरलाभ तो उसे ही है, हमें नहीं । ठगनेवाला ही सही रूप में ठगा जाता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २-३)

* *

पैसों की गिनती नहीं करनी है, यह जितना इस मार्ग में अच्छा है, उतना ही अच्छा उसका अयोग्यरूप से व्यवहार न हो, उसे देखने का काम भी हमारा है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ४)

* *

इच्छाशक्ति का बल वृत्ति, विचार या वासना से कहीं अधिक गुना अधिक है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ५)

* *

गुरु को किन शब्दों में संबोधन करते हो, उस ओर लक्ष्य देने के बदले कैसा भाव हमारे में आता है, उस ओर लक्ष्य देना आवश्यक है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८)

* *

मनुष्य अपने आपको जितना जानता पहचानता है और अपनी (आत्मा की) सेवा करता है, उतने ही प्रमाण में वह संसार को पहचानता है और संसार की सेवा करता है ।

'यह संसार खिंचता चलता है और तुम्हारी या मेरी मदद की उसे आवश्यकता है' ऐसी मान्यता सही नहीं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११)

* *

हमारा धर्म तो निर्बल की ओर हमदर्दी रखना है और गलत काम करनेवालों को भी चाहना है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १२)

* *

जगत अर्थात् एक भव्य महान आध्यात्मिक कसरतशाला या व्यायामगृह है, जिसमें हम सभी को व्यायाम करना है कि जिससे हम अधिक से अधिक आत्मबलवाले बनें ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १२)

* *

जितना अधिक हम शान्त रह सकेंगे और हमारे ज्ञानतंतु जितने अधिक स्वस्थ होंगे, उतना ही अधिक अच्छा हमारा जनसेवा का भी काम होगा और हमारा प्रेम भी उतना बढ़ेगा । इसलिए मुख्य तो यह है कि हम किसी तरह स्वस्थ, शांत और उसके कारण शक्तिशाली हो सकें और हमारी नाड़ियाँ एवं ज्ञानतंतु किस तरह अस्वस्थ, अशांत, कंपायमान होते रुकें; यह देखना हमारा काम है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १३)

* *

जिस तरह समुद्र में अनेक छोटी बड़ी नदियों के बहाव बहते हैं, वैसे संतात्मा के पास भी अनेक प्रकार के लोग अपनी अपनी मुरादें पूरी करने के लिए जाते हैं । वैसे 'शंभुमेला' मय वातावरण के विषय में हमें तब अन्यथा रूप नहीं लेना है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १५)

* *

जगत है, वहाँ तक इसमें अनेक प्रकार के प्रवाह और प्रतिकूल प्रवाह रहा ही करेंगे । सत-असत, सुख-दुःख, प्रकाश-अंधकार — ऐसे द्वन्द्व संसार में रहा ही करेंगे । हाँ ! ऐसा हो कि कभी सत अधिक प्रमाण में प्रधानरूप में रहा करे, कि जिसे हम 'सत्ययुग' कहते हैं । इसतरह सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग चार काल की कल्पना उद्‌भवित हुई होगी । प्रत्येक युग में थोड़े प्रमाण में बाकी के

तीन युग होते हैं ही और हम में भी चार युग हैं । उसमें से दूसरे युगों को घटा घटाकर और फिर वह सत्ययुग के भी ऊपर होकर जीना तो हमारा ध्येय है । स्थल और काल तो हमारे शरीर तथा उसके अंदर के तत्त्वों के खेल से संबद्ध है और उनके कारण है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १५-१६)

* *

उत्तेजना के समय तो नामस्मरण अधिक उग्र तेजस्वी होना चाहिए । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १६)

* *

परिस्थिति का धर्म बजाते-बजाते उसे छोड़कर आगे बढ़ते जाना है । हमें एक ही परिस्थिति से चिपके नहीं रहना है । क्योंकि एक ही स्थिति में रहने से वहाँ आसक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता । इसलिए उसका कार्य पूरा होने पर उसे (परिस्थिति को) छोड़ना ही होगा, फिर वह हमारे लिए मृतवत् हो जाता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १६)

* *

सत्य के अनेक पहलू हैं और वह प्रत्येक जगत में अपना वर्चस्व जमाने के लिए संघर्षरत रहेगा । उस समय ये सारे मताग्रहों की आमने-सामने खींचतान में उनमें एकाद दो या अमुक पहलुओं के आग्रह में हम खिंचते तो नहीं चले जाते न ? वह देखना रहेगा । हमारा जीवनमुख तो सहस्र नेत्रवाला, सहस्र जीभवाला, सहस्र कानवाला, सहस्र इन्द्रियोंवाला, संक्षेप में हमें सहस्र शरीरी बनना होगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १७)

* *

वृत्तिओं को जिस तरह की बहने की आदत है, उसमें न बहने देने के लिए जागृति, सावधानी, दृढ़ता आदि प्रत्येक छोटी से छोटी

बात, आदत या लक्षण में यदि रहा करे और उसके सामने युद्ध किया जाय, तो काम शीघ्र आगे बढ़ सकता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १९)

* *

विचारों की शृंखला दिन के दूसरे समय में भी (ध्यान, त्राटक, नाम-स्मरण आदि साधनों के समय के अलावा समय में भी) न रहा करे, वह भी देखते रहना है । हमें युद्ध कहीं नहीं करना है, इसकी साधक के जीवन में मर्यादा नहीं हो सकती ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २०)

* *

जो कुछ है वह यथायोग्य रूप से ही प्राप्त हुआ है, इसलिए कुछ भी नकारना नहीं है, पर जो है उसका साधना की दृष्टि से और उपयोग करना है और उसके विषय में समझ बढ़ाते रहना है ।

हमें प्राप्त जगत, शरीर, माता-पिता, सगेसंबंधी, भाईबहन, पतिपत्नी, धनसंपत्ति, संयोग, परिस्थिति अरे ! इन सभी के अलावा यह जीवन भी केवल साधना के उपयोग के लिए मिला है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २०)

* *

जगत या जीवन में यदि दूरदृष्टि से देखें तो लगेगा कि कोई भी कहीं स्वतंत्र नहीं है । हमारी मानी हुई समझ, मान्यताएँ, जीवन के सुख के साधनों के समझोते अनुसार ही यह सब निर्विघ्न चला करे, उसमें सरलता रहा करे, कहीं जरा भी टक्कर न हो, ऐसे संयोग और ऐसी वृत्ति को हम स्वतंत्रता मान लेते हैं । पर सचमुच में उसमें स्वतंत्रता नहीं है । यह तो इन्द्रियों की वृत्तिओं के गुलाम होते जाने का रास्ता है । जगत में कोई भी स्वतंत्र नहीं है । जिन्होंने भगवान

का अनुभव किया है, वे ही एकमात्र स्वतंत्र हो सकते हैं । बाकी सभी संसारचक्र की गुलामी में पड़े हुए हैं और संसारचक्र की लीक में कौन नहीं पड़ा है ? ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३)

* *

हम भगवान संबंधी सारे ख्याल छोड़कर कोरे पन्ने या कोरी स्लेट जैसे होने के बाद जो कुछ उसमें होने जैसा हो वह मात्र दर्शक बनकर हम होने दें । इसतरह मन के पुराने सारे संस्कारों को मिटाकर ही हम उसके आगे समूल नग्न (पवित्र और शुद्ध) हो सकेंगे और तभी सच्चा भागवतभाव हमारे में जन्म लेगा । तब उस भाव के संचार की तीव्रता कुछ निराली ही होगी । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६)

* *

हमें शरीर को दुःख देने से अलग रहना है और शरीर को बहकने भी नहीं देना है । मध्यम मार्ग रखना है । हमारी साधना में भोजन मुख्य नहीं है, पर उत्कट जिज्ञासा और खप जाने की तमन्ना यह सबसे बड़ी बात है । यद्यपि भोजन प्रारंभ में कुछ प्रभाव डालता है, तब भी उस पर जरा भी झुकाव या महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६)

* *

'बाड़ के बिना बेल नहीं चढ़ सकती' *इसका अर्थ ऐसा नहीं कि गुरु के बिना ज्ञान आ ही नहीं सकता । इसका अर्थ यह है कि हम में जो भावना जागी है, उसका विकास करने अमुक योग्य कदम लेने चाहिए ।* ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७)

* *

आ पड़े काम से भागने की वृत्ति न रखें और अपनेआप जो कुछ भी आ जाय– हमारे अपने किसी प्रकार के विचार बिना– उसका सहर्ष स्वीकार करें । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७)

* *

जगत मिथ्या नहीं, असत्य नहीं, पर जगत को देखने की हमारी दृष्टि असत्य है । जब हम भावनामय हो जाते हैं, तब जगत 'जगत' की तरह नहीं रहता; भगवान के व्यक्त स्वरूप के रूप में तब हमें वह दीखता है ।

हमें व्यवहार को नकारना नहीं है एवं उसके वश में भी नहीं होना है । हमें भगवान के एक जीवंत सज्ञान, भानपूर्वक चेतना-वाहन के रूप में संसार-व्यवहार में जीना है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २८)

* *

सतत अभ्यास और वैराग्य के बिना हमें सही दृष्टि, सच्चा ज्ञान नहीं मिलेगा । *अभ्यास अर्थात् हमने जो ध्येय रखा है– भगवान को प्राप्त करने का– उसका ही सतत चिंतन प्रेम-भक्तिभाव से हमारे में जाग्रत रहा करे वही ।* वह हमारी जिज्ञासा और तमन्ना को वेगवान, प्राणवान, बलशाली और चेतनाशील बनाया करेगा । इन सबके लिए हम में वैराग्य की भावना भी खूब प्रबल होनी चाहिए । *वैराग्य अर्थात् 'संसार, जगत मिथ्या है', आदि विचार नहीं, पर किसी भी बात की हमारी आसक्ति न रहे, राग न रहे उसका नाम वैराग्य । वैराग्य अर्थात् निष्काम, निर्मोह, निराग्रह, निरहंकार, निर्लोभ आदि की समग्रता ।*

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २९-३०)

* *

भगवान की शरण से कितना भी दुष्ट मनुष्य सुधर जाता है । अनेक बार तो उसकी योग्यता उस मार्ग में अधिक भी हो सकती है । जितना अधिक पतित और पापी उतना उदय भी शायद अधिक वेगवान होता है— जैसे जमीन पर पड़ा बौल जितने जोर से नीचे पड़ेगा, उतने जोर से ऊँचे उठेगा— अलबत्ता इसविषय में सार्वत्रिक नियम नहीं बांध सकते हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३१)

* *

पर्वत की बड़ी-बड़ी शिलाओं के अंदर रहा पानी उसके छिद्रों में से भी बहने का जोर करता रहता है । उसी तरह हमारे अंदर रहा भगवान प्रगट होने के लिए हमेशा तैयार रहता है । केवल हमारी तैयारी या तमन्ना जागी नहीं होती है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३)

* *

एक घड़े का मुँह मजबूत बंद करने के बाद उसे समुद्र में डालने से उसमें पानी नहीं भरेगा । वैसा अपना है । इसलिए *मुँह और हृदय खोलकर, उसमें भगवान का नाम-भाव जितना भरा जाय उतना भरा करें तो फिर वह परम कृपालु हमें सभी जगह दीखने लगेंगे ।*

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३)

* *

साधना करते या ध्यान के समय या किसी भी समय चमत्कार दिखें; हम में कोई नई शक्ति आयी है ऐसा लगे; कुछ सिद्धि मिले; परन्तु इन सभी की ओर कोई लक्ष्य न रखें । वे फँसानेवाली चीजें हैं । हमें तो भगवान ही प्राप्त करने हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३)

* *

गुरु की ओर से कोई नासमझ सूचना हो वह करने में भी उमंग रखकर वैसा करने से एक प्रकार का शरणभाव आता जाता है; और हमारी तरह ही काम लेने या करने के आग्रह घटते जाते हैं। शरणागति विकसित करने के लिए ऐसी तालीम उपयोगी है।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३६)

* *

ध्येय के प्रति असावधानी का नाम है मृत्यु।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३६)

* *

हमारे लिए कोई थोड़ा कुछ करे अथवा दूसरों का राई जितना भी यदि अच्छा हो, वह हमें भावना से करके पहाड़ जैसा लगा करे, ऐसी साधक की दृष्टि होनी चाहिए। इससे परस्पर हृदय अधिक पास आया करेगा। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ४८)

* *

पत्रलेखन यदि चेतना-शृंखला से जुड़कर लिखते हुए लक्ष्य में भावमूर्ति को हृदय में रखकर लिखा करें तो हृदय में अधिक आनंद रहता हुआ अनुभव होगा। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ५१)

* *

प्रेम को हम अपनी भूमिका के माप से मापने का प्रयत्न करते रहते हैं इसलिए ही बाधा आती है न ? लोग जिसे 'प्रेम' 'प्रेम' पुकारा करते हैं, वह प्रेम नहीं है। पर, अपने स्वार्थ की समझ के अनुसार केवल उस प्रकार का भाव है। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ५४)

* *

हम हृदय को पहचानें यानी कि भगवान को पहचानें— नहीं कि मनुष्य को।

हमारे आंतरिक जीवन का प्रवाह सतत एकसमान हृदय के आधार अनुसार बहता रहे तभी जीवनविकास होगा ।

जिसकी नींव पर हम जीवनविकास करना चाहते हैं, उस नींव में श्रद्धा, भक्ति और हृदय के प्रति प्रामाणिकता और वफादारी भरपूर भरी होनी चाहिए । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ५९)

* *

एक समय यदि साधना के मार्ग में दृढ़, निश्चयात्मक, मरजिया दृढ़ता आ जाय तो फिर कोई भी परिणाम आये उससे हमें डिगना नहीं है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ५९)

* *

हमारा कोई कर्म योग्य है कि नहीं उसे समझने की उत्कंठा एवं आतुरता हो वह समझ सकते हैं; परन्तु एक बार कर्म करने के बाद उसके विषय में बहुत फिकर चिंता नहीं करनी चाहिए । ये सारे विचार कर्म के आदि में करने हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६०)

* *

सद्गुरु विषयक या हमारे साधनामार्ग विषयक हमारे आसपास, सगेसंबंधी या मित्रों में वाणी से या लेखन से जल्दी में अधीरताभरा प्रचार नहीं करना चाहिए । हमारे जीवन का विकास या हमारे स्वभाव का रूपान्तर जैसे-जैसे होता जाएगा, जैसे-जैसे उसकी सुंदर छाप, असर उन पर पड़ती जाएगी वैसे-वैसे उन्हें भी इस मार्ग के महत्त्व विषयक अपने आप लगे बिना नहीं रहेगा और ऐसा लगे तो वह अधिक तत्त्ववाला और गहरा असरकारक होगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६१)

* *

जीवनविकास के लिए रचनात्मक पठन हमारी समझ को विकसित करने के लिए मददरूप हो सकता है। जो कुछ करें वह साधना के अंग रूप में गिन लेना है। ऐसा पठन भावना के विकास के लिए है, इस दृष्टि से यदि पढ़े तो लाभ होगा। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६२)

* *

प्रतिक्षण धर्म बदलता जाता है; एक परिस्थिति का जो धर्म होता है, वह दूसरी परिस्थिति होते ही वही का वही नहीं रह सकता और प्रत्येक व्यक्ति के धर्म भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६२)

* *

सत्य का भी ऐसा ही है। हमारा सत्य वह दूसरे का न भी हो और हमारे इस क्षण का सत्य वह दूसरी क्षण बदल सकता है। सत्य अनंत है। उसकी सीमा नहीं। 'यही और इतना ही' सत्य है, ऐसा कभी नहीं कह सकते। 'अमुक ही सत्य' ऐसा यदि हो तो उसकी उस तरह मर्यादा बद्ध हो गई– सीमित हो गई– अर्थात् अनंतता का गुण उड़ गया और ऐसा होने पर वह स्वयं ही अपनेआप अनंत सत्य मिट जाता है।

* *

श्रीदत्तात्रेय गुरुजी ने चौबीस गुरु किये थे। उनमें मानवकोटि से भी निम्न श्रेणी के **जीव** थे। तब भी उनमें से उन्होंने जीवनतत्त्व को प्राप्त किया। उसमें महत्ता और खूबी तो उनकी अपनी थी। इसलिए इसतरह भी जो खूबी या महत्ता सद्गुरु में साधक को लगे तो उसमें सही महत्त्व साधक की विकसित दृष्टि और भावना का होगा। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६३)

* *

अपने दोष अपने आप मिल जाँय और उनमें अनुरक्त होने का मन न हो वह पर्याप्त नहीं । उसमें प्रवेश करते हुए मन को बेतुका लगे और फिर से भविष्य में उसमें से उबर जाने का दृढ़ निश्चय हो जाय तो वह उपयोगी है । यदि दोष दिखाई दें पर उनका निवारण न हो, तो फिर वहीं के वहीं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६३)

* *

दोष का बार-बार विचार न करें । इससे तो भगवान की भक्ति में मन लिप्त रहे वह अधिक उत्तम है । केवल दोष ही खोजने के लिए प्रयत्न नहीं करना है । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि दोषों के प्रति दुर्लक्ष करना है । दोषों को टालने का ही मात्र पुरुषार्थ करने का कर्म तो रुखा कर्म है । इससे तो प्रभुभाव से स्निग्ध हृदय रखने का पुरुषार्थ हुआ करे तो सब कुछ सरलता से हुआ करेगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६३-६४)

* *

जीवन में जब अनेक co-incidents– योगानुयोग हों, तब उसमें कहीं दिव्य शृंखला है, ऐसे अनुमान पर कोई आये और उसे ऐसी हकीकत के रूप में माने तो वह मात्र कल्पना है, ऐसा नहीं कह सकते । और उसके लिए प्रत्यक्षरूप से श्रद्धा-विश्वास जागृत करनेवाला भी वह हो सकता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६४)

* *

हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह चाहे बिना नहीं रह सकता । क्योंकि वह तो उसका लक्षण है । इससे प्रेमी जब चाहता है, तब वह अधिक कुछ नहीं करता होता । उसे तो निष्पक्ष रूप में चाहना ही पड़ता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६७)

* *

प्रेम की भावना का बुद्धि या समझ से ख्याल सही रूप में नहीं आ सकता । जहाँ तक हमारे हृदय इतने उदात्त, उदार और महानुभावी नहीं हो पाते, तब तक सच्चे प्रेम की भावना की कल्पना करना दुष्कर है और उसकी कदर भी नहीं हो पाती है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६७)

* *

अंतर से उत्पन्न हुई सद्‌भावना हेतु बीज हम मानें उससे कहीं अधिक गहरे पड़े होते हैं । किसी न किसी दिन वे उग निकलेंगे ही ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६८)

* *

हृदय की गहराई में जब हम जाते हैं, उस स्थिति में एकाग्ररूप से भावना के साथ जो कुछ बोला करें, सुना करें वह सब गहरा उतरता जाता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६८)

* *

एक रात में जीवन को पलटा नहीं जा सकता । 'एक क्षण में सब पलट जाता है ।' ऐसा कितनी ही बार कहा जाता है, उसमें साधारणतः अतिशयोक्ति होती है । स्वभाव का रूपान्तर पूर्णरूप से एकदम नहीं हो सकता । भाग्य से ही कोई विरल अपवाद हो सकता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६८)

* *

जीवन अर्थात् अनंत जन्मों के संस्कार लेकर आये ***जीव*** *की चेतनशक्ति की मानवदेह द्वारा होती वहनक्रिया ।*

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २२४)

* *

जीवन नदी के प्रवाह की तरह प्रतिक्षण पलटता रहता है और तब भी वह परिवर्तन पुराने के आधार पर ही होता रहता है । पुराने संस्कारों ने नदी के पट की तरह एक पट रचा होता है; उस पट में बहने की ओर जीवनप्रवाह का भाव और नये संस्कारों का निर्माण साधारणत: और स्वाभाविक रूप से होता है । इससे *इन्द्रियों के साम्राज्य तले मानव कर्म-संस्कार की गँठरी बाँधकर संसार में आया होता है और अधिक बड़ी गँठरी बाँधकर संसार से चलता बनता है ।*

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २२४-२५)

* *

इन्द्रियाँ निरासक्त होने लगती हैं और फिर वैसा होता है, तभी हमें सच्ची विवेकशक्ति मिलती है । ऐसी विवेकशक्ति की आँख खुलने से पहले के निर्णय हमारी बुद्धि के निर्णय होते हैं और हमारी बुद्धि अनेक जन्मों के संस्कारों से विविध रंगों से रंगी होती है; इससे ऐसी बुद्धि ने सुझाया निर्णय पूरीतरह सही है, ऐसा मान लेना यह प्रभुपंथ पर जाने में अवरोधकर्ता है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २२५)

* *

प्रतिक्षण बदलते विश्व में जीवन के जितना ही महत्त्व युक्त वस्तुस्थिति मृत्यु में है । जीवन और मृत्यु, उभय का वास्तविक स्वरूप एक ही है । जहाँ मृत्यु है, वहीं नूतन जीवन भी है और जहाँ जीवन है, वहाँ मृत्यु का परिणाम भी निश्चित है ।

मृत्यु और जीवन एक ही जीवनतत्त्व के दो दर्शन हैं ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २३५)

* *

मृत्यु के प्रति मनुष्य को हमेशा अरुचि और डर रहा करता है । उसका कारण उसकी अपरिवर्तनशील मनोदशा और अगम्य विषयक डर है ।

मृत्यु के पीछे शोक करने की असात्त्विक वृत्ति में, भावना में, निरी आसक्ति है और अनजानी गहरी स्वार्थवृत्ति भी होना संभव है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २३७)

* *

अगम्य और अकल्पनीय हृदय की भूमिका को जीवन की सर्व भूमिका के अंदर अवतरण करानेवाले साधन मनोभाव और भावना है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २४४)

* *

भगवान के जितने नाम हैं, उन सब नामों के पीछे जीवन में उस प्रकार के भक्तों के अनुभव निहित हैं; बाकी इससे अतिरिक्त रूप में भगवान में ऐसा कुछ नहीं है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २६०)

* *

सदाचार आध्यात्मिक जीवन का मूल आधार है । तब भी साधक अपनी अंतरात्मा की साधना में गहरे से गहरा जैसे-जैसे अनुभव से दृढ़ होता जाता है, वैसे-वैसे उपरोक्त प्रदेश में भी वह बद्ध नहीं रह सकता है । एक समय सदाचार उसके जीवन का मूल आधार था और वास्तविक रूप से सत्य था, और वही सर्वस्व भी था; परन्तु आगे चलकर, उस प्रदेश का कार्य पूरा होने पर, वह प्रदेश भूमिका पर पहले जैसा जागृत झुकाव उस **जीव** का रहता था, वह जागृत झुकाव का प्रदेश अब कोई उच्चतर दशा में मुड़ गया होता है, इतना ही है । और

वहाँ अपनी ज्ञानभक्तिपूर्वक की जागृत तटस्थता तो वह रखता ही है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २४६)

* *

जो गरीब बकरी से भी अधिक गरीब है और साथ-साथ जिसके अंतर में सिंह के जैसी शक्ति भरी है, वह सच्चे अर्थ में नम्र है ।

शक्ति स्वयं ही नम्र से भी नम्र और उग्र से भी उग्र है । यदि वह स्वभाव से नम्र से भी नम्र न हो तो वह जड़ जैसे दीखते पदार्थ में वह कहाँ से मिल गयी होती ?

शून्यता यह नम्रता का अंतिम माप है । शून्यता अर्थात् अहंता का सर्वांश में लय ।

जिसमें लेशमात्र भी अहंता या अभिमान नहीं रहा, उसी में नम्रता आती है ।

अहंता कभी-कभी तो नम्रता का स्वांग रचकर अपना वेश छिपाती है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २४७-४८-४९)

* *

कोई हमारा विरोध करे, तब हम धीरज न खो बैठें और जिसके साथ हमारा विरोध हो, उसके प्रति भी हम नम्रता से और आध्यात्मिक सद्वृत्ति से व्यवहार करें ।

साधारणतः हमारा यह स्वभाव ही हो गया है कि कोई हमारे मत को न मानता हो, उसे हम अपना विरोधी मान लेते हैं; यह असहिष्णुता का स्वरूप है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २५१)

* *

गहरा वैर हमेशा किसी न किसी प्रकार के गहरे घाव के कारण जन्म लेता है । फिर भले ही घाव करनेवाला व्यक्ति कोई दूसरा ही हो । घायल व्यक्ति फिर नहीं देखता कि घाव देनेवाला कोई है और अब मैं जिसे घाव दे रहा हूँ वह तो दूसरा ही कोई है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २५२)

* *

हमने जिसे समझने का प्रयत्न नहीं किया है, उससे हम उच्च हैं, ऐसे मिथ्याभिमान से फूल जाने की वृत्ति पर हमें अंकुश रखना चाहिए । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २५२)

* *

जीवन की सर्जन प्रवृत्ति असंख्य रूप से प्रगट होती है, उन सभी का मूल्य अप्रतिम होता है। कितनी ही बार यह सर्जनप्रवृत्ति महाभयानक संहार प्रवृत्ति द्वारा भी सधती है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २५२)

* *

भयानक और अनिष्ट दिखती प्रवृत्ति में भी, यानी कि प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति और प्रकृति में भी, इष्ट एवं अनिष्ट दोनों प्रकार होंगे ।

किसी भी काम करने की रीति में ऐसी 'सही और गलत' का संमिश्रण रहेगा ।

सामान्य रूप से अनिष्ट गिनी जाती वस्तु या परिस्थिति का सामना करने में आये, तब उसमें भी कुछ तो इष्ट है यों समझकर उसका सामना ही न करना यह एक प्रकार की भ्रम या अयोग्यता है,

इसीप्रकार उसका सामना करने में तटस्थता न रखते हुए कड़वापन धारण करना यह दूसरे प्रकार की भ्रम है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २५२-५३)

* *

संपूर्ण समभाव और प्रेमजन्य समझ से हमें संसार के अनिष्टों का स्वीकार करना चाहिए और उसकी आवश्यकता लगे वहाँ आवश्यकतानुसार उतनी मात्रा में सामना करना पड़े तो वह करना चाहिए ।

दिव्य चेतनाशक्ति तो मनुष्य को जैसा है वैसा ही स्वीकार करती है; वह सबल हो या निर्बल, जगत की दृष्टि से इष्ट हो या अनिष्ट हो, तब भी उस पर प्रेम रखती है, क्योंकि जिसमें उस चैतन्यशक्ति ने वास किया होता है, उनका प्रेम तो स्वयंभू और निरालंब होता है । प्रेमशक्ति से ही दुष्ट से दुष्ट लूटेरे या अधमाधम पतित मनुष्य को वे संत कोटि में पलट पाये हैं ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २५३)

* *

जैसे किसी खराब वातावरण में जाने से मन उसे भाँप लेता है, वैसे ही शरीर भी कितनी ही जगह से पीछे रह सकता है । फिर कितनों को तो ऐसे वातावरण का खुराक भी चाखे बिना ही अयोग्य और बेकार लग सकता है वैसे ही किसी स्थान पर बैठते ही शरीर से वातावरण की ध्वनि पकड़ में आ सकती है, जैसे चींटी की मीठी सुगंध सूंघने की इन्द्रियाँ प्राकृतिक रूप से अधिक तीव्र होती हैं ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २८१)

* *

सत्कर्म का बदला सत्कर्म ही देता है, उसमें अपेक्षा का स्थान नहीं है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २८१)

* *

वासनाओं का उनकी तरह ही उपयोग करने से उनका वेग बढ़ जाता है । इसतरह उनकी शुद्धि साध नहीं सकते । पर उनके बहाव के पट से भिन्न तरह से उसका ज्ञानभक्तिपूर्वक उपयोग करना होता है । उन्हें नकारना भी नहीं है और नहीं उन्हें जड़ बनाना है । नकारने और जड़ बना देने से उनका अस्तित्व कोई नष्ट नहीं होनेवाला है ।

गुणधर्म या स्वभाव का नाश संभव नहीं है । उसका रूपान्तर होता जाता है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २९५)

* *

परमतत्त्व के प्रति भाव की उत्कट प्रेममयता के कारण अपनेआप उसमें भूलने या मिटा देने से अहंकार शुद्धि के मार्ग पर जा सकते हैं । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २९८)

* *

जीवन कोई कालप्रवाह में तैरा करती लकड़ी मात्र नहीं है, परन्तु जीवन तो काल को भी वश रख सके ऐसी चैतन्यशक्ति का आविर्भाव है । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ९)

* *

लकड़ी में से कोई आकार घड़ना हो तो उस कारीगर के पास से उसे आकार देने का ज्ञान, उसके लिए उपयोगी साधनों की जानकारी और उन्हें योग्य कौशल्य से उपयोग करना आना चाहिए तथा उस लकड़ी में से आकार घड़ने के लिए सावधानी, अंतर्दृष्टि– इन सब की आवश्यकता है और वैसा ही साधना में होना चाहिए ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ९)

* *

चरण अर्थात् गति प्रेरित करनेवाले–गतिप्रेरक । उसमें उन्हें स्थितिस्थापकता है, गति है और ऊर्ध्वरूप भी है । इसतरह तीन गुणों का समावेश उसमें है और इस से भी वह पर भी है ।

हम चरणों के द्वारा ही खड़े रह सकते हैं, जहाँ जाना हो वहाँ जा सकते हैं; वह शरीर का आधाररूप है, तब भी उसकी कोई गिनती नहीं; इसतरह व्यवहार करते हैं। वह महत्त्वपूर्ण अंग होने पर भी मानो कुछ भी महत्त्व न हो ऐसा लगता है, इससे चरणों की भावना में ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता निहित है; वैसा हम से हो सके इसके लिए प्रतीक रूप में आध्यात्मिक मार्ग में उसकी पूजा का स्थान होना चाहिए; किन्तु वह जड़ रूप में नहीं। पैरों का ज्ञानभाव तो दासानुदास है। नम्रता बनाये रखना वह प्रत्यक्ष प्रतीक है। वह खुरदरा जड़ होने पर भी उसके सूक्ष्म भाव में और चैतन्य में अंतर नहीं पड़ता।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १०-११)

* *

जिस गति से हम में जागृत श्रद्धा पैदा हो, जिस गति से हृदय में भक्ति की प्रेरणा जागृत हो, सचराचर में व्याप्त चैतन्य को अंतर के उमंग से प्रणाम करने की सहज भावना जागे और ऐसा जहाँ-जहाँ और जब जब हो वहाँ वहाँ हमारे श्रीगुरुचरण हैं ऐसा अनुभव करें।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १३)

* *

नमन अर्थात् जिसे नमन किया जाता है, उसमें से ग्रहण करने लायक जो कुछ भी उत्तम हो, वह ग्रहण और स्वीकार करने की हृदय की उत्कट भावना से नमन कर उसे लेने का भाव रखना वह।

स्थूल नमन करने से कोई लाभ नहीं; बल्कि दंभ बढ़ने की संभावना है। संतमहात्माओं को मात्र चरण वंदन करने से कुछ होनेवाला नहीं है। ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १३)

* *

जिसे चिंता होने के पूरे सबल कारण और संयोग होने पर भी उसका कोई भार ज्ञानपूर्वक लगता नहीं, ऐसी प्रेमभक्तिपूर्वक की स्थिति को प्रसन्नता कह सकते हैं ।

प्रसन्नता यह कोई उछाल की स्थिति नहीं है और न ही किसी भाव की विह्वलता । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ३३)

* *

साधक को जिसमें भी पिरोने जैसा हो वहाँ-वहाँ से उसे सीखते जाना है । यदि वैसा नहीं होता तो वह कर्म सामान्य मानवी जैसे लीक की तरह करता है और हम भी वैसा ही करें तो उसमें फिर अंतर नहीं रहा । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ६१)

* *

परिस्थिति को सहन कर लेना और उसका स्वीकार करना इन दोनों में जमीन-आसमान का अंतर है ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ६२)

* *

अंध-अज्ञानभरी श्रद्धा से तो श्रद्धा न हो वही स्थिति अच्छी ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ७४)

* *

शुद्धि और सत्त्ववृद्धि की दृष्टि से जितना हमारा अपना जीवन रूपान्तर होता रहे, वही हमारी सच्ची कमाई—सच्चा धन है ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ७७)

* *

मानसिक और ऐहिक विकासार्थ जैसे अनेक प्रकार की शिक्षा लेते हैं; वैसे जीवन विकासार्थ कष्ट उठाने—सेवा करने—और शारीरिक श्रम उठाने की तालीम बहुत ही आवश्यक है ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ८४)

* *

प्रेम नीचे देखता है सही, परन्तु वह नीचेवाले की दृष्टि को ऊर्ध्वगामी करने के लिए । उसके नीचे के अवतरण में नीचेवाले को ऊपर प्रेरित करने के लिए । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८७)

* *

अभी तक जिसे हम त्याग मानते थे, वह त्याग न था । सच्चा त्याग तो आनंद में परिवर्तित होता है । विवशतावश, हो उसे त्याग नहीं कह सकते ।

समर्पण यज्ञ हमारे अंदर के करणों को उनके प्रकृतिधर्म से मुक्ति दिलाता है, जबकि **जीव** प्रकार का त्याग या देने का भाव हमें अधिक जकड़ता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८८-८९)

* *

यौवन तो चार दिन की चांदनी है । उसका उत्तम उपयोग आत्मा की पहचान के लिए होना चाहिए । संसारी का मन अमर है । साधक का मन वैसा नहीं है । वह जीवन को बेकार नहीं जाने दे सकता है । जो करना है, वह अभी ही कर लेना है । यौवन यह जीवन का सर्वश्रेष्ठ काल है । साधना के लिए भी यह समय उत्तमोत्तम है । साहस और अनजाने में कूदना यह तो मात्र यौवन ही कर सकता है । साधक का प्रथम धर्म इस अवधि को प्रेम से, उत्साह के साथ आदर्श की रणभूमि से जोड़ देना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८९-९०)

* *

कोई भी वृत्ति किससे उठती है, उसके गहरे मूल खोज निकालने की शक्ति साधक को प्राप्त करनी चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १००)

* *

प्रभु की लोहचुंबकीय शक्ति के आकर्षण के वर्तुल में हम आ सकें उतनी निकटता की मर्यादा में आने का काम हमारे हाथ में है । एक बार उस वर्तुल में, प्रवेश करने का कर सकें फिर तो जैसे सुई अपनेआप लोहचुंबक के समीप होने से खिंचती है वैसे ही हम भी रहेंगे । फिर खिंचने का प्रयास हमें नहीं करना पड़ेगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०१)

* *

प्रेम किसी की दया नहीं खाता । प्रेम में करुणा है । करुणा में सहानुभूति की भावना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०३)

* *

मन या मन की समझ सर्वश्रेष्ठ नहीं । मन का सत्य भी पूर्ण सत्य नहीं । वैसे ही सही सत्य भी नहीं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०५)

* *

किसी के द्वारा हम में जो कोई अच्छा या खराब होता है, वैसा होने में उसकी भूमिका हम में है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०६)

* *

स्थूल (धन, लक्ष्मी आदि) समर्पण कर देने से उसके प्रति आंतरिक ममत्व समूल नष्ट हो जाता है ऐसा भी न मानें । ममत्व होने पर भी, रहने पर भी, समर्पण की भावना का यज्ञ चला करे और संपूर्ण ममत्व निकल जाय ऐसी स्थिति पैदा हो, उद्देश्य रखना है । धन के निष्काम मालिक बनो, गुलाम नहीं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०८)

* *

संसारव्यवहार में प्राप्त धर्म हमें प्रभुप्रीत्यर्थ करना है, परन्तु उसके साथ ओतप्रोत नहीं हो जाना है। हमारा व्यवहार योग्य कुशलताभरा होना चाहिए। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०८)

* *

कमजोरी का स्वीकार सबल होने के लिए है। कमजोरी में पड़े रहने के लिए नहीं। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११०)

* *

मनुष्य मनुष्य को चाहता है, वह मनुष्य के लिए नहीं चाहता, परन्तु किसी न किसी प्रकार के उसकी ओर से संतोष पाने के लिए है या जुड़ा रहता है, इसलिए वह अपने लिए ही चाहता है। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११२)

* *

कर्म के विषय में अधीरता अधिक रहती है, परन्तु उसके साथ ही संपूर्ण धीरज भी रहनी चाहिए। कर्म का अंत लाने की अधीरता की जो वृत्ति रहती है और उसका शीघ्रता से अंत लाने का हमारा मन रहता है, यह भी यथार्थ नहीं है। कर्म में समता, शांति, धीरज, तटस्थता आदि की मुख्य भूमिका रहती है। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११४)

* *

समय के उपयोग के लिए व्याकुलता प्रशंसनीय है। उसके साथ ही समय का उपयोग जीवनविकास के लिए होना चाहिए, इसका सजग भान होना चाहिए। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११४)

* *

सामनेवाले या दूसरे को समझना त्यागकर जो स्वयं को ही समझने का लक्ष लेगा, उसका जीवनविकास योग्य ढंग से होगा। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११७)

* *

सर्व प्रकार से अभय हुए बिना ममता, राग, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि टाले नहीं जा सकते । साधना में सबसे पहले अभय की नींव मजबूत करनी पड़ती है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११८)

* *

प्रकृति और स्वभाव के आक्रमण जितने सामान्य **जीव** के जीवन में नहीं आते हैं, उससे अनेक गुना अधिक सच्चे और सचमुच ही साधना करनेवाले मनुष्य में आते होते हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११९)

* *

हम शरीर नहीं, मनादिकरण नहीं, प्रकृति या प्रकृति का स्वभाव नहीं हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १२५)

* *

जो कुछ बोलते हो, वह दिखावटी न हो, पर अंतर को प्रगट करनेवाला हो । स्वभाव, भावना से प्रेरित हथियार के रूप में जो बोलने का हो और बोल दे वह अलग है । हम भावना का उपयोग करते हैं वैसे सभान ज्ञानपूर्वक के ख्याल के साथ उसका जो उपयोग बोलने में हो, वह हकीकत अलग है । पहले में बोले हुए बोल हमारे मालिक बन बैठते हैं; जबकि दूसरे बोले हुए बोल के हम मालिक गिने जाते हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १२६)

* *

प्रेम अनुकूल भी हो सकता है और प्रेम प्रतिकूल भी हो सकता है । किन्तु प्रेम में अनुकूलता-प्रतिकूलता जैसा कुछ नहीं होता । सानुकूल-प्रतिकूल तो सामनेवाले **जीव** को लगता है । उसके दिल से तो उन दोनों में भाव ही है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १३०)

* *

खाली-खाली में ही मन को अन्यथापन में फँसाने की आदत होती है, तो वैसी आदत से मुक्ति प्राप्त किये बिना सामनेवाले के दिल को सही ढंग से हम नहीं समझ सकते ।

गुरु का कार्य तो डॉक्टर का है; रोग, गुमड़े, मुँह आना आदि दूर करने और आवश्यकता पड़ने पर ऑपरेशन करने का कार्य है । ऐसे समय में उस क्रिया को जो प्रेम से अपनाता है, उसका विकास शीघ्र होता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १३३)

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २२१)

* *

हड़बड़ी में मनोभाव - भावना की बाढ़ होती है सही; और वह उसी में ही– एक में ही– एकाग्र और केन्द्रित कर डालती है; परन्तु साथ ही यदि तटस्थता का गुण तब विकसित किया हो तो हड़बड़ी से भी वह आगे ले जाएगी । हड़बड़ी होना उत्तम है पर उसमें ही खो जाना ठीक नहीं है । हड़बड़ी डूबने के लिए नहीं, परन्तु ऊर्ध्वगति के लिए है । उसका उपयोग हो, उपभोग नहीं होना चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १३८)

* *

खुल्ली आँख से जो देखा हो, कानों से जो सुना हो, तब भी वैसे देखने और सुनने में हमारे मन की समझ जिस प्रकार की होती है उसीप्रकार की क्षमता में ही उसे देखने और सुनने का मर्म हमारी समझ में आता है । उन क्रियाओं के पीछे देखने और सुननेवाला सचमुच में तो मन है, और मन की समझ सत्य नहीं हो सकती । आँखों देखा और

कानों सुना भी कितनी ही बार हम जो समझे होते हैं, उससे अलग होना भी संभव है, यानी कि असत्य भी हो सकता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १३८)

* *

जब भाव जागता हो या जगा हुआ होता है, तब नींद बिलकुल भी न आये ऐसा होता है सही । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४१)

* *

लाखों रुपये दान में देने से या त्यागने से उसके प्रति ममत्व या राग चला जाता है या चला गया होता है, ऐसी समझ में कहीं दोष है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४२)

* *

दूसरों के कहे अनुसार हेतुपूर्वक और ज्ञानपूर्वक आचरण करने से हम निराग्रही होते जाते हैं, क्योंकि दूसरों का कहा करने में हमारी समझ से दूसरी तरह भी व्यवहार करना पड़ता है और उस तरह हमारे अहम् को पिघलना पड़ता है। दूसरों का कहा आनंद से और हेतुपूर्वक करने से हम गुलाम नहीं बन जाते हैं, उल्टे हम सामनेवाले से अपने आप को ऊँचा ले जाते हैं; जैसे भारी वस्तु हल्की होने से वह हवा में ऊपर तैरकर रह सकती है वैसे ।

स्वयंस्फूर्ति एवं उत्साह से स्वविकासार्थ सर्वस्वरूप से और सर्वभाव से किसी योग्य समर्थ के शरण में जाने से जीवन का अद्‌भुत विकास कर सकते हैं । शरण अर्थात् गुलामी नहीं । शरणागति का रहस्य महामूल्यवान है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४५)

* *

जीवन में जीवन के मूल्यांकन की प्रत्येक भूमिका अलग-अलग और बदलती रहती है । जीवन के परिवर्तन से ऐसा होना आवश्यक और सहज भी है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४७)

* *

प्रेम किसी को गुलाम नहीं बनाता, स्वयं जंजीर नहीं पहनाता, चारों ओर स्वतंत्ररूप से विचरण करने की पूर्ण स्वतंत्रता देता है, जैसे भगवान ने हमें बक्षी है वैसे । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४७)

* *

मनुष्य सब कुछ करने में समर्थ है । यदि इस विधान का स्वीकार करें तो फिर प्रारब्धवाद या नियति जैसी कुछ नहीं रहती । प्रारब्ध, पुरुषार्थ ऐसे सारे वाद जिसमें सही दहकती तमन्ना पैदा हो जाती है उससे चिपके नहीं रह सकते ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४८)

* *

जहाँ तक जगत है, द्वन्द्व है, गुण है, वहाँ तक सभी सत्य relative-सापेक्ष है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४८)

* *

सभी ललित कलाओं में जीवन की कला सर्वश्रेष्ठ है ।

* *

जगत में जहाँ देखो वहाँ सुसंवाद, सुमेल है । विसंवाद लगता है पर वह तो है मात्र सतही । समुद्र में बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं सही, पर उनके भीतर में तो गंभीरता और स्थिरता है । इतने सारे तकरार, भयानक विश्वयुद्ध, अनेक प्रकार के द्वेष, मुठभेड़— इन सभी के होने पर भी समाज टिका हुआ है मात्र सुसंवाद के बल पर । यह

सुसंवाद मानवसमाज के हार्द में गूढ़ रूप से विद्यमान है। जैसे चेतन को हम देख नहीं सकते, पर वह हकीकत है, वैसे ही इसके अंतर्गत सुसंवाद भी है।

जीवन भेद के पहाड़ के भीतर सुमेल का झरना,
बहा करे अंतर में, उसे निहारे, वह जीवन पाये।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १६५-६६)

* *

मनुष्य कितना अधिक डरपोक होता है! कहीं युद्ध आया, कहीं कठोर परिश्रम हुआ, कहीं टकराहट हुई कि मानो 'दुम दबाकर' भाग खड़े होते हैं। जीवन का साधक तो संग्राम में प्रेम से, शौर्य से झूम उठता है। उसे तो जीवन में अनेक प्रकार के युद्ध करने हैं। वह लड़ते-लड़ते खत्म हो जाने की उमंग से पूरी तरह तैयार होता है। वह तो कहता है शायद हारेंगे तो भी वह जीतने के लिए ही, उसकी हार में भी पराक्रम और पौरुष पैदा होता है। उस समय वह भगवान से अधिक चिपका रहता है। भगवान ही उसका सच्चा सहारा है ऐसा उसे लगता है। *'एक सहारा राम',* यह वह अनुभव करता है। भगवान के लिए आर्त और आर्द्रतापूर्वक हृदय से निकली हुई पुकार और उस समय उससे होती गद्‌गद भावनायुक्त प्रार्थना यही उसकी रामबाण औषधि है। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १६९)

* *

भगवान के भाव के लिए पुरुष या स्त्री जाति की मर्यादा नहीं है, लिंगभेद नहीं होता। उसका न तो काल होता है और न संयोग ही, उसकी कोई परिस्थिति नहीं। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १७३)

* *

मैत्री की भावना जैसे विस्तरित होती है वैसे स्पर्धा की भावना मिटने लगती है; करुणा जैसे-जैसे ज्ञानपूर्वक विकसती जाती है और

जैसे-जैसे उसका विस्तार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अहंकार का लय होते हुए अनुभव होने लगता है । मुदिता - सर्व प्रकार की प्रसन्नता का उदय होते ही ईर्ष्या का नाश होता जाता है । निःस्पृहता से क्षोभ, क्लेश, मोह, ममता आदि का लय होने लगता है । अतः साधक को चाहिए **जीव** प्रकार की प्रकृति की आदतों को– नकारात्मक वस्तुओं को निकालने के लिए उन पर जोश न दें और न महत्त्व दें, बल्कि मैत्री, करुणा, प्रसन्नता, निःस्पृहता आदि सात्त्विक भावनाएँ पुष्ट करने में जागृति के साथ ज्ञानपूर्वक प्रयत्नरत रहा करें ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८२-८३)

* *

जीव की **जीव** प्रकृति को ऊर्ध्व गति देने सज्ञान भावना का पुट देते रहना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८३)

* *

निंदा, अति निद्रा और लोककथा साधक के जीवन के लिए बाधक है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८३)

* *

उपभोग करने के समग्र पदार्थों के विषय में उपयोग जितना ही लें, जैसे एरंड का तेल पीने की गरज - आवश्यकता - जब लगती है, तब उपयोग से थोड़ा भी अधिक नहीं लेते, वैसे ही वस्तुओं का उपयोग मात्र निर्वाह जितना करें । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८४)

* *

कोई भी वस्तु, प्रसंग, परिस्थिति प्राप्त करने के लिए स्वयंभू इच्छा जरा भी न करें । इससे मन की नीरवता प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८५)

* *

जो कुछ अच्छा-बुरा, कम-ज्यादा मिला करे, उसके विषय में संतोष की भावना रखें; ऐसा करने से समता बनाये रखने में मदद मिलेगी । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८५)

* *

भूख, दुःख, अपमान और विरोधी के प्रति भी प्रीति रखें, तो सभी जगह अनुकूलता प्राप्त हो जाएगी । अपमान को अमृत समान माननेवाले और मान को विष के समान समझनेवाले **जीव** का कभी पतन होने का अवसर नहीं आता । *मान से देहाभिमान और अहम् बढ़ता है ।* ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८७)

* *

साधना के क्षेत्र में चढ़ते-चढ़ते साधक एक ऐसी कक्षा पर पहुँचता है कि जब वह एक में हिलमिल जाता है और फिर एक से अनेक होने के लिए सहजरूप से प्रेरित होता है । अज्ञान की **जीव**दशा में भी **जीव** अनेक होने की प्राकृतिक प्रेरणा से प्रेरित रहता है । एक से अनेक होना यह सहज नियम है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १९५)

* *

रास आये तो काम करो, रास आ जाय तो राम भजो ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २१०)

* *

जीवन में सद्भावना का संपूर्ण प्रभाव पैदा हुए बिना सभी **जीवों** के साथ हम उत्तमता से व्यवहार नहीं कर सकते ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २२६)

* *

जब हम बोलते हैं, तब शब्द की गति की लहर हमारे और दूसरों के कान पर पड़ती है । उसी तरह तेज की किरणों की गति के कारण

देख सकते हैं। शब्द और तेज को ग्रहण कर सकें ऐसा यंत्र यदि हमारे शरीर में योग्य ढंग से न हो तो हम सुन या देख नहीं पाते– जैसे कि बहरा और अंधा। इसीतरह विश्व में जो सूक्ष्म क्रियाएँ हो रही हैं, उनके प्रति हम बहरे और अंधे हैं। स्थूल इन्द्रियाँ उस सूक्ष्म को ग्रहण करने में असमर्थ हैं और सूक्ष्म इन्द्रियाँ जिसकी विकसित नहीं हुई हैं, उसे यह सब पहेली जैसी लगती हैं, जब कि जो भगवान की दिव्य सृष्टि के साथ और उसके दिव्य हेतु के साथ जुड़ चुके हैं, वे– ऐसे विरल आत्माओं– मिट्टी के देहधारी होने पर भी विश्व में सक्रिय रहे सूक्ष्म तत्त्वों के आंदोलनों को पकड़ सकते हैं– ग्रहण कर सकते हैं– उनके साथ तार मिला सकते हैं, सुन सकते हैं, देख सकते हैं। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २२७)

* *

संपूर्ण विश्व गति से बना है। सचेतन और अचेतन सभी वस्तुओं में जैसी जिसकी प्रकृति वैसी उसकी गति की लहर। हमारे में भी वैसी गति की लहरे हैं। क्रोध, प्रसन्नचित्त, विकारी वृत्ति, ऐसी किसी भी वृत्ति में हो तो उस प्रकार की लहरें पैदा होंगी। वृत्ति की जैसी और जितनी उत्कटता ऐसी उसकी लहरें। जिसे दिव्य दृष्टि मिल चुकी है, वह उन लहरों को देख सकता है, परख सकता है और आकलन कर सकता है। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २२८)

* *

जो सभी से मुक्त हो गया है, वैसे ही सभी में अपने ढंग से जकड़ा भी रह सकता है। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३१)

* *

जो भावना के गुण स्त्रीहृदय में हैं, उन्हें स्त्रीत्व कह सकते हैं। भावनापूर्वक का ऐसा स्त्रीत्व कितने ही समर्थ पुरुषों ने विकसित किया जाना है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के जीवन में ऐसा भाव आ चुका

था, यह सुविदित है । इसलिए ऐसे स्त्रीत्व की भावना पुरुष में भी हो सकती है, इसकी संपूर्ण संभावना है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३२)

* *

अति स्थूल निकटता प्रेम को समझने, अनुभव करने के लिए आवरण रूप है । यदि हम स्थूल रूप से समीप होंगे तब भी हृदय के प्रेम को परखने, समझने और अनुभव करने की कला यदि हृदय से नहीं अपनायी होगी, तो ऐसी निकटता हमें विघ्न रूप भी हो सकती है और स्थूल रूप से निकट होने पर भी अंतर में अंतर से हजारों मील दूर होंगे । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३५)

* *

कोई भी मत या अभिप्राय हमने बांधा कि हम ही बंध गये तो इतनी मात्रा में हम संकुचित बन चुके हैं ऐसा समझें ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३६)

* *

''**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।**'' (वह जिसे पसंद करता है, उसे वह मिलता है) ऐसा अनेकों को कहते सुना है– और अपना मनपसंद अर्थ निकालकर प्रमाद और विलास में जीवन बिताते हुए भी प्रभुमय होने की आकाशकुसुमवत् कल्पनाएँ करते हुए जाना है । यदि चेतन हमें पसंद करे ऐसी इच्छा हो अथवा भले ही इच्छा न करते हों तब भी उसके जैसे गुणधर्म हम में दिखाई दें तो ही वह हमें पसंद करेगा या वरण करेगा । संसारव्यवहार में भी परस्पर समान धर्म होते हैं, वही आकर्षण होता है, मैत्री होती है और पसंदगी जैसा होता है । समान गुणधर्म की वहाँ भी आवश्यकता रहती है । इसप्रकार चेतन

के गुणधर्म यदि हम में प्रगट कर सकें– और उसके लिए साधना आवश्यक रहती है ही तो ही श्रीभगवान हमें पसंद करते हैं, और हम उनके हो सकते हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३६)

* *

'सब कुछ प्रभु कराते हैं और करवाएँगे ।' ऐसा बोलना यह बिलकुल मिथ्या है । जब तक **जीव** में अहम् है, द्वन्द्वादिक वृत्तियाँ हैं, वहाँ तक ऐसा बोलना और मानना कोरा मिथ्याचार, दंभ और परिश्रम न करने से भागने की वृत्ति है । **जीव** की उस भावना के अनुरूप और उस अनुभव के लिए आवश्यक संपूर्ण श्रद्धा, विश्वास और प्रेमभक्ति तो प्रभु पर होती नहीं है, इसलिए **जीव** का वैसा बोलना व्यर्थ है, 'वदतोव्याघात' है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४३-४४)

* *

जहाँ तक दूसरे **जीव** विषयक हमें अन्यथापन रहता है, वहाँ तक ऐसा समझना है कि ज्ञान की दशा में आने में अभी बहुत देर है । ऐसा अन्यथापन आने पर अन्य विषयक विचार आते हैं और वे साधनामय जीवनविकास में बाधक हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४८)

* *

सामान्य रूप से तो, किसी भी **जीव** को हम जो मदद करेंगे उसका उपयोग वह अपनी प्रकृति और स्वभाव अनुसार ही करनेवाला है, इसे निश्चित समझ लें । उस मदद के दुरुपयोग होने के बाद उस विषय में मन में कोई विचार होने देना यह ठीक नहीं । भविष्य में हम उसके साथ सोचकर व्यवहार करें; अथवा हमारी अपनी उदारता और विशालता लाने के लिए भी उस **जीव** की फिर से मदद हो

सकती है । इसमें केवल एक हकीकत का ख्याल रखना होता है कि हमारे वैसे व्यवहार से सामनेवाले की प्रकृति की पकड़ को बढ़ाने और उसके अयोग्य व्यवहार में हम मददरूप हो रहे हैं क्या ? ऐसे संयोग में प्रसंग-प्रसंग को, व्यक्ति-व्यक्ति को और हमारे आंतरिक भाव को समझ समझकर परिस्थिति अनुरूप योग्य निर्णय करना होता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४९)

* *

कुछ भी किसी से भी ऊँचे-नीचे न हों, वह तो योग्य है; परन्तु वैसी दशा होने पर हमें सोचना है कि इससे हमारी प्रगति होगी या पीछेहठ ? हमें जो करना है, उसे करने के लक्ष्य में हमारी विशेष एकाग्रता और केन्द्रितता हो, और इसके लिए आतुरता उत्तरोत्तर बढ़ती जाय और तेजस्विता आती हुई यदि न अनुभव हो तो हम जहाँ थे वहीं रहेंगे या शायद पीछेहठ भी हो । जब हमारे ध्येय के प्रति हृदय की भावना ज्ञानभक्तिपूर्वक एकाग्र और केन्द्रित हो चुकी होगी, उसके बाद ही कहीं किसी के प्रति ऊँचनीच नहीं होगी ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २५३-५४)

* *

जीवन में– साधना में– हमारा शरीर– हमारी देह– एक बहुत बड़ी भूमिका निभाता है । इसके बिना मुक्ति मिलना संभव नहीं । शरीर मातापिता के कारण मिलता है । उसमें भी जननी, माँ ने तो हमें नौ-नौ महीने पेट में रखकर अपने खून में से खून दिया है, अपने मांस में से मांस दिया है, उनके देह के आधार पर हमारा देह जन्मा है, पालन-पोषण हुआ है । ऐसी जननी के प्रति गंगा के पुनीत प्रवाह

की तरह हमारे हृदय की भावना अखंड, निरन्तर और समग्ररूप से उमंगभरा न रह सके तो हमारी साधना उतनी कच्ची है समझें । **माँ** स्थूल **माँ** नहीं है, वह तो जीवन की प्रेरक और द्योतक है । माँ के प्रति हमारा व्यवहार हमारे हृदयस्थ भाव को विशेष रूप से पैदा करने के लिए है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २५६)

* *

हेतु की शुद्धता से ज्ञानपूर्वक, नम्रतायुक्त व्यवहार से तथा ऐसे व्यवहार में झलकती गहन हृदय की मार्दवता द्वारा हमें बुजुर्गों के मन-हृदय को जीत लेना है । जीवनपथ में हमें किसी से अलग नहीं होना है । सर्वप्रकार के भेद टालना तो हमने चाहा है । हमें तो हृदय से हृदय को जोड़ने के लिए प्रयत्नरत रहना है और ज्ञानपूर्वक के व्यवहार में अभेदभाव आये ऐसा जीवन प्रभुकृपा से लाना है । इसलिए यह भेदभाव जो है, उसे साधन रूप में लिया गया है । भेद को अभेद में परिवर्तित करना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६०)

* *

शांति, समता, प्रसन्नता, तटस्थता आदि जिस तरह अधिक से अधिक समय प्रतिदिन व्यवहार में रहा करते हों, उस तरह व्यवहार करें तो भावना से जीवन में आचरित होना संभव है । भावना में एकाग्रता और केन्द्रितता आये बिना साधना का हार्द नहीं पकड़ा जा सकता । भावना यह ज्ञानप्रेरक है, भाव आने पर ज्ञान आता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६८)

* *

किसी भी **जीव** के मृदु भाव को भूल से भी अवज्ञा की दृष्टि

से न देखें । प्रत्येक स्त्री का स्नेह कहें, भाव कहें, प्रीति कहें, मनोभाव कहें– इसका हमारे हृदय में जीवनविकास की भावना का एक प्रतीक रूप में स्पर्श होना चाहिए । इसके लिए जीवन में संपूर्ण सद्‌भाव, मान, आदर और भक्ति हमारे जीवन में उन्मेषित हो जाने चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७४-७५)

* *

जीवनविकास की साधना से जो सर्वभूतहितरतपन पैदा होता है, वह उत्तम प्रकार का दान है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७६)

* *

मात्र धर्मशास्त्र के अभ्यास द्वारा या बुद्धि के सूक्ष्म गहरे चिंतन द्वारा दिव्य शक्ति की दृष्टि और शक्ति नहीं आ सकती; क्योंकि द्वन्द्व प्रकार की वृत्ति–वासना से मुक्ति पाये बिना, रागद्वेष से पर हुए बिना, अज्ञान की दृष्टि लुप्त हुए बिना, कामनाओं पर विजय प्राप्त किये बिना और अहंकार से संपूर्ण निर्मूल हुए बिना, बुद्धि में बुद्धि की संपूर्ण शुद्धि और सात्त्विकता नहीं आ सकती । योग की साधना द्वारा ऐसी शुद्धि आ सकती है । साधना के मूल हार्द में कामना और अहंता की मुक्ति होती है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७७)

* *

कोई महान, ज्ञानी, अनुभवी आत्मा की प्रेरणात्मक जीवंत संस्कृति से तीर्थ प्रगट होता है । तीर्थ यह जीवन की भावना और संस्कृति का प्रतीक है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७७)

* *

मनुष्य जिसके पास से अपने जीवन का प्रकाश पाता है, उसकी

बातें करने के लिए हृदय के भाव स्वयं स्फुरित होते हैं । ऐसे हृदय के भाव को संयम और विवेक की मर्यादा में रखना है । ऐसी प्रगट हुई भावना का उपयोग साधना के भाव में करना है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २८०)

* *

जीवन के जो सारे आनंद जीवन के निचले स्तर की भूमिका के हैं और जब तक वह अति महत्त्वपूर्ण लगते हैं, इतना ही नहीं परन्तु वह जीवन में निश्चित रूप में मन से दृढ़ बने होते हैं, वहाँ तक हम उन सभी को छोड़ नहीं पाते । निचले स्तरों के ऐसे सुख की वासना मनुष्य तभी छोड़ सकता है, जबकि उन सभी का और उन सभी में से हृदय के दृढ़ अनुभव से उसका पूरीतरह भ्रम टूट गया हो । जहाँ पार्थिव सुख का पूरा अंत आता है, तभी उसी क्षण से ही परमार्थिक जीवन प्रारंभ होता है ।

कितनी ही बार मनुष्य की मान्यता अनुसार भरपूर सुख के आनंद में कभी-कभी अतृप्ति या असंतोष की ज्वाला पैदा होती है । ऐसे उसके जीवन में अवरोध आने पर भी कितनी ही बार हृदय के किसी उन्नतगामी जीवन की पुकार सुनायी पड़ती है । परन्तु ऐसे समय में योग्य तत्परता न होने पर ऐसी स्फुरित प्रेरणा अनेक बार शान्त हो जाती है और फिर दुबारा अंधकार छा जाता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २८०)

* *

जीवन और संसार की सभी समस्याओं और प्रश्नों का हल हम अभी तत्काल पूरी तरह ला देंगे ऐसा मानना केवल अज्ञान है । ऐसे सभी समाजसुधार के प्रयत्नों में सच्ची प्रामाणिकता, वफादारी, नेकदिली

और पूरी सच्चाई होने पर भी 'यह एक ही साधन ऐसा है कि जिसकी परिपूर्णता होने पर समाज का पूरीतरह, सर्वांगीण उद्धार हो जाएगा', इसप्रकार की उग्रता जब आती है, तब उसमें सत्य की शक्ति फीकी होती जाती है। जब 'यही सही है और दूसरा नहीं' ऐसी समझ जिस प्रयत्न में है, वहाँ चेतना का सही पूरा व्यक्तव्य नहीं है ऐसा मानें।

(यद्यपि) हम तो जिसमें सत्प्रयत्नशील हैं, प्रामाणिकता, सच्चाई, वफादारी तथा निष्ठापूर्वक व्यवहार है, वहाँ सविशेषरूप से सद्भाव ही रखना चाहिए। हमारी पद्धति संपूर्ण है और दूसरों की संपूर्ण नहीं है ऐसा मानने में भी दोष है। सत्य के अनेक पहलू हैं। इससे अमुक ही ढंग सही ऐसा आग्रह न रखें।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २८२-८३)

* *

जैसे-जैसे **जीव** का आंतरविकास होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी जीवनदृष्टि भी बदलती जाती है। कोई साधक साधना में अमुक मर्यादित उद्देश्य से जैसे कि देश के उद्धार के लिए शक्ति प्राप्त करने के लक्ष्य से जुड़े, परन्तु उसमें गहरे उतरने पर उसने धारण किये हुए उद्देश्य की दृष्टि के पीछे अज्ञान था, ऐसा तब वह समझे बिना नहीं रहता। इसतरह वह उत्तरोत्तर उच्च प्रकार के जीवन में प्रवेश करता जाता है। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २८३-८४)

* *

सुख बाह्य प्रकार के साधनों में नहीं; सुख तो है अंतर से प्राप्त होती सच्ची समझ में और उसके अनुरूप आचरण में।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २९०)

* *

हमें जो अच्छा लगता है या नहीं लगता उसे ही हम अनेकबार बुद्धि के स्थान पर– तर्क-दलील के स्थान पर, ऐसे या वैसे विचार के स्थान पर बिठा देते हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २९४)

* *

जीवन में आनेवाले आवेश या आवेग की हकीकत एकांतिक व्यक्तिगत रूप की है । हमें उसमें जैसा लगता है, वैसा सभी को न भी लगे । जब आवेग या आवेश से पूरे घिरे होते हैं, तब दूसरा कोई उसमें प्रवेश नहीं कर सकता है । ऐसी वृत्ति में एक प्रकार की गूढ़ता भी होती है । इससे वह अपनी मर्यादा के क्षेत्र में भले ही कितना ही महान हो, परन्तु उसके क्षेत्र के बाहर उसे ऊपर उठाने का आग्रह यदि भूलचूक से ही महान हो, परन्तु उसके क्षेत्र के बाहर उसे ऊपर उठाने का आग्रह यदि भूलचूक से भी रखें, तो अवगणना होने की संभावना रहती है सही । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २९५)

* *

यदि कोई हमें प्रेम न करता हो, तब भी हमारे प्रेम में कोई अभाव या कमी न आने दें । हम जो प्रेम करते हैं वह प्रेम-तत्त्व के गुण के स्वभाव के कारण करते हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २९७)

* *

अखिल विश्व में जो द्वैत है, उसका रहस्य प्रेम में निहित है । द्वैत होने के कारण ही आकर्षण रहा करता है । उसमें एक तरफ अवतरण है और दूसरी तरफ आरोहण है । *स्त्री-पुरुष का द्वैत भी चेतन के अनुभव के लिए है ।* सर्जन के लिए द्वैत आवश्यक है, अनिवार्य है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २९८)

* *

मनादिकरण में जो उच्चप्रकार की संस्कृति और समृद्धि दिखाई देती है, उसे भी रूप कह सकते हैं । जीवन संस्कार की खिल उठी भावना को भी रूप कह सकते हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३००)

* *

पुरुष-प्रकृति के विकास के अनुकूल नारीशक्ति अर्थात् जगजननी, आद्यशक्ति । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३०१)

* *

जिन्हें अतिमनस प्राप्त करने की साधना करनी हो, वे वैसा प्रेम से करें परन्तु उसे योग्य ठहराने दूसरी प्रवृत्ति का योग्य मूल्यांकन आंकने और उसकी योग्य कदर करने की सात्त्विक मानसिक तैयारी उस साधक की होनी चाहिए ।

चर्चा न करें; चर्चा करने की स्थिति यदि आये, तो वह मात्र जानने समझने के लिए हृदय की नम्रताभरी जिज्ञासा भावना से वैसा करना चाहिए ।

ठीक से सुनना भी एक अनोखी कला है । जब हम कुछ सुनते हैं, तब कहनेवाले का प्रत्युत्तर की तैयारी मानसिक रूप से रचे बिना तथा प्रत्याघाती मानसिक आंदोलन उठाये बिना या उस विषय में हमारे मन में दूसरे कोई भी विचार जगाये बिना पूर्ण स्वस्थ और नीरव मन से तथा एकाग्रचित्त से सुनने की आदत बनाये रखनी है । ऐसा कर सकें तो ही कोई भी चर्चा का लाभ मिलने जैसा हो तो मिल सकेगा तथा सामान्य दृष्टिबिन्दु को यथायोग्य समझने में सरलता हो सकती है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३०४)

* *

किसी से किसी की तुलना करना बिलकुल अयोग्य है । तुलना करने में, बराबरी, योग्यता कभी संभव नहीं हो सकती । इसमें किसी भी पक्ष को अन्याय हो जाने की पूरी संभावना है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३०५)

* *

दूसरे व्यक्ति को अमुक काम में रुचि लेते करना हो तो जिस काम में वह जुड़ा हो ऐसी सारी हकीकतों से उसे परिचित कराना चाहिए । इससे उसको उस काम में रुचि बनी रहेगी और हमारी अभिलाषा पूरी हो सकती है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३१०)

* *

जो कुछ भी मानते हैं, उससे ऊँचे प्रकार का आगे और आगे हैं ही यह निश्चित जानें । इसलिए जो मानते हैं, उसे नये के स्वीकार करने के लिए छोड़ते रहना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३२२)

* *

जो उच्चप्रकार के संगीतशास्त्री, कवि, शिल्पी, चित्रकार, साहित्यकार, कलाकार हैं, वे सभी उस चैतन्यशक्ति के अवतरण की सूक्ष्म पूर्वभूमिका के समान हैं । उनमें से कितने ही तो उस चैतन्यशक्ति का (जब वे अपने क्षेत्र के भाव की उच्च कक्षा में पहुँच जाते हैं तब) स्पर्श भी करते होते हैं और ऐसे स्पर्श के कारण उत्तम कोटि का सर्जन कर सकते हैं । ऐसे महान साहित्यकार या कलाकार का चरित्र सदाचार या नीति की दृष्टि से उत्तम प्रकार का शायद न हो तो इससे आघात लगाने की आवश्यकता नहीं है । भावना की एकाग्रता आती है और उसकी उड़ान अमुक ऊँचाई तक होती है, तब एक प्रकार का चेतनात्मक स्पर्श जीवन में अनुभव होता है । महान कलाकार या साहित्यकार का उस काल का सर्जन या लेखन ऐसे स्पर्श के कारण उद्‌भव होता है

। ऐसे सर्जन या साहित्य को भगवान की शक्ति का सर्जन गिन सकते हैं । इसके साथ सर्जक के स्थूल जीवन को नहीं जोड़ना चाहिए । इसप्रकार का विवेक योग्य मूल्यांकन के लिए आवश्यक है ।
('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३२४-२५)

* *

ऐसे कितने ही संत-भक्त होते हैं, जिन्हें उनकी हृदय की नम्रता के कारण कोई शीघ्र नहीं समझ पाता । ऐसों की हृदय की ऐसी नम्रता उनकी दिव्य चेतना का ढक्कन बन जाती है और उनका जहाँ-तहाँ रक्षण करती रहती है । तब भी, उनकी प्रतिभा दबी ढंकी नहीं रह सकती– यदि हम हृदय से ऐसे गुण की कदर भक्तिवाले हो गये हों तो । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३२५)

* *

चेतन हमेशा चाहता है कि अचेतन उसे जीत न सके । चेतन को अचेतन में संपूर्णत: प्रवेश प्राप्तकर वहाँ संपूर्ण अभिव्यक्ति करनी है । अचेतन एक इंच भी वैसा का वैसा छोड़ता नहीं है । यहाँ चेतना का अर्थ जितना विस्तरित करें उतना कम है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३०)

* *

साधना की उत्तरोत्तर कक्षा में अनंत प्रकार के संग्राम होते हैं । उनमें साधक हारता, जीतता, अंतर की शक्ति को उसके द्वारा बढ़ाते हुए एक ऐसी निर्णयात्मक और निश्चयात्मक स्थिति में आता है कि उसके बाद उसकी शक्ति को कहीं भी हारने जैसा नहीं रहता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३०-३१)

* *

शरीर का धर्म तो बढ़ते-घटते रहने का है । उसकी योग्य संभाल भले लो, परन्तु उसे मिथ्या महत्त्व न दें ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३१)

* *

हम शीघ्रता से और हकीकत से अधिक प्रमाण का न मान लें और साथ ही दिव्य शक्ति की संभावनाओं को असंभव भी न मानें । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३५)

* *

*स्पष्ट होना अर्थात् **जीव** प्रकार की समझ, रीति, मान्यता, आदत, आग्रह तथा मनादिकरण के प्राकृतिक धर्म से मुक्ति ।* ऐसी स्पष्टता वह ज्ञानप्रकार की स्पष्टता मानी जाएगी । ऐसी स्पष्टता अर्थात् ज्ञानात्मक शरणागति ऐसी स्पष्टता यानी **जीव** का **जीव**पन टालने की मंगलमय प्राथमिक भूमिका या **जीव** प्रकृति का **जीव** प्रकृति में से मुक्ति प्राप्तकर चेतन के प्रदेश में कदम उठाने का मंगलाचरण ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३७)

* *

श्रीसद्गुरु के वचन के तात्पर्य को– हार्द को उसकी संपूर्ण ज्ञानात्मक दशा में ग्रहण करना, यह कोई जैसा-तैसा कर्म नहीं है । सभी इसे अपनी तरह से अधूरे ढंग से समझते हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३७)

* *

कोई भी सिद्धि और मुक्ति प्राप्त करनी वह एक वस्तु है और उसे व्यवहार में लाना, कार्यक्षेत्र में सफलतापूर्वक निर्वाह करना वह

दूसरी वास्तविकता है । जैसे अमुक वैज्ञानिक शोध और उसका व्यवहार में उपयोग और अमल दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३८)

* *

हम सत्य का कितना और किस भावना से अमल करते हैं, उस पर हमारे जीवन का वह सत्य टिके रहने का आधार है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३८)

* *

यदि साधक अपनी वृत्तिओं का रूपान्तर होते हुए हृदय से अनुभव कर सकता है तो ही साधना सच्ची साधना है, नहीं तो वह बंधन है, उलझन है । ऐसा समझकर उसे ऐसी साधना को छोड़ने में हिचकिचाना नहीं चाहिए । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३९)

* *

हमारा हृदय दूसरों के सत्कर्तव्य की कदर से अपनेआप प्रेमभाव से भीग जाना चाहिए । परन्तु हम वैसा नहीं करेंगे तो दूसरों को ठीक नहीं लगेगा अथवा दूसरे अमुक प्रकार का मानेंगे, ऐसा मन में न सोचें । हमारा ख्याल हम तक ही रहे तो उत्तम । हमें कदर जो करनी है, वह अपनी गुण ग्राहकता का गुण विकसित करने और अपने जीवन में उतारने के लिए । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४०)

* *

कर्म का जिस तरह उपयोग होता है और ऐसे उपयोग में जिस प्रकार की रुचि ली जाती है, उसी के अनुसार कर्म का परिणाम आना संभव है । कर्म के साथ भावना का संबंध रहता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४१)

* *

प्रत्येक कर्म में जागृतिपूर्वक का, उसके उद्देश्य का ख्याल आना चाहिए। इस प्रकार करने से उस प्रकार की अखंड जागृति उसमें होनी चाहिए। वैसी सतत एकसमान आई हुई जागृति फिर तो उसे अनायास ही आ जाएगी। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४२)

* *

यदि हमें कोई बड़ा माने, अच्छा मानकर सन्मान और आदर दे, उत्तम कदर करे, उत्तम आसन पर बिठाये आदि सम्मान दे तो हम उसके अधिकारी नहीं हैं ऐसा समझें; परन्तु सर्व के कृपापात्र हैं ऐसा मानें और सभी ने कृपाकर ऐसा अधिकार प्रेम से दिया है, ऐसी समझ रखते हुए नम्रता, भगवान की भक्ति योग्य रूप से प्राप्त करने में हमें बहुत देर है ऐसा समझकर, ज्ञानपूर्वक भावना रखें और ईश्वर का आभार मानकर सभी की कृपा याचना करें।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४४)

* *

हम दूसरों के उपकार का बदला नहीं चुका सकें ऐसी परिस्थिति में हृदयपूर्वक अत्यधिक कदर और आदरभक्ति बुद्धि से जीवंत रखें। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो कृतघ्नता का दोष लगेगा।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४४)

* *

परमतत्त्व को प्राप्त करने के उपायों को मात्र जाननेवाली की अपेक्षा उसकी प्राप्ति के मार्ग के विघ्नों को यथार्थ रूप से जाननेवाले और हिंमतकर उसे प्रभुकृपा से हठानेवाले को उत्तम माना गया है।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४४)

* *

हमें जब स्वार्थ की खूब चटपटी होती है, तब हम जैसे हर किसी का सही-गलत सहन कर लेते हैं, वैसे ही परमार्थ के विषय में—प्रभु प्राप्त करने विषयक भी प्रतिकूलता जो आती है, उसे प्रेमपूर्वक स्वीकारकर, तपस्याभाव से सहनकर, किसी के भी गुणदोष न देखें सभी को अनुकूलता कर दें, वह प्रभु-प्राप्ति होने में साधनरूप है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४४)

* *

संबंधी, स्वजन के विचार तथा व्यवहार को न देखते हुए, उनके कल्याण की ओर ही हमें ध्यान रखना है । जब उन्हें समझ में आएगा कि हम तो उनके कल्याण में ही तत्पर रहते हैं, तब वे हमारे प्रति अपना प्रतिकूल व्यवहार छोड़कर हमें अनुसरण करना होगा तो करेंगे । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४५)

* *

जिसका हृदय सदा अविरत प्रसन्न है, उस पर शुभ संस्कार पड़ने से प्राप्त होनेवाले प्रत्येक प्रसंग में आनंद का अनुभव करने की मन की सतत आदत पड़ती है । फिर उसे कोई वस्तु, प्रसंग, घटना अरुचिकर नहीं लगती । जिस-तिस में आनंद, रसज्ञता और माधुर्य को अनुभव करके ज्ञानभक्तिपूर्वक का अभ्यास होने से मन को शांति मिलती है, प्रसन्नता होती है तथा उसकी तेजस्विता और शक्ति और बढ़ती है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४५)

* *

कोई **जीव** भावनापोषक माने गये क्षेत्र से दूसरे किसी क्षेत्र में कार्य करता हो; उदाहरण - कोई व्यापारी व्यापार किया करे तब भी वह पूर्ण जोश और भावना से साधना भी किया करे ऐसी संभावना अवश्य है । परन्तु ऐसे जिगर संसार में खूब ही कम, विरल हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४६)

* *

व्यवहार के समय व्यवहार और साधना के समय साधना, इसतरह दो हिस्से कर देने से नहीं चलेगा । साधना का भाव यदि प्रेमभक्तिपूर्वक, साफ दिलवाला पूरीतरह हो तो वैसी भावना का ज्ञानपूर्वक उपयोग सर्वक्षेत्र में किया करें, तो साधक के स्वभाव का रूपान्तर हुआ करेगा; अन्यथा नहीं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४६)

* *

हम जब समता – तटस्थापूर्वक पृथक्करण करते हैं, उस समय हृदय का महत्त्व तो नामस्मरण में हुआ करता है और पृथक्करण करने से दूसरी जगह भटकने का मूल कारण समझ आ जाता है और उसका निराकरण हो इसतरह का पैमाना जीवन में आना चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५२-५३)

* *

जिस तरह व्यवहार की सारी चीजें इन्द्रियों से परखी जाती हैं, उनका आकलन भी होता है, उसी तरह *भगवान का जो भाव है और जो अनिर्वचनीय है, उसे पाने या परखने के लिए जो शक्ति हमें काम में आये उसका नाम श्रद्धा । श्रद्धा अर्थात् अंतरदृष्टि भी ।*

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५३)

* *

सारा समाज उन्नति के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँच जाय ऐसा होना संभव नहीं लगता, व्यक्ति चढ़ सकता है और चढ़ेगा । समाज भी व्यक्ति की ओर टकटकी लगाये रहता है, व्यक्ति से संचालित होता है और व्यक्ति से अपनी प्राण-शक्ति बढ़ती हुई वह अनुभव करता है । समाज व्यक्तियों से बना है । इसप्रकार व्यक्ति जितना ऊपर

चढ़ने के लिए संघर्ष करेगा और अधिक से अधिक व्यक्तियों के उच्च जीवन प्राप्त करने में रुचि लेकर उनके प्रति निष्ठा जितनी होगी उतने प्रमाण में समाज का भी उद्धार होगा, यह बात निश्चित है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५५)

* *

प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट परम्परा और संस्कृति होती है, जिसे हम विशिष्ट गुणशक्ति भी कह सकते हैं । उसकी प्रेरणा प्राप्तकर वह चलें तो उसका विकास हो सकता है । प्रत्येक समाज की ऐसी स्वतंत्र संस्कृति होती ही है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५६)

* *

सद्‌गुरु साधक की कमजोरियों के प्रति कड़क से कड़क होकर उसे उसका पूरी तरह भान करवाता है; जब कि दूसरों की कमजोरियों के प्रति पूरी तरह ज्ञानपूर्वक क्षमाशील रहकर, साधक को भी क्षमाशील होने की सूचना देता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५७)

* *

दूसरों की कमजोरियों के प्रति जब **जीव** को भान होता है और यदि पूरीतरह ज्ञानयुक्त तटस्थता न पाये तो उस अवसर पर वह **जीव** उसके प्रति नरक में मक्खी जैसे भिनभिनाती हैं, वैसे वह भिनभिनाने लगता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५७)

* *

हमारा मत, अभिप्राय, सच्चापन किसी को भी आग्रह से ठसाने, मथना- उसमें सूक्ष्म हिंसा विद्यमान है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५९)

* *

हमारे जीवन में गहराई से बैठी जड़े सर्व संस्कार, विचार, वृत्ति, समझ, मान्यताएँ, उलझनें आदि विरासत गुरु का हुक्म होते ही एकदम बदल जाएगा ऐसा मानना यह कोरी अज्ञानता है । *सद्‌गुरु तो दृष्टि देता है । विभिन्न परिस्थितिओं में योग्य विचार के लिए प्रेरित करता है ।* बाकी सब कुछ तो हमें ही करना होता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५८)

* *

श्रीभगवान के चरणकमलों में ताजे ही फूल चढ़ाने चाहिए; उसी तरह यौवन में प्रभुमय जीवन बिताना जिसे स्वीकार्य है, वही अधिक उचित है । यौवन यह ताजे फूल की तरह है । वृद्धावस्था में अधिकतर कोई गोविंद के गुण नहीं गा पाता । जीवन की साधना इतनी सरल नहीं है । साधना में आवश्यक साहस, हिंमत, अडिग पुरुषार्थ का बल, उत्साह, मेहनत, धीरज आदि गुण यौवन में ही अधिक खिले रहते हैं । वैसे समय में यदि जीवन की साधना में अंदर पैठा जा सके तो ऐसे उनके गुणों का उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा । ऐसे गुण उनके श्रेष्ठ पैमाने पर पहुँचकर परिपक्व होकर दिव्यता के अंशरूप परिवर्तन पा सकते हैं । तब वे गुण, गुण नहीं रहते पर शक्तिरूप में प्रगट होते हैं । तब ऐसा मनुष्य वृद्ध होने पर भी उसमें बूढ़ापन नहीं होगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५९-६०)

* *

जीवन की साधना यह हँसीखेल नहीं है । यह तो मर्दानगी के खेल हैं । इसके महत्त्व का, गंभीरता का ख्याल अभी हमें पूरी तरह नहीं होता है । सर्व प्रकार से, सर्व भाव से जीवन को न्योच्छावर करते

हुए त्याग, बलिदान और समर्पण करने की उत्कट भावना हरपल जागृत रहकर हमें न्योछावर होना है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३६०)

* *

हम जितने बहिर्मुख रहें या हुए, उतना सच्चा धन हमने खोया । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ९)

* *

दूसरों में प्रेमभक्ति रखते हुए भी अपनेआप में ही मस्त रहना है । हो सके उतने नि:संग रहें– स्थूल रूप और सूक्ष्म रूप दोनों तरह से । हमारे में रहे मंतव्य, गिनती, माप, मूल्यांकन, उलझनें, पसंदनापसंद, रागद्वेष, समझ, संस्कार– ये सभी हमारे संगी हैं । अब हमें इनमें से नि:संग होना है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १२)

* *

हमें पसंद आते विचार और कार्य, जिसे अनुकूल न आते हों उसके प्रति अवगणना की वृत्ति, उसके सात्त्विक कार्य के प्रति बेकदर वृत्ति आदि हम में नहीं आनी चाहिए । ऐसी अनुदारता और असहिष्णुता निकल जानी चाहिए । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १२-१३)

* *

यदि हम मात्र प्रभु में प्रेम को एकाग्र और केन्द्रित कर सकें तो दुनिया का प्रेम तो प्राप्त होगा ही ।('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १६)

* *

जितने प्रमाण में जागृत आदरभाव किसी व्यक्ति में विशेष उतने प्रमाण में श्रद्धा-विश्वास उसके कथन और करनी में विशेष रहेंगे । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १८)

* *

प्रभु का संपूर्ण यंत्र बननेवाला **जीव** सकल कहीं किसका संपूर्ण ज्ञान रखता है, ऐसी हकीकत और समझ योग्य नहीं । उसके अनुभव के विषय में वह पूर्ण ज्ञानी होता है । दूसरे विषयों में तो अपवाद रूप से वैसा-वैसा ज्ञान निमित्त बनकर प्रभुकृपा से कभी कभी ही उदय होता पाता है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २१)

* *

जिसके माध्यम से हमें प्राप्त करना है, उसके दिल में हमारा दिल एक कर दें और यदि हम उसके ही पूरीतरह हो सकें तो उसका दिल हम पर प्रगट होता है ।

जिसके पास से प्राप्त करना है, उसके प्रति कृतज्ञता की भावना जागनी चाहिए । जिसके द्वारा हमारे दिल में भाव प्रगट होते हैं, उस भाव के परिणाम स्वरूप कृतज्ञता की भावना का प्रागट्य सहज होता है । वह जैसे-जैसे फिर भाव का स्वरूप लेता है वैसे-वैसे हम अनुभव करते हैं कि कृतज्ञता की भावना ही इस मार्ग के आगे प्रवास का कारण है और इससे अधिक आगे बढ़ने का परिणाम भी वह है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २१-२२)

* *

यदि कोई हमें ठग जाय तो समझना उसका मूल कारण हम स्वयं हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २४)

* *

यदि जीवनध्येय का उद्देश्य लक्ष्य में हो तो प्राप्त प्रसंग तो जीवननिर्माण की हुहाई है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७)

* *

सही सलामत की वृत्ति के सिकंजे में जो रहते हैं, उनमें आत्मबल पैदा नहीं हो सकता । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७)

* *

संघर्ष का स्वीकार जीवनविकास की शिक्षा के लिए आवश्यक है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८)

* *

अशिष्ट और धूर्त वेश की आड़ में साधना करनेवाले साधक को गुप्त रूप में शांति से साधना करने की सरलता मिल जाती है तथा इससे दूसरे किसी ढंग से कदाचित् सीख सकें ऐसी नम्रता के पाठ समाज के हाथों सीखने मिलते हैं । मान-अपमान से पर होने के अभ्यास की संभावना भी उसमें से मिलती है और परिणामस्वरूप सभी के प्रति सद्‌भाव रखने की आवश्यक तालीम इससे मिलती है– यदि सतत हेतु का लक्ष्य और जागृति रख सकें तो ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३१)

* *

खाली-खाली मुँह से प्रार्थना बोलें तो वैसी प्रार्थना द्वारा उठाव और गूँज कभी भी नहीं उठ पाएगी ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३४)

* *

'वृत्ति का संयम करो', 'संयम करो' और अमुक 'यह पालन करो या इसका पालन करो' ऐसा पुकारने से या ऐसा बोध देने से कहीं किसी को अधिक नहीं मिलेगा । जब मनुष्य को अपने जीवनध्येय की दिल में सचमुच तमन्नायुक्त व्याकुलता होती है, तभी जीवन-विकास के मार्ग का सही ढंग का काम हो रहा है ऐसा अनुभव होता है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३८)

* *

कोई कीमती वस्तु खो गई हो तो वह मिले नहीं वहाँ तक हमारा लक्ष्य स्वयं दूसरी प्रवृत्तियाँ करते समय भी सतत जारी रहता है; वैसे, हमारे जीवनलक्ष्य का जागृत ख्याल और भगवान का स्मरण हमारी इतर सकल प्रवृत्ति में रहना चाहिए ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ४१)

* *

यदि हम अपने आप में ही पूरीतरह योग्य रूप में सतत गंगधारवत् स्थिर और रत रहा करेंगे तो उसमें से एक ऐसी हृदय सूझ अथवा समस्या हल करने की शक्ति आती जाती है या फिर कोई कर्म विषयक अधिक विचार करना नहीं रहता । उस समय उसका हल कैसे लाना है, उसका मार्गदर्शन अपनेआप प्रभुकृपा से मिल जाता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ४५)

* *

बुद्धि में समता आ जाय उसका नाम योग है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ४६)

* *

जो जाग सकता है, वह जी सकता है, बाकी के नहीं ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ४९)

* *

जीवनसाधना भी एक नदी जैसी है । जागृत अभ्यास बढ़ते-बढ़ते वह गहरी और विस्तरित होती जाती है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ४९)

* *

विपरीत अनुभव हो तब विचलित न हों । वे भी बादल की तरह बिखर जानेवाले हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ४९)

* *

जीवनध्येय के प्रति की भावना, किसी भी प्रकार से, दैनिक कर्मव्यवहार में अखंडरूप से बहा करे और आंतरिक करणों के **जीव** प्रकार के प्रवाह में न बहकर तथा उसमें ताटस्थ्य, समता, शांति, प्रसन्नता आदि प्रगट होते जाँय और वैसा करने से हृदय से जागृतिपूर्वक प्रभुकृपा से संघर्षरत रहें उसका नाम सच्ची साधना ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ४९-५०)

* *

जो जो भी **जीव**दशा के हों या प्रगट हों यदि उनका जागृतिपूर्वक इन्कार होता जाए और यदि उसकी लम्बी परम्परा न चले और मनादिकरण भावना में एकाग्रता से रमा करते अनुभव हों तो सच्चा इन्कार हुआ ऐसा गिना जा सकता है। ऐसी साधना में अखंडता बनी रहे उस समय से सही साधना की शुरुआत होती है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ५०)

* *

निरंतरता की भावावस्था से चेतन का व्यक्त होना स्वयं स्फुरित होता है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ५१)

* *

दिल में और दिल से प्रगट हुए भाव में कोई गिनती नहीं रहती तथा उसके प्रकार नहीं उठते । जहाँ कोई गिनती है, वहाँ दिल पूरा प्रगट नहीं हुआ है ऐसा मानें । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ५२)

* *

वाद-विवाद से मन अधिक खराब होता है– जो सोचेंगे उसके उस तरह के संस्कार पड़ेंगे ही ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ६४)

* *

किसी को अच्छी तरह समझना हो तो हमें उसकी स्थिति में रखकर देखना है । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ६५)

* *

तटस्थता आये बिना पृथक्करण होना संभव नहीं ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ६५-६६)

* *

आध्यात्मिक मार्ग में अश्रद्धा यह अत्यधिक अवरोधकारक है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ६८)

* *

प्रार्थना यह एक प्रकार का भावात्मक ध्यान है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ७२)

* *

मनुष्य क्या काम करता है, जगत के पैमाने पर उसका व्यवहार कैसा है, उसके ऊपर उसकी **जीव**कक्षा या जीवन की उच्चता का आधार जरा भी नहीं है । सही आधार तो उसके अंदर का सत्त्व कैसा है और कैसा निर्माण होता जा रहा है, उस पर है; इसलिए जहाँ तक हम नहीं जानते हैं, वहाँ तक हमें किसी का भी मूल्यांकन करने का सही अधिकार नहीं है । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ७३)

* *

हृदय जो कि चेतनाशक्ति का स्थान है, उसका व्यक्त रूप से विकास हुआ करेगा तो अधिक श्रेयस्कर है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ९१)

* *

हमें किसी में भी आग्रही वृत्ति नहीं रखनी है । विचार में भी नहीं और मन में भी नहीं । कोई कहे कि ऐसा है तो भले वैसा, कोई

कहे कि ऐसा नहीं तो भले वैसा । मात्र जो काम अपना समझे हैं उसमें तो दृढ़ता और मरणान्त निर्धार प्रगट करना है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १११)

* *

जीवनध्येय के लिए आग्रह अर्थात् एकनिष्ठापूर्वक का एकाग्र और केन्द्रित जीवन वहन; ऐसा अर्थ यहाँ 'आग्रह' का समझना है ।

शक्ति और बुद्धि तथा अंतर के करणों को 'बहुशाखा' और 'अनंत' होने दें तथा छिन्न भिन्न न होने देना ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ११२)

* *

दूसरी बातों में– जैसे कि धर्म, राजनीति, समाजसेवा, तत्त्वज्ञानवाद इन सभी में आग्रह अर्थात् एक प्रकार का सूक्ष्म अहम् है फिर भले ही उस विस्तृत समझ के प्रकार का हो !

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १००)

* *

धर्म में भी अहम्भरे आग्रह होते हैं । हमारा ही धर्म सही और उसी अनुसार दूसरे जीयें तो ही उनका कल्याण होगा, या जल्दी या अधिक कल्याण होगा, ऐसा मताग्रह होता है । इसी तरह आध्यात्मिक मार्ग में भी देखा जाता है ।

जगत में जो संघर्ष, वाद, मत, पद्धतियाँ आदि प्रचलित हैं, उनका मूल इस अहम् में है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १००)

* *

(प्रचलित अर्थवाली) फिलोसफी जहाँ पूरी होती है, वहाँ से सच्ची साधना की शुरुआत होती है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ११३-१४)

* *

जो कोई काम हाथ में लें तो श्रद्धापूर्वक लें और उसे प्रेम से संपूर्णरूप से पार उतार सकूँगा ऐसा दृढ़ आत्मविश्वास रखें ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ११४)

* *

दूसरों के दोषों की ओर नजर डालने के बदले उनके गुणों की ओर दिल में यदि दृष्टि रहा करे, तो वैसे गुण हमारे में भी विकसित हो सकते हैं । साधना में ही क्या, जीवन के किसी भी क्षेत्र में कदर भावना और गुणग्राहकता के गुण अति उपयोगी और जरूरी हैं । हमारा लक्ष्य जिस पर रहेगा, वह तत्त्व पहले या देर से हम में आएगा ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १०३)

* *

एक के एक कर्म को निरन्तर भावना से सज्ञानरूप से करते रहें, वह कोई मामूली बात नहीं है और उसमें वर्षों तक टिके रहना वह भी एक प्रकार का जीवन प्रगट होता बल सूचित करता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १२३)

* *

समर्थ पुरुष काल का निर्माण करता है या काल समर्थ पुरुष को पैदा करता है, इस तात्त्विक चर्चा को जाने दें । इतना तो निर्विवाद है कि समर्थ पुरुष या मुक्तात्मा काल के निर्माता अवश्य होते हैं । वे काल के प्रभाव अनुसार व्यवहार करते हैं, वह सत्य है, परन्तु वह उसमें बहकर नहीं, उस पर तैरते रहकर ।

अवतार तो काल की असर से पर होता है, पर जगत में उनके अवतार के समय की दूसरी किसी रीति से न भरी जा सके ऐसी चेतना के आविर्भाव की माँग वे पूर्ति करते हैं और वही उनके देह धारण का उद्देश्य होता है ।

जिस किसी परम पुरुष ने जो कुछ भी जगत में किया वह उनके युगकाल के धर्मानुसार किया और उस काल में धर्म प्रमाण में उस तरह से जगत में उनका व्यक्तत्व रहा । इससे क्या वे इतने में ही समाये थे, उतना ही उनका शक्ति सामर्थ्य था, ऐसा मानना इसमें विचारदोष दिखाई देता है ।

हमें तो सर्वधर्म के प्रति, धर्मों के मूल आचार्यों के प्रति तथा सर्व सत्पुरुष या मुक्तात्मा के प्रति हृदय का भक्तिपूर्ण छलकता सद्‌भाव पूरी तरह बनाये रखना है ।

सबके प्रति ज्ञानयुक्त सद्‌भाव पूरी तरह रखे बिना सबके प्रति समत्व की भावना नहीं आ सकती ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १११-१२)

* *

EXCLUSIVELY- अकेला, अलग तरह, भक्तियोग वह भक्तियोग नहीं है, ज्ञानयोग यह ज्ञानयोग नहीं, कर्मयोग यह कर्मयोग नहीं है । जीवनसाधना में वे सभी एकदूसरे में परस्पर ओतप्रोत हो गये होते हैं ।

जहाँ तक हम में तटस्थता, समता, साक्षीभाव पूरीतरह न आये हों, वहाँ तक हम किसी को भी योग्य रूप में तौल नहीं पाएँगे । उसमें दूसरों को खराब देखना उसकी अपेक्षा हम उसमें से परांगमुख हों, वह हमारे श्रेय के लिए उत्तम है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ११२, ११४)

* *

हमारे दोस्त को किस तरह से अधिक उपयोगी हो सकें और उन्हें किस तरह अधिक महत्त्व दिया जाय और हम स्वयं तो शून्य में शून्य

रह सकें ऐसे आचरण से शरणागति की भावना विकसती जाती है । यद्यपि ऐसे आचरण से अनेकबार प्रत्यक्ष गैरलाभ भी होता है, किन्तु ऐसे गैरलाभ में भी सच्चा लाभ समाहित होता है, वह अन्त में पता लगे बिना नहीं रहेगा । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ११६)

* *

जीवनपथ में आनेवाले विघ्न, कठिनाइयाँ, उलझनें तो उल्टे आध्यात्मिक तंदुरस्ती और बल को पुष्ट करनेवाली औषधि जैसे प्रतीत होते हैं—यदि हमारी उसके प्रति जीवंत, वेधक, सारग्राही दृष्टि पैदा हुई हो तो । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ११६)

* *

हमें जो *वीजन्स–* सूक्ष्म दृश्य आते हैं, यह एक तरह से साधना का एक अच्छा लक्षण गिन सकते हैं; परन्तु हमें ऐसे दृश्यों को महत्त्व नहीं देना है । उसमें से मन, चित्त, जितने वापस ला सकें उतना अच्छा । हमारे भाव ऐसे होने चाहिए कि इससे तो हमारे मन में नीरवता आये, कामना का लय आदि हो तो उत्तम ।

गुण के साथ उसकी शक्ति अपने आप उसमें रही होती है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ११८-१९)

* *

जीवन में सुमेल, सुसंवाद, समाधान और समन्वय इन्हें साधक जीवन के प्रत्यक्ष लक्षण गिन सकते हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १३२-३३-३४)

* *

दूसरों के सद्‌गुण के प्रति सहज आकर्षण और उसकी कदर साधक के जीवन में यदि व्यक्त होती न अनुभूत हो तो अपनी दिशा गलत है ऐसा समझें । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १३३-३४)

* *

दूसरे किसी **जीव** के गुणगान या बखान सुनते हुए यदि मन में द्वेष-ईर्ष्या या ऐसी कोई वृत्ति उद्‌भव हो और उसके प्रतिकाररूप उस **जीव** की हमारी समझ की टेढ़ी मेंढ़ी बात हृदय में लगे या व्यक्त हो जाय तो समझ लें कि दूसरों के सद्‌गुण के प्रति सहज आकर्षण अभी हम में आया नहीं है और इतने अंश में सद्‌भाव की साधना पंगु अर्थात् अधूरी समझें । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ११९)

* *

हृदय यह शब्द स्थलवाचक नहीं है, परन्तु कक्षावाचक और भूमिकावाचक भी है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १२०)

* *

जीवन मात्र कुछ गुणों का समूह मात्र नहीं है । गुणों में जीवन रहा है, यह बात सच है । सद्‌गुण से जीवन शोभा देता है, यह भी सही है; परन्तु जीवन की सच्ची वास्तविकता और उसकी मर्यादा अकेले गुण के घेरे में बंद नहीं रह सकती । वह उसके पार भी है ।

गुण हमारा लक्ष्य नहीं । गुणों को प्रेरित करनेवाली जो शक्ति और गुणों में निहित शक्ति, उस शक्ति का हमारे जीवन में ही प्रागट्य हो और वह हमारे सकल कर्मों में, व्यवहारआचरण में कार्यसाधक होती हुई अनुभव करें, यही हमारा ध्येय होना चाहिए ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १२१)

* *

आध्यात्मिक जीवन इच्छुक के लिए एकांत और मौन बहुत ही आवश्यक हैं । यहाँ *मौन अर्थात् मन की नीरवता प्राप्त होने में सहायरूप हो उस प्रकार का मौन उत्तम प्रकार का मौन है ।*

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १३७)

* *

जहाँ कहीं थोड़ा भी भार लगे, ऊब आये, त्रास, व्याकुलता, संताप या ऐसा हो, तब जानें कि हममें से सरलता और सहजता चली गयी है या कम हो गये हैं; हम अपनी सही स्थिति में नहीं हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १३७)

* *

संपूर्ण सात्त्विकता और चेतन के प्रति पूरा, योग्य, उत्कट, एकरसता जहाँ तक जीवन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य का स्थिर होना कभी नहीं हो सकता । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १३८)

* *

मनुष्य का विकास यों तो प्रकृति के अंचल में हुआ ही करता है पर उस प्रकृति में विकास होता जाता है, चेतन में नहीं । वह चेतन तत्त्व प्रत्येक के जीवन का जो प्रकृति के अंचल में पड़ा है, उसके द्वारा व्यक्त होता है । अर्थात् चेतन को व्यक्त करने के लिए अच्छी प्रकृति के भाव को चेतनाभिमुख करना होता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १२७)

* *

जागृति यह तो साधना का मूल स्तंभ है, उसी प्रकार वह उसका निर्माण और वर्धन है । साधना करते हुए यदि ज्ञानयुक्त जागृति न जागती हो और प्रसंगोचित चेतना न जागती हो तो समझ लें हमसे साधना नहीं हो रही है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १४५)

* *

जब तक चित्त में **जीव**दशा के पड़े संस्कार हैं, तब तक विचार तो आएँगे ही । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १४५-४६)

* *

आध्यात्मिक लेख और साधना विषयक लेखों में एक ही विषय की हकीकत और समझ लिखा हुआ होने से कभी-कभी एक का एक लिखा हुआ होता है या कहने में आता है और यह कुदरती है । अधिकतर तो कुछ न कुछ नया भी, वह एक का एक कहा हुआ होता है सही । तब भी 'यह तो एक की एक हकीकत है' ऐसा समझकर साधक को आध्यात्मिक पठन से ऊबना नहीं चाहिए ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १५१)

* *

मनुष्य को हरतरह से कुछ न कुछ विविधता चाहिए । मन प्रतिदिन नये-नये रसास्वाद ले तो संतोष होता है ऐसा हो गया है । इन्द्रियों को नया-नया अच्छा लगता है । इस भाव में मानस का छिछलापन व्यक्त होता है । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १५१)

* *

जिस कला से हृदय की सात्त्विक प्रसन्नता उत्पन्न हो वही सच्ची कला है । *जिस कला से मानव मन में विकार या विकृति जन्म ले और उसके कारण तन्मयतायुक्त आवेश और 'सुख' जन्मे, वह सच्ची ललित कला नहीं है ।* ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १५२)

* *

मनुष्य के अंतर से स्वयं स्फुरित प्रसन्नता और आनंद के फुवारे फूटते न होने से बाह्य रूप से, बाहर से, कुछ न कुछ आनंद उठाने की चाह या भोगकर उस हानि को पूरी करने के लिए प्रयत्न करता है । इसीकारण **जीव** को इन्द्रियों के विषयभोग बहुत अच्छे लगते

हैं । इसप्रकार उसका सारा जीवन क्षुल्लक प्रकार की क्षुद्र प्रवृत्तिओं की व्यापकता में बीत जाता है । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १५२)

* *

मन को एक के बाद एक, एक-एक से अलग, रस लेने की जो आदत पड़ी हुई है उसके बदले सनातन, सूक्ष्म, सात्त्विक आनंद में रस लेता हुआ करने के लिए एक ही प्रकार के किसी साधना के अभ्यास में पिरोना चाहिए ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १५३)

* *

अभ्यास तो उसका नाम है कि जिसमें बारबार विकसित होने ज्ञानयुक्त पुनरावर्तन हुआ करे; ऐसे पुनरावर्तन के बिना एक की एक बात फिर फिरकर आये बिना, किसी प्रकार का विचार या भावना स्थिर नहीं होती । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १५३-५४)

* *

बहनों और माताओं के साथ का निर्मल भावसंबंध यह पतन करनेवाला साधन नहीं; परन्तु बल और प्रेरणा देनेवाला साधन है । उस संबंध से अंतर के हार्द में जीवनविकास के ध्येय का ज्ञानभक्तिपूर्वक का भान पैदा होना चाहिए । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १४१)

* *

संबंध बढ़े वैसे-वैसे नि:संग की भावना भी सविशेष विकसती जाये उस ओर लक्ष्य देना चाहिए । सत्संग की भावना रखने से यानी कि जो कुछ मिले उसके साथ जीवनविकास के उद्देश्य से ज्ञान की

भावना फलीभूत होने की एकमात्र एकाग्र और केन्द्रित दृष्टि, वृत्ति और भाव प्रगट हो तो ऐसे सत्संग से निःसंग भावना यानी कि आत्मा की भावना बनती जाती है ।

सभी प्रकार के संबंध और कर्म सभी भावना पैदा करने के लिए हैं और जीवनविकास के निर्माण और विकास के लिए हैं । उसके बिना संबंध या कर्म का दूसरा कोई अर्थ या उद्देश्य नहीं है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १४०, १४२)

* *

'पल में मासा, पल में तोला' ऐसी डगमग वृत्ति को साधक को चेत चेतकर दूर करते रहना है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १४४)

* *

भावमें जब एकाग्रता और केन्द्रितता परिवर्तित हो और स्थिर रहे यानी कि उसमें ही इतनी तो गाढ़ तन्मयता जन्म ले कि आगेपीछे का भान भी न रहे, ऐसी स्थिति बारबार जब हो जाती हो, ऐसी स्थिति में संपूर्ण भावावस्था हो जाने की तैयारी रहती है, तब जैसा होने का दिल हो उसकी सद्भावना सचेतनरूप में यदि हम हृदय में रख सकें, तो हमारी प्रगति बहुत शीघ्र होगी ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १४६)

* *

विभिन्न मुक्तात्माओं की वाणी भिन्न-भिन्न होनी भी संभव है । एक दूसरे से कई बार परम्परा भिन्न भी होना संभव है; यद्यपि वह भी अनुभव की वाणी हो सकती है । अनंत पहलूवाले परमात्मतत्त्व का उन्होंने अपनेआप भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव किया होगा, अतः वक्तव्य में भिन्नता रहेगी सही । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १६९)

* *

हमारी प्रेमभावना दूसरी ओर से प्राप्त प्रेम पर आधार रखती हो तो वह एक प्रकार की शरती लेनदेन है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १८७)

* *

जिसके प्रति हमें अरुचि हो या बने उसे ज्ञानभानपूर्वक खास सविशेष प्रेम से चाहना और वह भी हमारे कल्याण के लिए वैसा करना है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १६८)

* *

नामस्मरण की धारणा मात्र यांत्रिक न हुआ करे इसका विशेष ध्यान रखें । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १८८)

* *

एक में से अनेक में विस्तृत होना यह तो प्रकृति का अनादि गुण है । इसलिए जो कोई **एक** को पूरी तरह जानता है, वह अनेक को भी जान सकता है । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १८९)

* *

अंत में तो पुरुष और प्रकृति दोनों की शक्तिओं का समन्वय और सुमेल हो तभी सच्चा जीवन प्राप्त होनेवाला है और वैसा होना अनिवार्य भी है । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १९०)

* *

व्यवहार की बाह्य प्रवृत्तिओं से अलिप्त रहना है, वह बात सच है, परन्तु जो प्रवृत्ति मिल चुकी हो, उस ओर एक प्रकार की अरुचि की वृत्ति, त्रास या ऊब की वृत्ति आती है और इसके कारण उसमें से भाग जाने की वृत्ति पैदा होती है, वह योग्य नहीं । यह भी एक प्रकार का तमोगुण है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १७२-७३)

* *

सत्संग की महिमा बहुत गायी गई है, वह इसलिए कि मुक्तात्मा के साथ प्रेमभक्ति ज्ञानपूर्वक के आंतरिक परिचय से जीवन में प्रेरणात्मक भाव आता है और ऐसे भाव का सदुपयोग अंतर्मुखता लाने के लिए करना होता है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १७५)

* *

सद्‌गुरु जो कुछ कहें, 'वह कहते हैं इसलिए करेंगे' ऐसा भाव रखने से कोई लाभ नहीं होगा, हमें मन-बुद्धि को समझाकर, उनका सहकार लेकर, यदि वैसा करेंगे तो वह फलदायी होगा ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १९७)

* *

हमें प्राप्त कर्म अपने स्वयं के विकास के लिए करना है । फिर भले ही उसकी कोई कदर करे या न करे ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. १९८)

* *

कुछ भी अनिष्ट नहीं है । अनिष्ट को भी सदुपयोग की तरह भावना में प्रेरित कर सकते हैं । जहर, यह मात्र जहर नहीं पर अमृत भी है, यदि उसके सदुपयोग की कला आती हो तो, दवाओं में हलाहल जहर का भी रूपान्तर कर उसकी योग्य मात्रा में और योग्य मिश्रण के साथ उपयोग होता है, यह प्रसिद्ध बात है ।

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. २०२)

* *

शोक होने पर भी वह एक प्रकार की भावना जगाता है । उसका भी नामस्मरण में उपयोग हो सकता है; उससे एकाग्रता ला सकते हैं । किसी भी भाव, मनोभाव को रचनात्मक साधना के उपयोग में ले सकते हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. २०७)

* *

***जीव**प्रकार की कोई भी वृत्ति के बल से मुक्त, ऐसा जो बिलकुल बल बिना का **जीव** वही सच्चा अबला ।*

जब संपूर्ण निरासक्ति, निर्ममत्व, निराग्रह, निरहंकारिता आदि जीवन में काम करते हो जाते हैं, तभी सही रूप से भगवान का आधार रख सकते हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १९०)

* *

आध्यात्म पथ में 'निर्धन' हो जाना है यानी कि **जीव**प्रकार का—**जीव**प्रकार की—वृत्तिओं का खजाना है उसे खपाकर, उस अर्थ में पूरीतरह भिखारी बनना है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १९७)

* *

आत्मभाव के पोषक अलग-अलग भावनाओं में आपस में सख्यभाव होता है अथवा एक ही तत्त्व के वे अलग-अलग स्वरूपों के दर्शन हैं; उसी तरह अभिमान, भय, क्रोध, काम आदि **जीव**प्रकार की वृत्तिओं में भी आपस में साथीभाव होता है और वह भी एक ही आसुरी वृत्ति के अलग-अलग स्वरूप हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २०२)

* *

गुरुभाव अर्थात् गुरु स्वयं नहीं अथवा उनका शरीर भी नहीं; परन्तु जीवन के विकास के लिए हमें जो उत्कट तमन्ना जागी होती है, उसे एकाग्र और केन्द्रित एक में करके उसमें से प्रेरक बल और चेतनवंत प्राण प्राप्त करने के लिए जो लक्ष्य, जो साधन है वह ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २०३)

* *

प्रेम के भाव का धारण आघात-प्रत्याघात के अवलंबन से नहीं होता । वह तो स्वयं स्फुरित है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २०८)

* *

जो अपने हिस्से में आये धर्म को संपूर्ण अदा से पालता है, उसे किसी के विषय में शिकायत करने का कारण नहीं रहता ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २०९)

* *

हृदय की सज्ञान प्रेमभक्ति से ऋषिमुनिओं की सेवा करने में इति कर्तव्यता माननेवाले भी तैरकर पार गये के शबरी जैसे उदाहरण भी हैं । इसलिए जीवनविकास की साधना में एकाग्र और केन्द्रित होता जाय तो विविध गुणशक्तियों साथ-साथ विकसित होती है और ऐसा करते करते पूर्णत्व की कक्षा में भी पहुँच सकते हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २१३)

* *

साधना में कालबद्ध योजना की तरह ऐसे किसी काल का अमुक समय के अंत में अमुक स्थिति या भावना हो ऐसी निश्चितता का निर्णित स्थान नहीं हो सकता । यदि कोई अपनी 'आज' को योग्य रूप से संभालता है, उसकी 'कल' योग्य रूप लेनेवाली ही है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २१५)

* *

अपने मन अथवा भाव को स्थिर करने के लिए साकार आलंबन की जरूरत रहती है; इससे एक या दूसरे प्रकार से मानवसमाज में

साकार पूजा के संस्कार जीवंत रहते हैं । सद्‌गुरु की प्रथा के पीछे का अंतर्गत हेतु तो एक आलंबन का ही मुख्यतः हो सकता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २२४-२५)

* *

सेवा के प्रेम से तो भेद कम हो अथवा घटने लगे, परन्तु भेद की मात्रा सेवाक्षेत्र में यदि बढ़ती हुई अनुभव होती हो तो उसे सच्चे अर्थ में 'सेवा' गिनी जाएगी या नहीं यह विचारणीय है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २३५)

* *

प्रभु को पाने के अनंत मार्ग हैं; साधना के अनंत प्रकार हैं और भगवान के दर्शन भी अनंत रूपों में होते हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २३७)

* *

विचार की कभी जुगाली न करें । जुगाली करना अलग है और मननचिंतन करना अलग बात है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २४०)

* *

प्रथम तो सत्‌पुरुष (मुक्तात्मा) मिलने ही दुर्लभ हैं । शायद मिल जाँय तो उन्हें पहचानना दुष्कर है और कभी पहचाने जाँय तो उन्हें समझना और भी दुष्प्राप्य है; और सद्‌भाग्य से शायद समझ में आये तब भी उनका ज्ञानभक्तिपूर्वक स्वयं के जीवनविकास के लिए समग्र अर्पणभाव से अनुशीलन-परिशीलन करना यह तो महा दुःसाध्य कार्य है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २५३)

* *

जीवदशा में जो कुछ भी गति प्रगट होती है, उस गति के पीछे वेग और धक्का देनेवाली जो शक्ति है, वह तो **अहम्** की है और

जीवदशा में भी जो नम्रता आती जाती है और बनाये रखनी है, उसके विकास के पीछे भी **अहम्** का धक्का होता है । नम्रता यह सद्‌गुण है यह बात सही, परन्तु **जीव**दशा में तो सद्‌गुण का भी सूक्ष्म अभिमान पैदा होता है और सत्त्वगुण की असर से अलिप्त होने का तो बहुत ही कठिन है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २५६)

* *

सही और इच्छित योग्य चमत्कार तो प्रकृति का रूपान्तर हो वह है । भावना में अखंडता उत्पन्न होते ही मन में नीरवता, बुद्धि में प्रज्ञावस्था, चित्त में चेतन की भावना, प्राण में एकमात्र भगवद्‌भावना की आतुरता और **अहम्** में प्रभु प्रेरित शक्ति फलित होते-होते शरणागति को प्रभुकृपा से प्राप्त करेंगे । हमें तो इसप्रकार की भावात्मक परिणामजनक चमत्कार की इच्छा रखनी है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २६९)

* *

अव्यक्त में आसक्ति होना यह अधिक दुविधाजनक है । साकार की भक्ति प्रमाण में अधिक सुगम है । इससे साधना के लिए भक्ति विशेष सानुकूल है । भक्ति से ज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान से योग प्रगट होता है । और वहीं से कर्मकौशल्य भी पैदा होता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७७)

* *

साधन के अभ्यास से साकारता अर्थात् उसका भाव और उसमें से पैदा होती एकाग्रता, केन्द्रितता एवं निरन्तरता; और उसके पश्चात् उसका होता जाता विस्तार ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७८)

* *

जैसे शिक्षण में आगे बढ़ने के लिए साकार की शरण लेना; वह है शिक्षक, उसी तरह जीवनविकास के पथ में अवलंबन योग्य साकार साधन है सद्‌गुरु । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७८)

* *

समझना यह एक बात है और स्वीकार करना दूसरी बात है । समझें हो पर स्वीकार न किया हो ऐसा भी अनेकबार होता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७८)

* *

संपूर्ण दिन की समग्रतः कुल उपयोग में ली गई शक्ति का अधिकतर बड़ा हिस्सा साधना की भावना मूर्त स्वरूप ले इसतरह उसके प्रति समर्पित होना चाहिए ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७९)

* *

कर्म करने पर भी कर्म के पीछे की इच्छा कोई लौकिक प्रकार की नहीं होनी चाहिए; किन्तु साधना के भाव को प्रेरक आधार बना सके इसतरह और ऐसे भाव से प्रभुप्रीत्यर्थ प्राप्त कर्मों को यज्ञभाव से हमें करते रहना है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७९)

* *

मौन तो अच्छा ही है, परन्तु वह मौन रूढ़ प्रकार का, शुष्क, कोरा-कोरा नहीं होना चाहिए । मौन में आंतरिक प्रवाह भावनामय प्रगट हों और वैसा न हो तो उस समय मनन-चिंतन की प्रक्रिया चलती रहे; यानी कि किसी न किसी प्रकार मौन पालते समय साधना के रचनात्मक साधन में समर्पित रहा करें, वही मौन विकासात्मक है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८०)

* *

यदि हम में भावना जागृत हो और सद्‌भाव प्रगट हो चुका हो, तो दूसरों से वैसा प्राप्त होता रहता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८०)

* *

संबंध मात्र, किसी के भी साथ, भाव पैदा हो और बने रहे उसी हेतु से हैं । श्रेयार्थी के लिए वैसा संबंध, भाव बिना का नहीं हो सकता । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८०)

* *

जीवदशा के विचार, वृत्ति या भाव को संतोष देने से मात्र जीवन के प्रति की तमन्ना का जोश और बल कम हो जाता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८२)

* *

अजपाजप होने लगता है, तभी मानसिक जप की धारणा सतत निरंतर रह सकती है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८९)

* *

संसारी मनुष्य और साधक दोनों जन सांसारिक, व्यावहारिक कर्म करते होंगे । अर्थात् दोनों के काम का प्रकार बाह्य रूप से तो एक ही होने पर भी कर्म के पीछे रहे भाव में मूल रूप से अंतर होता है । संसारी का लक्ष्य तो संसार के प्रति रहेगा और उसके चित्त में संसार जन्म लेगा; जबकि साधक अपने ध्येय की भावना को केन्द्रस्थ कर रहा होगा और अपनी उस भावना को विशेष महत्त्व दे रहा होगा । यदि ऐसा न कर पा रहा हो, तो वह उसकी कमजोरी है । ऐसी कमजोरी उसका दोष है । उसमें से उसे निकल जाना चाहिए । इसलिए साधक सचमुच ही सभी प्रकार के कर्म करते-करते अंतर में एकमात्र साधना के ही भाव की एकाग्रतायुक्त ज्ञानात्मक धुन

में प्रगट हो रहा होगा, तब वैसे-वैसे कर्म के क्षेत्र प्रकार के संस्कार उसके चित्त पर नहीं पड़ सकते, परन्तु उसके बल में इससे तो बढ़ोतरी होगी । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २९०)

* *

सद्गुरु के साथ एकता यानी सद्गुरु के जैसा होना है ऐसा नहीं है; परन्तु इसका अर्थ तो इतना ही है कि हृदय-हृदय के साथ मिलकर एकरस हो गया हो और दिल-दिल का ज्ञानभक्तिपूर्वक का तादात्म्यभाव पूरी तरह प्रगट हो जाय और एक के दिल में से दूसरे के प्रति की भावना दूसरे के दिल को भी मिल सके ऐसी दिल की उस प्रकार की एकता; और वैसा होने के लिए हमें प्रयत्न करना है । बाकी हमें एकदूसरे जैसा नहीं होना है । हमें तो प्रभु के लिए वैसा होना है । प्रभु की जो सगुण भावना है, उसकी धारणानुसार अपने जीवन का विकास करना है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २९५)

* *

कर्म योग्य प्रकार से हुआ करें और उसमें सुव्यवस्था प्रगट हो उस पर झुकाव और महत्त्व न देते हुए कर्म करते करते मन-हृदय का भाव हमारी साधना के अनुकूल अंतर्गतरूप बहा करे उसे महत्त्व देना है । भाव को महत्त्व देते कर्म में यद्वातद्वारूप पैदा होगा, यह मान्यता एक भ्रम है । कर्मकौशल्य एकाग्रता से प्रगट होता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २९६)

* *

भाव विकसित होकर एकाग्र और केन्द्रित होता है । उसका प्रत्यक्ष लक्षण यह है कि वृत्तियाँ शमित और स्थिर होती हैं ।

जैसे किसी निपुण बजानेवाले या प्रवीण गानेवाले को थोड़ा भी सुर बेसुरा होने पर तुरन्त पता चलता है, वैसे ही हमें कहीं भाव की धुन से थोड़ा भी भिन्न होने पर एकदम आघात लगना चाहिए । इसतरह का अनुभव यदि हो तो हमारे भाव की धुन में हैं समझें । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २९९)

* *

किसी भी प्रकार की अन्यथावृत्ति किसी के विषय में न आने दें और करें भी नहीं । क्योंकि उसमें तो अपना अहित है । मानो कि हमें वैसा होने का सच्चा योग्य कारण मिला हो तो भी वैसा होने से उस अन्यथावृत्ति के वैसे संस्कार हम में ही पड़ेंगे; जिससे हम अपना अहित स्वयं कर रहे हैं, ऐसा साधक को लगना चाहिए । सचमुच तो साधनापथ में सभी के प्रति किस प्रकार केवल सद्‌भाव विकसित हो उस ओर लक्ष्य रखना चाहिए । यथार्थ रूप से होती हुई साधना के भाव में से तो वैसा सद्‌भाव ही प्रगट होता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३००)

* *

हमने जो भाव दृढ़ करने का निश्चय किया हो, उस निर्णय को मदद करें ऐसा यदि विचार किया जाय तो उत्तम; परन्तु इधरउधर प्रगट हो तब भी उसके प्रवाह में न बहें, इतनी जागृति रखनी चाहिए ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३०१)

* *

जैसे वाणी का मौन ऐसा ही प्रत्येक इन्द्रियों का मौन । इस प्रकार के मौन का अभ्यास करते रहना है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३०४)

* *

एकाग्रता का भी एक प्रकार का आनंद होता है । जरा भी किसी में प्रगट हुई एकाग्रता से भाव और आनंद जन्म लेता है । जैसे-जैसे एकाग्रता आती और बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे भाव अधिक और अधिक खिलता जाता है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३०४)

* *

करुणा से दूसरों के लिए प्रेरित होते हों तो स्वयं के लिए ही प्रथम करुणा क्यों नहीं ? *हम अपने लिए तो हृदय की योग्य प्रार्थना करने को पूर्ण समर्थ हुए नहीं हैं, वहाँ दूसरे के लिए वैसा करने की वृत्ति करना यह गुमराह होने के बराबर है ।*

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३११)

* *

जीवदशा के प्राकृतिक भावों से मुक्ति किसी बुद्धि की कोरी समझ से, विचार बल से या नीति एवं सदाचार के स्तर अनुसार व्यवहार करने से प्राप्त नहीं होती ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३२२)

* *

जो कुछ भी आये उसके बाह्य स्वरूप से नहीं पर उसे हार्द के भाव से स्वीकार करें तो सरलता आएगी ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३२४)

* *

ज्ञानीजन मनुष्य की कीमत उसके आंतरसत्त्व पर से आँकते हैं, नहीं कि बाह्य पोषाक या दिखावे पर से; वैसे भाषा के प्रासंगिक और प्रासादिक अलंकार से अधिक उसके समग्र रूपरंग पर से और समग्र रूपरंग से भी अधिक उसमें से निकलते भाव रहस्य पर से कोई भी साहित्यिक रचना का मूल्यांकन और कदर करना अधिक इष्ट है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३२५)

* *

गीताजी में जो 'भजते' शब्द का प्रयोग आता है, उसका ऊपर-ऊपर का वाणी में ही भजन करते हैं ऐसा अर्थ या भाव नहीं होता, पर हमारी समग्र चेतना पलपल प्रभु के भक्तिभाव की सतत और निरन्तर धारा से छलकती रहे वह 'भजते' का अर्थ है। फिर मनसा, वाचा, कर्मणा भजने के अलावा अथवा उससे अधिक स्पष्ट अर्थ में ''**सम्यग् व्यवसित हि सः**'' कहा है । यानी कि उसके जीवन के प्रत्येक आचार-विचार योगयोग्य चेतनात्मक प्रकार के प्रगट होने चाहिए; उसके अंदर के सभी मनादि- करणों में सुमेल, सुसंवाद होना चाहिए, यानी कि वे सुव्यवस्थित होने चाहिए । वैसे ही उसके जीवन में और जीवन के सर्वक्षेत्र और सर्व पहलुओं में भावपूर्ण योगयोग्य व्यवस्थिति प्रगट हो गई होगी और इससे उसका जीवनव्यवसाय भी उसीप्रकार का होगा; ऐसा भक्त '**क्षिप्रम्**' शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है, चिर शांति को पाता है, अखंड धारावत् हृदय का आह्लाद पाता है । ऐसे भक्त के लिए भगवान वचन देते हैं कि उसकी भक्ति मिथ्या नहीं होती, वह नष्ट नहीं होता है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३२६)

* *

'**निर्बल के बल राम**' का अर्थ तो यह है कि जब **जीव**दशा में से संपूर्ण **अहम्** का लय हो जाय और बिलकुल अंतिम घड़ी तक सभी पुरुषार्थ करते हुए '**हारे को हरिनाम**' ऐसी स्थिति प्राप्त हो, तब '**निर्बल के बल राम**' ऐसा हम सच्चे भाव से पुकार सकेंगे ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३११)

* *

बहुत से भाष्यकार अमुक सांप्रदायिक मत को पोषण देनेवाले या अपनी रुचि और कक्षा अनुसार या स्वयं माने कालधर्म अनुसार

अपने Mission– प्रभुप्रेरित उस स्थानकाल के लिए अपने कर्तव्य अनुसार मूल श्लोक का अर्थ करते होते हैं और वह उनके लिए योग्य भी है । पर हमें तो मूल श्लोक का ही स्वयं अपने जीवनयोग के अनुकूल जिस तरह अर्थ सूझे इसतरह उसमें से उसका हार्द पकड़ना है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३२८)

* *

'ज्ञान' का सही अर्थ समझ नहीं, पर वैसा जीवन ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३३१)

* *

मनुष्य के संयोगों से, बुद्धि के प्रभाव से, मन के अभिमान से, विद्वत्ता के घमंड से, जीवनव्यवहार में प्राप्त हुए या मिले लाभ तथा जय और यश से, आगेपीछे के लोगों की बोलबोला से, वातावरण से आदि ऐसे-ऐसे अनेक कारणों से **जीव** में एकप्रकार की अहंप्रेरित Personality की—विशिष्टतायुक्त व्यक्तित्व की—परत जमती जाती है और वह जीवन के विकास पथ में अति विघ्नरूप बनती जाती है । अहंप्रेरित विशिष्ट व्यक्तित्व के या ऐसी दूसरी वृत्ति के ढाँचे में यानी कि अभिमन्यु के चक्रव्यूह में हम घुसे तो फिर भूलभुलैया में भटककर रुक जाएँगे । ऐसे चक्रव्यूह से बाहर खींच निकालनेवाला यदि कोई हो, तो वह जीवनविकास की साधना है । उस साधना के बल पर हम समय रहते जागृत हो जाते हैं और हम से हो रही चूक दीये जैसी स्पष्ट दिखाई देती है, ऐसी भूलभुलैया से प्रभुकृपा से बाहर निकल सकते हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३३६-३८)

* *

चर्चा का मूल उत्पादक कारण अहंकार है । चर्चा में दूसरे पक्ष के लिए एक प्रकार की सूक्ष्म अनुदारता रही होती है । सामनेवाले को

पहचानने की शक्ति हुए बिना उसके विषय में जाने–अनजाने हमें इसप्रकार मानने का मन होता है कि हम उससे बुद्धि में और समझ में और उसकी योग्यता से बढ़कर हैं । फिर सूक्ष्म रूप से उसमें दंभ भी निहित रहता है, क्योंकि चर्चा के रस में बहकर सामनेवाले व्यक्ति के कथन में जो कुछ भी सत्य है, उसका स्वीकार करना असंभव होता है और कई बार वह गहराई में समझ से आता हो, तब भी उसके प्रति दुर्लक्ष रखकर हम अपना उल्लू सीधा करने के लिए प्रयत्न करते हैं । चर्चा में बुद्धि का दुरुपयोग भी होता रहता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३४०)

* *

'अमुक कार्य की सिद्धि उसका काल पके तभी होती है' ऐसा जो कहा जाता है, वह 'काल पकेगा' निर्माण की हकीकत जितनी सत्य है, उतनी ही फिर काल पकने की मुद्दत में कम ज्यादा होना हमारी साधनामय जीवनध्येय की तमन्ना की उत्कटता, जीवनविकास की प्रेमभक्ति आदि से फलित होते आंतरिक उत्कट प्रयास से हो सकते हैं, यह हकीकत भी उतनी ही सच है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३४५)

* *

साधना अर्थात् काल को शीघ्र और साथ ही योग्य रूप से पकानेवाली जड़ीबूटी । प्रतिकूल संयोगों को अनुकूल करने की कला अर्थात् साधना, ऐसा भी कह सकते हैं । प्रकृति द्वारा **जीव** की होती उत्क्रांति में शक्ति और प्राणसंचार लाकर उसे वेगशील और भावात्मक बनानेवाली जो चेतना की प्रक्रिया है, वही साधना है ऐसा भी कह सकते हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३४५-४६)

* *

जहाँ कहीं सात्त्विक असामान्यता दिखाई दे या लगती हो वहाँ से भगवान की भावना का प्रेमभक्तिपूर्वक स्वीकार करने का अनुभव करते रहें । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३६८)

* *

सृष्टि के जीवनविकास के इतिहास में मूल तत्त्व के अंतर्गत रही चेतना—वह अंतर में रहकर किसी न किसी रूप में व्यक्त होकर नये नये रूप धारण करती रहती है । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. १, २)

* *

युद्ध अर्थात् मात्र संहार यह समझ बहुत अधूरी है । युद्ध से खंडन और मंडन दोनों होता है; युद्ध अर्थात् खंडन और मंडन दोनों । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. २, ३)

* *

सतत निरंतर चलती आ रही हमारी सुखावस्था और सुख का भान मनुष्य के मन में नहीं जागता; जबकि सुखावस्था के प्रमाण में खूब ही अल्प समय के रोग और दुःख का भान उसे तीव्रता से होता है । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. ६)

* *

व्यक्ति, जाति या समाज को संघबद्ध हुए बिना नहीं चलता । जिस किसी की शक्ति उसे सर्वश्रेष्ठ योग्यरूप में संघबद्ध रहा करती है, वही जीने लायक रहता है । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. ८)

* *

बुद्धि क्षेत्र, मन क्षेत्र, प्राण क्षेत्र, शारीरिक क्षेत्र में इसतरह मनुष्य के आधार के प्रत्येक करण की प्रवृत्ति में युद्ध चलता रहता है । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. १२)

* *

जहाँ द्वन्द्व है, वहाँ युद्ध है । अनेक प्रकार के द्वन्द्वों के युद्ध द्वारा सृष्टि में भगवान का दिव्य सूक्ष्म हेतु सिद्ध होता जाता है ।

('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. १६)

* *

जिस निर्णय के पीछे विषाद रहता है, दुःख रहता है, संताप जागता है, क्लेश पैदा होता है, वह निर्णय उचित रूप से हृदय से स्वीकार नहीं हुआ ऐसा जानें । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. २७)

* *

मनुष्य जहाँ तक सभी बातों में स्वयं को ही सर्वश्रेष्ठ समझता होता है, वहाँ तक भगवान का भाव कभी भी उसके आधार में नहीं जाग सकता । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. ४६)

* *

कर्मक्षेत्र ऊँचा हो या नीचा, उस पर कर्म के परिणाम का आधार नहीं है; परन्तु कर्म के पीछे मनुष्य जीता-जागता कैसा हेतु और भाव रखता है, उस पर कर्म की उत्तमता या कनिष्ठता का आधार है ।

('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. ५६)

* *

जहाँ विसंवाद है, वहाँ अशांति; जहाँ अशांति, वहाँ विकास अवरोध । ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. ५७)

* *

जीवन में ब्रह्मा का सर्जन, विष्णु का रक्षण और पोषण और महादेव का विनाशक तांडव भी होता है ।

('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. ५८-५९)

* *

समर्पणशाली जीवन से नयी ज्योति पैदा होती है ।

* *

जगत में सभी अभेद रूप में तत्त्वरूप में विद्यमान है, इसलिए जो कुछ हम में बना करे वह हमारे लिए ही है । उसका मूल कारण हम में ही है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ९)

* *

कुछ भी कही (नापसंद या दुःखदायक भी) उद्‌भवित होने पर या होते हुए उसके मूल को अपनेआप में ही देखने का प्रयत्न करें और देखें उसका नाम है अभेद उपासना । ऐसा करते-करते संसार का मूल हम ही हैं, ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रह पाता ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ११)

* *

साधना अर्थात् भक्ति, ज्ञान, ध्यान और कर्ममार्ग का समन्वय । भक्ति यह भाव का प्रपात, ज्ञान वह उद्देश्य, ध्यान यानी एकाग्रता और केन्द्रितता, कर्म अर्थात् उन सभी का सुयोग्य रूप से, सुमेलपूर्वक प्रवाहित होने का पट–channel. ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १०)

* *

भावना का उद्‌भवस्थान हृदय है । यदि हमें कोई भी निरालंब भूमिका का अनुभव करना हो तो कोई भी कल्पनागम्य साकार में पिरोना नहीं होता, जिसे जैसा होता हो, वह उसके लिए श्रेयस्कर है । ऐसों का मतिभ्रम भी हमारे द्वारा नहीं करना चाहिए । हमारे लिए यह ठीक नहीं है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १३)

* *

प्रार्थना भी एक प्रकार का ध्यान ही है । प्रार्थना साकार है । ध्यान निराकार है । ध्यान में हम किसी का आधार नहीं लेते; भाव की वृद्धि के लिए प्रार्थना का साधन रूप में आधार लेते हैं पर दोनों का परिणाम

एकसमान है। प्रार्थना के समय हमें ध्यानस्थ होना चाहिए। भावना का भाव में लय हो जाय, यह प्रार्थना का रहस्य है।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १३)

* *

गुरु अर्थात् साधक के जीवनविकास की सीढ़ियाँ उत्तरोत्तर बढ़ानेवाली एक सीढ़ी; उसकी समझ को उच्चतर और उच्चतम भूमिकाओं के साथ जोड़नेवाली साँकल।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १६)

* *

सूक्ष्मभाव में कहें तो गुरु की समीपता या दूरी कुछ है ही नहीं; क्योंकि गुरु यह तो भाव रूप है। ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १७)

* *

अपने साथ शादी के भाव से जुड़े **जीव** की जो अवगणना करता है, वह साथ ही साथ समाज की भी अवगणना करता है। ऐसा **जीव** समाज के चरणों में लाखों रुपयों का दान दे तो भी वह जीवनविकास के लिए वृथा है। ऐसे दान से समाज की भावना कभी भी विकसित नहीं हो सकती, भले ही शायद स्थूल दृष्टि से समाज का कुछ चल रहा हो तो रहे। ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ५२)

* *

Trifles– क्षुल्लकता भी बेकार नहीं है। उसमें भी श्रीभगवान की ही चेतनाशक्ति खेल रही है। वह भी उसका ही स्वरूप है पर उसमें भी हमारा भाव उस चैतन्यभाव का ही बना रहे तो।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १३)

* *

जगत में कुछ भी बेकार नहीं है । जिसे मनुष्य बिलकुल खराब गिनता है, वह भी बेकार नहीं है । वह खराब दिखता है या गिना जाता है, उसका कारण हम उसे उस ढंग से गिनते, देखते, समझते, मानते, उपयोग करते आये हैं वह है; बाकी खराब कुछ भी नहीं । जो भी है सभी यथास्थान योग्य ही है और भगवानमय है ।

खेतों की खाद कितनी भी दुर्गंध फैला रही हो तब भी उसका स्थान संसार में है ही और वहाँ उसका उपयोग भी है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ५९, १३४)

* *

आत्मविश्वास यह मिथ्याभिमान का भाव नहीं, परन्तु यह तो ध्येय के प्रति पहुँचानेवाली आवश्यक भावना है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १०७)

* *

प्रेमस्वरूप होने के लिए यदि कोई भी अनिवार्य आवश्यकता हो तो वह हार्दिक मानसिक उदारता की है ।

* *

*हार्दिक उदारता अर्थात् **जीव**मात्र के प्रति मैत्रीभाव ।*

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ११९)

* *

केवल बुद्धि या भावना से या दोनों में से एक के अधिक झुकाव से जो जीवन जीते हैं, वह विवेकशून्यताभरा जीवन होने से साधक के लिए बाधक है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १३१)

* *

तटस्थता और अनासक्ति लगभग पर्यायवाचक (समान अर्थवाही) शब्द हैं; तब भी उसमें भेद है । तटस्थता एक ढंग से अनासक्ति का परिणाम गिन सकते हैं । ('जीवनसंदेश', आ. ७, पृ. १३१)

* *

बुद्धि मनोभाव से भी अधिक आग्रही और दीर्घकाल पर्यंत अपना जीवन टिकाने के लिए शक्तिशाली है ।

('जीवनसंदेश', आ. ७, पृ. १३४)

* *

विवेक अर्थात् सम्यग् दर्शन करानेवाली दृष्टि, योग्य भाव रखनेवाला हृदय, योग्य कर्म सुझानेवाली सद्‌बुद्धि ।

('जीवनसंदेश', आ. ७, पृ. १३५)

* *

जीवनविकास का सच्चा साधक, प्रजा को—अपने देश को—प्रत्यक्षरूप से उठानेवाले (ऊपर उठाने के लिए) सीधे कार्य में भले न हो, पर वह स्वयं हृदय से भावनाशील रूप से उठा करता होगा या ऐसे उठा करने में ही समस्त प्रजा उठती हो; और यह कोई एक ही प्रजा की मात्र सेवा नहीं, पर सर्व प्रजा की और इससे भी विशेष समस्त समष्टि की वह सेवा है । ('जीवनसंदेश', आ. ७, पृ. १४४)

* *

दुनिया में खेले जा रहे युद्धों में लगे हुओं की तो जगत को जानकारी भी होती है; उनके यशोगान गाये जाते हैं पर इस आध्यात्मिक युद्धक्षेत्र में युद्ध खेलनेवाले साधक को तो कोई देख या जान नहीं सकता, क्योंकि संसार में इसप्रकार की दृष्टि या वृत्ति उस ओर बहुत कम होती है, इसलिए उसकी कदर या उसकी वाहवाह बोलनेवाले खास कोई नहीं होते । उन्हें अपने में से ही संतोष पा लेना होगा ।

('जीवनसंदेश', आ. ७, पृ. १४५-४६)

* *

प्रेम अर्थात् एक दूसरे को जोड़नेवाली सूक्ष्म कड़ी ।

प्रेम यह जोड़नेवाली अर्थात् बाँधनेवाली कड़ी भी है और मुक्ति देनेवाला साधन भी है ।

संपूर्ण बंधन तथा संपूर्ण मुक्ति अर्थात् प्रेम । सच्चा प्रेम ऐसी कड़ी है कि जो कड़ी ही नहीं, पर मुक्ति का स्वरूप भी है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १५९, १६२)

* *

परम चैतन्यतत्त्व के साथ जुड़े देहधारी अर्थात् जीवनमुक्त ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १६२)

* *

प्रेम द्वैत बिना असंभव है, पर वही द्वैत उसके जीवनमुक्त शुद्धतम रूप में अद्वैत है ।

प्रेम अर्थात् ज्ञान ।

प्रभु का ज्ञान पाने के लिए प्रभु के प्रति प्रेम अनिवार्य साधन है और पूर्ण प्रेम और पूर्ण ज्ञान ये तो पर्यायवाचक शब्द हो जाते हैं ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १६९)

* *

धिक्कारवृत्ति यह प्रेम की विकृत दशा है अर्थात् विपरीत पहलू है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १७२)

* *

सच्चे स्वानुभव में जैसे सर्वानुभव आ ही जाता है, वैसे स्वकल्याण की प्रवृत्ति में सर्वकल्याण की प्रवृत्ति अपनेआप हुआ करती है ।

समदृष्टि अर्थात् निर्लिप्त समन्वयात्मक दृष्टि ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १७२)

* *

अपने देश या समाज के लिए प्राणार्पण करने तैयार होने में उच्चकोटि का प्रेम नहीं है ऐसा तो कैसे कह सकते हैं ? यद्यपि उसमें भी अनेकबार विस्तृत अहंभाव और पार्थिव माप से ही अन्य जन को समझने की वृत्ति और दृष्टि विद्यमान होती है और इससे वहाँ रागद्वेष की मात्रा भी अधिक होती है; शुद्ध प्रेम तो आत्मस्वरूप–प्रभुस्वरूप है; इसमें कहीं पक्षापक्ष नहीं होता । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १६८)

* *

प्रेम यह हमारे दिल की भावना का गतिवाहक यंत्र है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १८१)

* *

हमारे जीवन में कर्म-प्रारब्ध का पाश रहता है सही, पर जीवन में भगवान की शक्ति भी साथ में होती ही है; रहती है, इसीसे वह नया रचने के लिए स्वतंत्र है ।

आज जैसे भूतकाल का परिणाम है वैसे भावी का सफल सर्जक भी वह हो सकता है । ('जीवनसंदेश', आ. ७, पृ. १९१)

* *

स्वभाव के आक्रमण चाहे कितने ही जोरदार हों, तब भी, संभाल रखें, जागृति से उससे खिंचकर दूसरों के प्रति अयोग्य व्यवहार न हो, ऐसा देखनेवाले और व्यवहार में प्रयत्न करनेवाले का नाम साधक । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १९६)

* *

राम-रावण युद्ध में राम, लक्ष्मण आदि को शायद सबसे अधिक त्रास इन्द्रजीत का था; क्योंकि वह अपना सच्चा स्वरूप मायावी स्वरूप में ढंककर, बादलों के पीछे छिपकर, न दीखे ऐसे स्थान से बाण फेंकता था । उसी प्रकार प्रकृति के आक्रमण साधक के जीवन में

अधिक से अधिक गुप्त वेश में होते ही जाएँगे । *ऐसे मायावी स्वरूप से रक्षा करने का शस्त्र साधक के लिए तटस्थता और समतायुक्त आंतरनिरीक्षण है ।* ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २१३)

* *

साधक अर्थात् सभी बातों में मूर्ख नहीं, किन्तु साधक अर्थात् सभी तरह दक्ष, चकोर और होशियार ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २०२)

* *

संत समागम से तथा उनके समीप रहने के वातावरण से हमारे करणों पर अच्छी असर होती है यह सत्य है; – पर यदि उस संत के प्रति हमें सद्‌भाव, मान, आदर, विश्वास, श्रद्धा या प्रेमभक्ति हमारे हृदय में पैदा हुई होगी तभी । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २१७)

* *

आसक्ति बिलकुल न हो तो अहम् का संपूर्ण लय हो गया होगा; क्योंकि अहम् से आसक्ति, राग, मोह, लोभ, क्रोध आदि जन्म लेते हैं । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २२०)

* *

साधक के जीवन में दुःख यह निर्माण-तरक्की है, वह जरूरी तालीम देनेवाला है और इस दुःख के प्रकार में आर्थिक दुःख का भी समावेश होता है ।

* *

शरीर तो धीरे-धीरे चलनेवाली बैलगाड़ी है । उसमें जो डूबा रहता है, वह शरीर को ही प्राप्त करता है, शरीर जैसा जड़ रहता है और होता है; पर शरीर को साधन मानकर उसे उस ढंग से जो रक्षा करता है, उसकी संभाल रखता है, अपनी खराब आदतों को सुधार

लेता है, और उसका भी दिव्य रूपान्तर करना है उसका सजग ख्याल - भान रखता है, वैसे साधक को वह मददरूप होता है ।

एक वेश्या, जुगारी, कसाई या एक राजकीय खेल का खिलाड़ी —ऐसे लोग भी यदि अपनी बुद्धि भगवान के शरण में रख दें तो अपने-अपने क्षेत्र में भी यह भगवत्चिंत्वन जरूर हृदय से कर सकते हैं, उसका लाभ उठा सकते हैं और तैरकर पार आ सकते हैं ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १२७)

* *

जो **जीव** साधना में ओतप्रोत होता जाता है, उसमें तो जहाँ जहाँ जगत में सौन्दर्य की भावना कोई भी कला रूप में व्यक्त हुई हो, उसके प्रति उसके हृदय की सद्वृत्ति खिलती जाती है । रमणीय सूर्योदय या सूर्यास्त के समय, आकाश में पूर्णिमा की शीतल चांदनी खिली हो तब, जंगल की वनस्पति का प्राकृतिक सौन्दर्य सर्वत्र भरा हो तब, समुद्र की आलोड़न लेती लहरों में, मनुष्य के हृदय के सद्भाव में, नृत्य-संगीत-चित्र-शिल्पकला आदि ललित कला के तेजस्वित दर्शन में, कल्पना के उड्डयनशील प्रभाव में या कोई आकाशी भावना के साहित्य सर्जन में— इन सभी में भगवान की चेतनाशक्ति का दिव्य स्पर्श हुआ है, ऐसी हृदय की धारणा बनकर और वहाँ वहाँ ऐसे साधक का प्रार्थनाभक्तिभाव से सिर झुकता है ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १८३)

* *

जिस मंथन, विलाप, रुदन से कुछ शुभ नहीं जन्म लेता यह व्यर्थ है । मनुष्य रिसाया हो, अकुलाया हो, रूंध जाये, आघात लगे तब रुदन होगा; परन्तु उसके प्रत्याघातों से उसके परिणामजनक अनुभव को हृदय में स्वीकार करने की तैयारीवाला यदि मनुष्य न हो

सके, तो ऐसा दुःख, रोना आदि यह तो उसकी मूढ़ता के कारण हैं । मूढ़ता न हटे, वहाँ तक कोई योग्य समझ नहीं आएगी । मूढ़ता यह एक ज्ञान में आड़े आनेवाला एक बड़ा परदा है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १६२)

* *

*जीवनविकास के मार्ग पर सही ढंग से, सच्ची भावना से, मर्दानगी से, हृदय की उमंग के साथ, प्रेमभक्ति से जो **जीव** एक के बाद एक कदम आगे बढ़ाता रहता है, वही कार्य सच्ची गुरुदक्षिणा है ।*

साधना के क्षेत्र में यदि लग गये, तो उसमें तो संपूर्णरूप से समर्पित हो जाना है । अलग-अलग दिशा में विभाजित हृदय को समेटकर, प्रेरित करते हुए और जीवंत रखकर सतत यज्ञ में आहुति देते रहना है । ऐसा प्रत्येक पल का जीवंत यज्ञ जीवन में जब तक न आये, तब तक साधना का काम नहीं हो पाएगा । जीवन में जीवन का ऐसा निरन्तर चलनेवाला अटूट यज्ञ ही सच्ची गुरुदक्षिणा है । इसकी कीमत गुरुचरणों में लाखों रुपयों की भेंट से भी बढ़कर है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १७१, १९४)

* *

प्रत्येक **जीव** की अनेक जन्मों की समग्र और अटूट संस्कार-शक्ति किस प्रकार की है और मृत्यु के समय उस **जीव** की कैसी गति रहती है, उस पर तुरन्त या देर से उस **जीव** के जन्म होने का आधार रहता है ।

*पुरुषशरीरी **जीव** दूसरे जन्म में स्त्री रूप में भी जन्म ले सकता है और स्त्रीशरीरी **जीव** पुरुष रूप में भी जन्म ले सकता है । पुरुष हो, वह पुरुष के ही रूप में जन्मे और स्त्री हो, वह स्त्री के रूप में जन्मे ऐसा कोई अचल और अटल नियम नहीं है ।*

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ११०-११)

* *

मौन अर्थात् मात्र वाचा का मौन नहीं; यह तो उसके एक स्थूल पहलू का अर्थ है । *सच्चा मौन तो पाँच इन्द्रियों का होना चाहिए । सभी इन्द्रियों को अपने अपने विषय में रुचि लेती रोक सके तभी सच्चा मौन गिना जाएगा । मौन की साधना में यह मुख्य है ।* ऐसी दशा आने पर सारे जीवन की दृष्टि और सृष्टि में परिवर्तन आता है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २५८)

* *

प्रसंग, घटना, संयोग, परिस्थिति आदि सभी भले ही अलग अलग लगें, तब भी इन सभी के आगे, मध्य में और पीछे एक निरन्तरता और समग्रता, सतत रहा ही करती है । यह निरन्तरता और समग्रता के अनुभव दर्शन जिसे होते हैं, वैसी आत्मा कभी भी उस उस प्रसंग, घटना, संयोग आदि को उसके वैसे अकेले ही ढंग से नहीं देख सकती । इससे प्रसंग, घटना आदि को देखने, समझने में उसकी दृष्टि कोई पारलौकिक, अलौकिक प्रकार की होती है । इससे वह देखता तो होता है, पर वह हमारी तरह तो नहीं । उसके हृदय की संवेधकता की पारदर्शिता को तो वही जान और समझ सकता है । इसी कारण से प्रसंग, घटना, संयोग आदि प्रति उसकी समझ को योग्य स्वीकारात्मक भाव से **जीव** प्रेमभाव से ग्रहण कर सकता है, वैसा **जीव** अधिक शांतिवाला भी हो सकता है ।

* *

रत्नकणिका

(अनुष्टुप)

काम से काम का हो काम में सर्व समर्पण,
सर्व प्रकार का श्रेष्ठ, यह काम प्रभु-तर्पण ।

* *

कर्म के आदि मध्य औ' अंत में प्रभु को हृदय में,
रख जो करे कर्म, वह सत्कर्तव्य-योग है ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १९७)

* *

मिला है काम से दाम, नाम भी मिले काम से,
काम से राम जागते, राम मिलते काम से,
जिसके काम में राम, सरल हो वह काम,
काम तो है कामधेनु, काम तो है कल्पवृक्ष ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १८३)

* *

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव कर्म के वे स्वरूप हैं,
अनादि कर्म की माया, कर्म में ईश व्यक्त है ।

* *

सेवा की भावना साथ, चेतना परमेश्वरी,
धारणा न हो उर में, दिव्य विकास हो कैसे ?

* *

सूर्य के प्रमाण हेतु, अन्य कोई न प्रमाण,
स्वयं हो अनुभव वे, वैसे चैतन्य भाव में ।

* *

विद्युतत्त्व यद्यपि स्वयं अप्रकाशित रहे,
संबंध-तत्त्व से अन्य देदीप्यमान हो रहे ।

* *

मानना है एक बात, मानी गई दशा और,
अंतर कहीं मील का, दोनों बीच रहा सही ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ३३, ३७, ५६, १३६, १५९)

* *

कर्म से विश्व जन्मा है, कर्म से पोषित विश्व,
कर्म से मृत्यु पाता ये, कर्म में ये तीनों क्रिया ।

* *

सेवा में तुम जहाँ खड़े, वहाँ प्रसंग आये,
सेवा अपनी इसतरह करे, विश्व तेरे ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १६१, १६४)

* *

बहुमूल्य महामंत्र जीवनसिद्धि का कोई,
विश्व में अस्तित्व में हो, दुःख तो एक जानना ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ४३)

* *

दुःख तो महाशक्ति **जीवों** के लिए संजीवनी,
दुःख यह कुरबानी प्रभु के प्रेम-भाव की ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ४६)

* *

उर-दुर्बलता जन्मे संतोष काम का ही क्या ?
वह तो मृत्यु लाता है, अग्नि को बुझाता पूरा ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ५०)

* *

विश्व का कानून ऐसा, मरके जीने के लिए,
दुःख से जो मरे, ज्ञान से, चेतना से जीया गिनो ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ५२)

* *

मर्यादा जहाँ न केन्द्रस्थ, हमारा है तत्त्व वह,
पार कर सके मर्यादाएँ सारी सचमुच ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ९७)

* *

निर्णित हो गयी सारी यांत्रिक रीति की दशा,
ऐसी परंपरा से भी यह तत्त्व जीवन का महा ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ९८)

* *

माया को जानने से तो, माया को ही पायें लोग,
माया का परदा चीर जो देखे, पाएगा सही ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. १००)

* *

आखिरी सत्य न कर्म, सत्य हैं पर कर्म से,
पहचानने सत्य कर्म, कर्म नहीं सर्वोपरि ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ९९)

* *

प्रकृति चेतना बीच सदा मानव तो झूले,
'स्वतंत्र-जकड़ा हुआ' ऐसी दो वृत्ति में खेले ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. १०१)

* *

कर्म तो व्यवहार व पारमार्थिक क्षेत्र में,
संस्कार डालता रहे, मरे व मारता वहाँ ।
कर्म का कानूनी भारी, खिलती आत्मशक्ति जहाँ,
उसके अधीन रह; जानना निश्चित सदा ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. १००, १०१)

* *

प्रभु भाव से अलग, स्वतंत्र कर्म न कहीं,
शुद्ध सात्त्विक सभी कर्म, स्वभाव व्यक्त ब्रह्म का ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ११०)

* *

सड़ी वस्तु फेंक दे, सरलता से मानव जग में,
विचार सड़े हों किन्तु, मानव सहज ग्रहे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. ३, पृ. ७९)

* *

पूरी तरह मरा, भीतर से तूमड़ा यदि,
तारने की शक्ति पाता, स्वयं हृदय निश्चित ।
पारा जब मरा होगा, शक्ति रोग सुधारने,
स्वयं मिलेगा, उसे ही, ऐसा हमारा जानना ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४६)

* *

मृत्यु पाने के लिए भी, जिसे प्रेम रहा करे,
मृत्यु और जीना– दो से ऐसा नित्य होता परे ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४७)

* *

प्राप्त हो जो धर्म, उपेक्षा उसकी करके कहीं,
प्राप्त करने जाय धर्म, उसे धर्म न मिले ।

* *

जहाँ जीवन संबंध, वहाँ धर्म को समझें,
भिन्न जीवन से कहीं, धर्म का भाव न कोई ।

* *

एक-एक कदम जो अनंत पथ में रखे,
धीरे-धीरे बढ़कर वही **अनंतता** पाये ।

* *

अभ्यास किये बिना, हृदय के प्रेमभाव से,
पहुँचना संभव मानें, वे मूर्ख शिरोमणि ।

* *

प्रभु को बिसरकर, स्वभाव कर्म के वश,
जो किया करता रहे, उसे कृपा कैसे मिले ?

* *

विश्व से वे अलग भाव, प्रभु का कहीं नहीं;
देखे प्रभु अपने में, उसे विश्व में मिले ।

* *

जीवन-साधना प्रेम से जो करे, श्रेय पाये;
उसका सारा ही श्रेय, उसका जीवन श्रेय है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १९४-९५-९६)

* *

स्वतंत्र रूप एक भी, प्रेम का कोई भी नहीं,
स्वयं जैसा मानें सभी प्रेम का रूप चित्त से ।
प्रेम को मानना ऐसा मिथ्या मानवी का सच,
हमारे सारे रूपों से प्रेम कैसा परात्पर !

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ५४)

* *

जीवन द्वारा उद्‌भवित जो हमारा धर्म हो वह,
आचरण में ही संतोष मानना हृदय से ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ६९)

* *

(मालिनी)

हृदय भीतर उठतीं वृत्तियाँ जो सारी,
शरम नहीं रखती सब कुछ बोल देतीं ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ९५)

* *

(वसंततिलका)

खिले दीखें जो स-रस मौका-पुष्प आज,
कल कब बिखरें मुरझाके ताप से;
लेना ही हो कुछ लाभ समय से ले लो,
बीत जाए समय, कल नया ही देखो ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १८०)

* *

(अनुष्टुप)

अपना यदि कोई हो सच्चा ऐसा परीक्षक,
स्वयं है एक, यदि जिये सच्चा जागृतिपूर्ण ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १२५)

* *

मिला संसार यह तो प्राकट्य प्रभु की लीला,
यदि प्रभु न देखो तो मिले प्रभु कहीं नहीं ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ३२)

* *

संसार तो प्रभु की है शाला प्रयोग सीखने,
सीखने को ही संयोग, प्रभु ने ही खड़े किये ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ३२)

* *

एकसमान किसकी प्रकृति, न कभी जगे,
तो भी उसमें खेलें, कैसा एकभाव से प्रभु !
आदर्श उदाहरण, ऐसा प्रभु का हम लें,
आचरण सजग रखें, काम निपटे सही ।

* *

अंतर में यदि हो न, वह एकाग्रता पूरी,
रखें बाह्य कर्मों में भी, वैसी एकाग्रता निरी,
एकाग्र रहने में भी, वे तटस्थ रहा करें,
नहीं तो कर्म में पूरे, लिप्त हो जाओगे पूरे ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ३२, ३४)

* *

(गजल)

समर्पण-यज्ञ की वेदी पर बलिदान देकर,
जाये जो प्रिय-मिलन को, होता है एक प्रिय में ।
जीवनसर्वस्व कुरबानी करते, प्रिय के लिए
अष्ट चक्र दीप्त होते, जीवन सफल उनका ।

('जीवनसंदेश', आ. १, पृ. १४२)

* *

तुम्हारे हमारे में क्यों हो बाधा, अरे ! क्यों ?
कुछ क्या बाँटना है ? अहम् ही उसका कारण है।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. ८)

* *

कलेवर, काव्य या राग न संगीत को पूरा होता,
अधूरा क्यों वह जाने; जीवन-संगीत कैसा व्याप्त !

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. २६)

* *

सकल जड़ चेतन में व्याप्त क्या एक का **एक,**
यद्यपि वह व्यक्तता में भिन्न-भिन्न, सब निरा ।
विविधता सूक्ष्म जीवन की निराली क्या निराली है !
विविधता में भी है फिर रहा वह **एक** कैसा !

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. ५१)

* *

हृदय के प्रेमशौर्य से जीवन-शहादत के पंथ में,
गहन तैयारी मिट जाने की ठंडे कलेजे से ।
प्रभु के पदकमल में जिसकी, जीवन-शक्ति हृदय की,
रहती है विकसित, कर सकेगा प्रभु-भक्ति ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १२६)

* *

(अनुष्टुप)

दैवी चैतन्य का भाव, पृथ्वी की प्रकृति में हैं,
ठहरता न वे कभी, ऐसा जाने साधक ही ।
दूध सिंहनी का तो स्वर्णपात्र में रहता,
भूमिका ऐसी दिल की ऐसी योग्य करनी चाहिए।

* *

'धर्म-पालन' 'चैतन्य' दोनों महत्त्व के सही,
दोनों की योग्यता में तो साधक आचरे सदा ।
एक को छोड़ दूसरा लेने साधक जाएगा,
भ्रमणा में पड़ स्वयं तत्त्व को वह खोएगा ।

* *

कर्म के फल की आशा, नहीं रखनी भले ही,
वह फिर भी पाये ना, इसे माने नहीं ऐसा ।

* *

स्वयं का काम जो माने, बुद्धि में गहन जाये,
धँसती जाये तो बुद्धि, अपनाये काम गिनो ।

* *

कर्म करते समय भावना, ज्ञान धारण करें,
तीनों का योग होते ही, योग की परिपूर्णता ।

* *

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कर्म की ये परिस्थिति,
कर्ता भोक्तापन उसमें केवल ज्ञान को नहीं ।
ज्ञान व ज्ञेय संबंध प्रेरित जो हुआ करे,
हुआ वह करना है ज्ञान औ' ज्ञेय कारण ।

* *

करो या न करो स्वयं, प्रकृति कैसे छोड़ेगी ?
प्रकृति से रहकर अलग, बरतने से वह मुक्त होगा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ३८, ३९, ४०, ४५, ५६)

* *

(अनुष्टुप)

जीव को सारे संबंध, हमारे कर्म से मिले,
कर्म उसमें बढ़ाया, तो कर्म स्वयं बढ़ेगा ।

* *

जो जो वृत्ति द्विधा से जीव को उद्‌भवित होगी,
उसका नाम माया, जो भ्रमित **जीव** को करे ।

* *

जीवन की थकान, जिसकी शीतल छाह में,
मनुष्य झाड़ डाले, ऐसा तो संत-वृक्ष वह ।

* *

नित्य-सी जागृति बिना व्यवस्थित न मिलेगा,
व्यवस्थित बिना संभव, न विकास जीव का ।

* *

अदृश्य जैसी लगती कोई भावना शक्ति के सामने,
विज्ञान बिजली का ताकत न हिसाब में ।

* *

विचारहीन यांत्रिक मानव की गति जगत में,
मृत्यु में वे पड़े हैं, जीते नहीं तब भी जीये ।

* *

जिसमें ताकात सहने की अवहेलना को,
कोमलतायुक्त जिसमें शक्ति, साधु वही है ।

* *

त्याग जब महारुद्र समान स्वयं ही होता,
अपने को खर्चकर महत्ता निज स्थापता ।

* *

संग्रह कर लें जो कुछ थोड़े पल मिले,
सच्चा जीवन वही, जो बेकार पल न खोये ।

* *

मिले मौके को पूरे उद्देश्य से योग्यतापूर्ण,
उपयोग कर ले जो, उसे जीवन जानना ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ६०, ६२, ६३, ६४, ६५)

* *

(उपजाति)

अन्याय के लिए फिर फिरकर, जिसने हजारों शब्द कह डाले,
उससे तो शब्द बिना ही एक, प्रेम से सहे, श्रेष्ठ गिना जाता वही ।

(मंदाक्रांता)

रुढ़ि चली हैं जगत में, वे न कभी रुढ़ि हैं,
लिये बिना निज जीवन की समझ, क्या पाएँगे ?

(अनुष्टुप)

बिजली की शक्ति से यंत्र जैसा काम देता,
शक्ति पैदा करें ऐसी जीवन में लक्ष्य रख कर ?

* *

संभव न मानव को यदि दृढ़वान बने,
उग्र निश्चियवाले को संभव असंभव क्या ?

* *

मात्र विचार और बातों से साकार न होता,
कर्म बिना न घड़ता कोई भी जीवन कहीं ।

* *

सहानुभूति भले हो, अन्य से सभी तरह,
विचार फिर भी अन्य के न आने दें उस विषय में।

* *

भक्ति, ध्यान और योग, ज्ञान सभी होते रहें,
कर्म से तादृश्य बने, प्रभु के लिए जो जिये,
चेतना हेतु उसे ही, प्रभु काज रहा करे,
ऐसे प्रभु का यंत्र, कृपा उसकी हो सके ।
('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ६५, ६६, ६७, ७१, ७२, ७६)

* *

अपना सब छोड़ के, कृपा पाने हृदय से,
ध्यान एकाग्रता से ही, प्रार्थना करनी सही;
चित्त की शांति हेतु ही, ना ध्यान का उपयोग,
कृपा के योग्य होने, ध्यान का उपयोग ही ।

* *

गिल्ली मिट्टी होने से चिह्न पड़ते कदम वहाँ,
उद्रेक भाव का ऐसा होता योग्य ग्रहण से ।

* *

प्रसंग सभी सामान्य जो जो नित्य हुआ करेगा,
उससे जिंदगी सूक्ष्म बुनी जाती रहेगी ही ।

* *

वस्तु तत्त्व के साथ हृदय संबंध अकेला;
मर्यादा तत्त्व की ना है, जहाँ तहाँ से लिया करो।

* *

बरसात सर्वत्र हो, सभी को उपयोगी वे,
मर्यादा हमारी उसे मर्यादित किया करे ।

* *

क्रिया चित्तंत्र की सर्व एकाश्रय रहे बिना,
द्विधा युक्त चित्तंत्र होगा न वह बलवान !

* *

हो घृणा, दूसरी ओर प्रेम भावना दिल में,
उसके प्रति जगा के सौम्य भाव रखा करें ।

* *

जितना भाव प्राण में जागा हुआ हो अंतर,
प्रकृति का होगा वैसा उतना ही रूपांतर !
('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ७६, ८१, ८४, ८७, ८९, ९१, १०२)

* *

स्वयं शांत हुए बिना, स्वयं मुक्त हुए बिना,
शांत, मुक्त दूजे को कैसे कर सकोगे भला ?

* *

उद्देश्य रहित मौन का कोई अर्थ नहीं है,
उद्देश्य से जुड़ा मौन जन्म देगा चेतन को ।

* *

मौन की तो दशाएँ हैं एक एक से क्या भिन्न !
आत्मा के मौन जैसी सर्वोत्कृष्ट दशा न कोई ।

* *

भिखारी होगा कहेगा कि, 'मैं हूँ राजाधिराज',
उसे ऐसा कहने दो, स्वयं निकाल लो काम ।

* *

सर्व काम में यदि वृत्ति अपनी रहे न वो,
'मैं' सारा निकल जाएगा, तब शक्ति स्पष्ट हो ।

* *

शुद्ध होने से पहले, गलना भट्ठी में पड़े,
गलने की क्रिया में ही धैर्य, प्रेम होने चाहिए ।

* *

चित्तशुद्धि होने हेतु, प्रभुभाव दृढ़ाने को,
कर्म निहाई रूप में, गढ़ाने करने चाहिए ।

* *

बिना हेतु 'बेकार' भी, बेकार ना मिले कभी,
हेतु ज्ञान स्फुरित जिसे, 'बेकार' में कमाये ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १७, १२९, १२६, १३०,
१३३-१३५, १३७, १४९)

* *

प्रेय व श्रेय बीच अंतर क्या जानना वह,
मिले न शक्ति जिनमें ऐसे पिसते जीवन में ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १७७)

* *

अहंकार द्वारा सभी काम प्रेरित हो रहे;
काम जो शुद्धि अर्थ ले, **अहं** गलता जाएगा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १९१)

* *

'काम जिसने किया उसने की मोहिनी', उक्ति है,
सच्चा तथ्यांश है, और यथार्थ हकीकत है ।
('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १९७)

* *

जीना, मरना उन दोनों में भाव एक ही क्या !
प्रभु हेतु उसके तो सारे सर्व प्रकार तो ।
('कर्मगाथा', आ. १, पृ. २०८)

* *

(गजल)

प्रभु के कोप में अति अनुकंपा, दया, प्रेम,
जगत जन ना समझ सकें, प्रभु की क्या होगी चाह!
प्रभु के विश्व की रचना का कुछ खेल न्यारा है!
घड़ी में रुलाता है, घड़ी में वह हँसाता है ।
('जीवनपगले', आ. १, पृ. ४७)

* *

(शिखरिणी - मंदाक्राता)

भरा पानी कठिन गिरि में मार्ग वह वहाँ से निकाले,
भले ही रुंधे अधबीच पथ में, तब भी वह न काँपे;
भरे वह अपने में गतिबल अति, चेतना को बढ़ाये,
किस बेला में अड़चन सभी कहाँ कैसे फेंक दे वह !
('जीवनपगले', आ. १, पृ. ७२)

* *

(अनुष्टुप)

चाहे जैसा भी हो भूत पुरुषार्थ यत्नरत,
भविष्य वर्तमान में जो लाएगा, धन्य वह हो ।
('जीवनपगले', आ. १, पृ. ८१)

* *

प्रेम के लिए तो प्रेम देना ही पड़ेगा सदा;
प्रेम पाने होना पड़े स्वयं आहुत ही सदा ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ८९)

* *

सर्व से आत्म की शक्ति सर्व सामर्थ्यवाली क्या !
श्रद्धा-विश्वास दिल में धारण कर पाना जय !

* *

प्रेम की अग्नि में झोंक जिसने डाला स्वयं को,
प्रेम ज्योति की ज्वाला उसे कैसे नहीं मिलेगी ?
सुलगा सर्व अंगों को भस्मीभूत बनाएगा;
यज्ञ में सर्व होमने पूरा योग्य कराएगा ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १४)

* *

बहने दो बहने दो गंगा प्रेम की उल्टी ही,
दिव्य उस प्रेम-गंगा से गात्र सर्व दो भिगो ।

(शिखरिणी - मंदाक्रान्ता)

कृपा से दिया प्रणय झरना, वह प्रभु की प्रसादी,
न वह स्वयं हेतु रसपूर्ण होने बाँटने सर्व को ।

(मंदाक्रान्ता)

खूब बाँटो खूब बढ़ेगा, ऐसा वह दिव्य पात्र,
बहते अति वह बहे, कैसा अहा ! प्रेमस्रोत !

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. २३)

* *

(अनुष्टुप)

जग में प्रेम यह तो ईश का व्यक्त स्वरूप है;
कहा है इसीलिए ही 'प्रेम ही परमेश्वर'!

अभ्यस्त दिल में प्रेम, प्रेम संपूर्ण होने से,
हम ईश मंदिर में, तभी प्रवेश कर पाएँगे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ४७)

* *

प्रेम की आर्द्रतावाले स्पर्श से मानव उर से,
रख कोमलता कैसे स्निग्ध होता दिखे सदा !
सुखाकारी शरीर में क्या बीमारी से अधिक रहे !
तब भी भान नहीं है, बीमारी सालती रहे ।
सदाकाल रहता जो जीवंत हमारे में ही,
अस्तित्व सहज ही जीव को दृष्टि में ना रहे,
ऐसा प्रेम का सभी में जीवित तत्त्व विश्व में,
भरपूरा रहा जो, वहाँ पड़े दृष्टि ही नहीं ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ५८)

* *

दिल के प्रेम का कोई स्वामित्व न कर सके,
स्वामित्व करते वैसा ही प्रेम न रह सके ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ८४)

* *

दो पालों मध्य नदी का रेला बहे जैसे स्वयं ही,
बहने वैसे दो शक्ति आविर्भाव ला कर के ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ८९)

* *

जो प्रेम का भोग लेता प्रेम नहीं पा सकता,
प्रेम का उपयोग ले जो प्रेम वह पा सके ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १९३)

* *

आपसे आप जन्मे हैं आप क्या आपसे जीये !
आपका विश्व है आप; वैसा भाव है खरा ।

('जीवनसोपान', आ. १, पृ. १४१)

* *

'कर्ताहर्ता प्रभु हैं स्वयं हमारे सर्व कर्म में'–
ऐसा केवल पूर्ण ज्ञानी ही मात्र कह सके ।

* *

संभाल-संभाल के क्या संभाल सकेंगे सभी ?
हम क्या हो बैठे हैं स्वयं कर्ताहर्ता सर्व के ?
क्षण एक के बाद कैसा जी सकेंगे भला !
समझ कुछ नहीं है, - क्यों करते चौपट वे ?

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २०२)

* *

(गजल)

परस्पर की सही सगापन हृदय की भावना में है;
जीवनभक्ति जगाने में सही उपयोग का वह है ।

* *

हृदय का भाव जहाँ जागे, सभी वहाँ जीवित लगे;
हृदय का रस जहाँ जमे, सारा तादृश वहीं लगे ।
नहीं जुदाई तिलभर की, सारा रस वहाँ हृदय का,
-हृदय में क्या समाकर हृदय से वह फिर बहे ।

('जीवनसोपान', आ. १, पृ. १००)

* *

अनुभव कब हो; उसका लाभ कैसे उठाएँ ?

(परम) अनुभव प्राप्ति हेतु सतत चिंतन और ध्यान आवश्यक है । इससे भूमिका का निर्माण होता है । अमुक भूमिका निर्माण होने

के बाद अनुभव होने लगता है, जीवन का निचोड़ अनुभव में है, पर वह तभी होता है, जब हम भगवान में सतत तन्मय रहने का जाग्रत प्रयत्न करते रहेंगे; ऐसा यज्ञ अविरत दीर्घकाल पर्यंत चालू रहेगा तो हम में ऐसा आंतरिक भाव खिल उठेगा कि उसके प्रताप से सब कुछ होना संभव है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७४-७५)

* *

अनुभव ऐसा होना चाहिए कि उस अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान हृदय से कभी सरक न जाय ।

भगवान भले ही कदाचित बड़े से बड़ा अनुभव कर बताए, परन्तु इससे हम में जब तक अनुभव का योग्य ढंग से लाभ उठाने की शक्ति, दृष्टि और वैसी अभिलाषा प्रगट नहीं हुई होती है, तब तक वैसे अनुभव ऊपर-ऊपर से निकल जाते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५८-५९)

* *

हमें जो कुछ भी अनुभव हों, उन्हें गहरे से गहरे उतारते जाँय तो वह अनुभव और उसकी असर अधिक समय तक टिकी रहेगी, फिर वही जीवन्त स्वरूप लेगी और उसका सही लाभ उठा पाएँगे ।

यदि हमें जीवन का सूक्ष्म भावना में विकास करना होगा तो हमें स्थूल अनुभवों में सूक्ष्म भाव समझने का प्रयत्न करना पड़ेगा । इसप्रकार की समझ पहले तो बुद्धि से हमें अपने में लेनी चाहिए । बुद्धि से वह समझ में उतर सकेगी सही, परन्तु उसे मनोभाव और भावना के प्रदेश में ले जाकर अपने विकास के लिए अर्थपूर्ण सूचन मिला करें और अनुभव इसतरह हमारे हृदय में अंकित हों ऐसा करते-करते हमें स्थूल में से सूक्ष्म भाव समझ में आता जाएगा और उसका रहस्य हृदय में उतरने लगेगा ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १६४, १७६-७७)

* *

वहाँ जो अनुभव हो उसे ध्यान में रखें । किसी से पूछताछ न करें, सभी अपनी-अपनी समझ अनुसार उसे समझने का प्रयत्न करेंगे और इसप्रकार उसका महत्त्व कम हो जाएगा ।

('जीवनमंथन', आ. ३, पृ. ३२१)

* *

अनुभव किसी के आधार पर नहीं होना चाहिए । अर्थात् स्वयंभू प्रगट हुआ होना चाहिए । ऐसे अनुभव के आगे-पीछे कुछ भी समझ, मान ली कल्पना का जोश, संस्कार आदि ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिए । जो अनुभव हुआ हो, उसे उसकी योग्यता और उसके महत्त्व की दृष्टि के साथ जो साधक हृदय से स्वीकार करके प्रेमभाव, हृदय से उसकी निष्ठा रखा करता है, और उसकी शक्ति पर अपने जीवन का सब कुछ न्योछावर किया करता है, तो उसे जीवन में प्राप्त हुआ वैसा अनुभव आगे का मार्ग खुल्ला करके बताया करता है और उसमें प्रवेश कराया करता है । इसमें भ्रम में पड़ जाना कभी संभव नहीं होता है । ('जीवनमंथन', आ. ३, पृ. ३४२)

* *

अभिप्राय शीघ्र न बना लें

(अनुष्टुप)

कर्म का एक पक्ष वे देखके कर्म का मत-
नहीं बांध लेना है; वह रखें लक्ष्य में दृढ़ ।

कर्म का हेतु किसी का जाना न हो जब तक,
तब तक न्याय कर्म का न करना कभी ।

पक्ष तो कर्म के कई, पक्ष प्रत्येक है भिन्न,
भिन्न प्रत्येक पक्ष का, लक्ष्यार्थ होता गहन ।

सब ओर से देखने की कर्म में दृष्टि, वृत्ति
हुई पक्की जहाँ न हो, मानना ठीक न होगा ।

खिले हुए समतादि, ताटस्थ्य व निराग्रह,
तभी देख सकोगे कर्म सब तुलनात्मक ।

ख्याल सारे बाँधने को, साधक को छोड़ने हैं,
नये मूल्यांकन देखने, लक्ष्य साधक रखें ।

चाहते होते हैं स्वयं अकेला मात्र वे सही,
गाँठ कोई ऐसी बांधकर नहीं बैठें ।

प्रभु पथ में जो जाता, प्रभु की उसमें कृपा,
छुड़ाने अभिप्राय, अनोखे दे प्रसंग वे !

मानव में प्रभु-भाव भिन्न-भिन्न तरह से,
व्यक्त स्वयं होता रहे, उसकी प्रकृति द्वारा ।

हमारी प्रकृति जैसी दूजे की प्रकृति मानें,
समदृष्टि पूरी रखकर समता, शांति रखें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १५३, १५५)

* *

(गजल)

हमारे तो हम काजी, हम काजी दूसरों के भी,
'फिर काजी के भी काजी' होते विनाश है ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ७८)

* *

हृदय-अश्रु

(गजल)

हृदय के आँसू का मूल्य, हृदय ही अकेला जाने,
मूल्यांकन किसी से कभी न उसका हो सके ।

बहे आँसू वे तो अभी मुझ से न जाँय भूले,
हृदय में भाव-मूर्ति को अहा ! जन्म दे वह कैसे !

हृदय के आँसू का भाव हृदय से जो रुदन कर जाने,
समझेगा केवल वैसा अनोखा भाव उसका जो ।

पड़ते न आँसू वैसे ही, कथा आँसुओं की न्यारी;
बहता है आँसू के अंदर हृदय का मर्म कुछ भारी ।

हृदय की भावना का बहता इतिहास आँसू में,
और आँसू से जो भाव बढ़ाये, शक्ति तो उसमें ।

न निर्बल भावना आँसू की, शक्ति महा वह तो,
जगाने, आगे बढ़ाने को, हृदय का भाव - आँसू ।

बहाओ अश्रु न व्यर्थ ही, बहावो ज्ञानपूर्वक उसे,
-हृदय के मर्म को बेधने, हृदय में भाव ठहराने ।

पसंद आँसू मुझे प्यारे प्रभु-प्रगटकारक जो,
हृदय खुला कराके हृदय चरण में ठहराते वे ।

बहे जहाँ आँसू अंतर वहाँ गीला हो कैसे वह !
और एकाग्रता-भाव हृदय कैसा प्रसन्न लगे !

हृदय के भाव में किसी तरह संचार जहाँ लगे,
बने आँसू रूपी भाव हृदय के भाव प्रगटाएँ ।

जीवन-अंतर-दशा आँसू द्वारा कैसी दिखे, जो
—लेते अंतर विषय, आँसू महा साधनरूप उसे ।

महा आनंद से आँसू बहे अंतर द्वारा जिसे,
सुंदर ऐसे अहा ! आँसू पड़ें, वह भाग्यशाली है ।

व्यर्थ दुःख के लिए बहाएँ आँसू नयन जो,
जीवन निर्बल कर के क्या निर्बल बनते स्वयं !

जीवन पनपाने आँसू द्वारा जो साधना करेगा,
जीवन प्राप्तकर ऐसा महा बड़भागी क्या बनेगा !

बहाओ आँसू अंतर के हृदय के आर्त औ' आर्द्र,
—स्फुरते भाव से; दृढ़ता सारा आधार प्रभु-पाद ।

हृदय के आँसू से हृदय मंथित गहरा जिसका,
हृदय के भाव की प्रतिध्वनि वही सच्ची गहन ।

हृदय पूरा शान्त करने प्रभु-साधन रूप आँसू,
महा मौक्तिक अनमोल प्रसादी से मिले वे सब ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १५२ से १५४)

* *

हार्दिक ऐक्य

(गजल)

हृदय में जो हृदय जीये हृदय को है वही प्यारा,
फिर बुलवाना वहाँ रहे व्यर्थ किस तरह से ?

हृदय से पुकारे उसे फिर किसे पुकारती है ?
सभी अपना उसका समाया आप में स्वतः ।

हृदय के प्रेम-सागर की लहरों पर चढ़ वह झूले,
दीवानी प्रेम-मस्ती की उसमें जो समायी है ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १४३)

* *

अहम्

(अनुष्टुप)

'अहं - आग्रह' धारा को कर्म में न रखे दिल में,
कर्म **भाव** उत्साह से पिघला देने को वह ।
अहं-आग्रह शक्ति है, बढ़ने आगे कर्म में;
वह रखके एकाग्र जुड़े हुए है दिल में ।
प्रवेशकर गहन कर्म - अंतर - गर्भ में,
वह कर्म की गति साथ अहं जुड़ जाता वहाँ ।
अहं यदि नहीं होता कर्म कुछ न हो सके,
कर्म प्रवेश हेतु ही अहं तत्त्व है जरूरी ।
अहं से विश्व जन्मता, अहं से विश्व निभता,
अहं से परिवर्तित वह, अहं है जोर भाव का ।
ज्ञानपूर्ण उपयोग, जो उसका किया करे,
अहं उसका हो योग्य, विकास करता रहे ।
उपयोग अहं का सब इससे कर्म लिए गहरा,
करते उसमें प्रवेश ज्ञानभाव से करके ।
'अहं' को सात्त्विकी जोश पूर्ण विकसाना रहा,
उसके बिना साधना में तो न प्राण जागे किसी ढंग ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ६१)

* *

(गजल)

कर वह क्या सके कोई कुछ कर्म को स्वयं ?
अहम् में चेतना प्रभु की; कराये **उस**का होता !
गुण व्यक्तव्य शक्ति का भला ! 'अपनापन' क्यों,
–फिर आरोप करके खोते हो स्वशक्ति को ?

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. ७०-७१)

* *

आघात और प्रत्याघात

आघात शब्द का रूढ़ अर्थ तो 'दुःख' या 'चाबुक-मार' इसी भावार्थ में समाज में प्रचलित हो गया है । पर आघात यानी किसी का किसी के साथ टकराहट, संपर्क में आना या संबंध में होना ।

'जैसा आघात वैसा ही प्रत्याघात' जड़ वस्तुओं में यह प्रचलित नियम है । जितनी जोर से दीवार पर हाथ मारेंगे, उतनी ही जोर से दीवार प्रत्याघात देगी यानी कि उतने जोर से हमें लगेगा । इच्छापूर्वक प्रत्याघात करना यह जड़ वस्तु का स्वभाव या गुण नहीं है ।

पशुओं में जो वैरवृत्ति साधारण रूप से दिखाई देती है, वह भी आघात - प्रत्याघात के भौतिक सिद्धान्त का सूक्ष्म स्वरूप है । मनुष्य में भी वैरवृत्ति है और उतने अंश में वह पशु है । जैसी कक्षा नीचे उसी प्रकार आघात वैसा ही प्रत्याघात और शक्ति होती है और अखरता हो तो अधिक दुःखद प्रत्याघात ऐसा नियम प्रवर्तित है । भला करनेवाले का बुरा करनेवाले किस्से मनुष्यों में अल्प नहीं; असंख्य हैं; क्योंकि मनुष्य जाति में सभी तरह के स्तर होते हैं; फिर ऐसा बुरा करनेवाले पर संस्कार, प्रारब्ध इतर जनों के कर्म आदि ऐसे आघात पड़े होते हैं कि उसके प्रत्याघात रूप वह व्यक्ति-व्यक्ति में अंतर नहीं

देख पाता है और सदा स्वभाववश आचरित कर उपकार का बदला अपकार से चुकाता है । परन्तु सामान्यतः मनुष्य पशु से आघात-प्रत्याघात के नियम में कम वशीभूत होता है । जैसे चेतन की जागृति अधिक, उतने प्रमाण में यह नियम कम प्रभावी होता जाता है । अपनी वैरवृत्ति शांत करने और आघात से होते दुःख को सहन करने के लिए मनुष्य ने दूसरे अनेक प्रकार के बल उत्पन्न किये हैं । रूढ़ि, अपना जाग्रत प्रयत्न, संस्कार आदि से मनुष्य इस नियम से थोड़ा सा मुक्त रह सका है ।

ऐसे कारणों से मनुष्य का ऊर्ध्वगमन होता जाता है उसीप्रकार उसका आघात का प्रत्याघात कम होता जाता है । दुःखद आघात के सामने तुरन्त ही वैर का प्रत्याघात यह उसकी प्रकृतिदत्त प्रेरणा है; पर साथ ही साथ उसी प्रकृति में स्वविकास का गुण निहित होने से, उसमें दूसरी ऐसी प्रेरणा भी विद्यमान होती है और उसी के बल द्वारा मनुष्य उस नियम को अपने वश में रखने में उत्तरोत्तर शक्तिमान होता है ।

अनेक बार मन में प्रकृतिजन्य असह्यता से अत्यन्त तिरस्कार और द्वेष होता है पर बाहर से मिठास आचरित करते हुए मनुष्य में रह देखते हैं । ऐसे आचरण के पीछे बुद्धि ने समझ का एक नया बल उन्हें दिया हुआ होता है और इससे वे जानते होते हैं कि मिठासभरा आचरण न रखने से उनके स्वविकास में अवरोध आएगा । वे मन में रही द्वेष की वृत्ति को संयम में रखकर दबा देते हैं, उसे आचरण में व्यक्त होने का अवसर नहीं देते । इतने प्रमाण में यह हुआ उनका प्रकृति पर का विजय; परन्तु यह होता है केवल विचार-बुद्धि के कारण । आगे जाकर मनुष्य बुद्धि के साथ हृदय को जोड़ सकता है और जब वैसा होता है तब आघात और प्रत्याघात के बीच का अंतर अधिक से अधिक बढ़ता जाता है । अंत में आघात

और प्रत्याघात ये दोनो क्रियाएँ अलग ही पड़ जाती हैं । प्रारंभ में आघात के सामने वैरवृत्ति पैदा होती है, पर आचरण में वह अंकुश में रहती है; उसके बाद आचरण में अंकुश आता है । उसके बाद वाणी में अंकुश आता है । उसके बाद मन में भी उतने ही प्रमाण में अंकुश आएगा, जिससे वैरवृत्ति पैदा ही नहीं होगी अथवा पैदा होगी तो न के बराबर । परन्तु ऐसे आघातों से दुःख अधिक होता है । ऐसे दुःखी होना यह भी इस नियम को कम मात्रा में वश होने जैसा है ।

इसतरह मानसिक नियंत्रण द्वारा उत्तरोत्तर बना हुआ संयम इतना अधिक मजबूत होता जाता है कि अंत में कोई भी आघात हो—भारी से भारी दुःखद प्रकार का—तो भी उसका बदला कैसे ले, उसके परिणाम से मन में कैसी वृत्ति उठने दे, कैसा भाव होने दे ये सारा अपनी नियंत्रण की बात हो जाती है । ऐसा अनुभव प्रयत्नशील साधक को हुए बिना नहीं रहता । अंततः इसके पीछे अनेक पुरुषार्थ, एकाग्र चिंत्वन, प्रभुभाव की सघनता, कुशल आचरण, प्रभुकृपा आदि अनेक साधनों की आवश्यकता रहती है; तब भी मनुष्य के लिए यह संभव है, साध्य है ।

प्रारंभ में जिन आघातों से बहुत दुःख होता है, उसीप्रकार के आघातों से कम से कम दुःख होता है । अंत में तो बिलकुल दुःख न लगे ऐसी मनोदशा विकसित की जा सकती है । परन्तु इस स्थिति में और जड़— निर्लज्ज— मनुष्य की मनोदशा में आसमान-जमीन का अंतर है । जड़ मनुष्य अपनी जड़ता से, अपनी मंदबुद्धि से ऐसे आघात के प्रति अदुःखद स्थिति में आ जाता है; जबकि प्रयत्नशील **जीव** तो प्राकृतिक प्रेरणाओं को क्रमशः नियंत्रण में लाते-लाते इस नियम में ऊर्ध्वगमन करता जाता है । जड़ मनुष्य जो भावरहित रहता है, वह तो कैसे भी आनन्द लेने अथवा

दु:ख हलका करने की कुदरती प्रेरणा होने से मात्र उसके जड़ स्वभाव की प्रेरणा को लेकर बनता है; और अनेक बार अमुक प्रकार की कठोर वाणी सुन - सुनकर या वैसा व्यवहार सह-सहकर उसे ऐसी आदत पड़ जाती है कि फिर उसे उस बात का दु:ख नहीं होता। यह कोई आध्यात्मिक उच्च मानस का लक्षण नहीं है; प्रयत्नशील साधक में तो ज्ञानपूर्वक की सहनशीलता आती जाती है। इससे उसका उद्वेग शमन हो जाता है, वह प्रसन्नता रख पाता है तथा अपना श्रेय़—अपना जीवन विकास—किस प्रकार के आचरण से होगा उसकी सूझ उसे आती जाती है; इसीसे किसी भी आघात का उत्तर, प्रत्युत्तर, नीचे स्तर के मनुष्य की अपेक्षा अलग ही तरह, उच्चप्रकार से देता है। और अंत में तो ज्ञानपूर्वक योग्य रीति से आघात का प्रत्याघात करने का उसका इतना तो सहज ज्ञानयुक्त स्वभाव हो जाता है कि आघात देनेवाले व्यक्ति के प्रति प्रेम रखकर उसका कल्याण हो वैसा वह आचरण कर सकता है। इसतरह, आघात-प्रत्याघात के बीच शुभ हेतु का और अंतर्शुद्धि का पट आ जाता है।

इसतरह आघात-प्रत्याघात का नियम सार्वत्रिक होने पर भी उससे पर जाना और होना संभव है। अनेक संत-महात्मा पर हो पाये हैं। साधना से निष्पन्न हुए सद्भाव की सहायता और भगवान के भाव द्वारा यह सरलता से हो सकता है।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ८७ से ९२)

* *

हमें यदि अपने पर होते आघात और प्रत्याघात के परिणाम अनुसार चलना रोकना हो, तो समता और तटस्थता की वृत्ति हमें लानी ही होगी। आघात-प्रत्याघात के परिणाम स्वरूप होनेवाली वृत्तियाँ हमें विचारों की परम्परा में घँघोल देती हैं। उससे अलग होकर

कहीं कुछ देखने की दृष्टि हम में पैदा नहीं होने देती है । हम एक या दूसरे मनोभाव के जो होते हैं, उसके बदले किसी भी प्रकार के भाव बिना-पक्ष या झुकाव बिना रहने का प्रयास करना है ।
('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २०२)

* *

किसी भी तरह के प्रसंग या वाणी आदि के कुछ भी आघात-प्रत्याघात हम में न उठें इसे उत्तम कहा जाएगा । पर वह जब उठे तब भी हम ऐसी किसी में तद्रूप हो जाँए उस तरह आचरण न हो और उसके स्वरूपों का मूल समझ में आए, ऐसी और उतनी तटस्थता, समता, स्थिरता हमें सतत बनाये रखनी है । फिर वृत्ति या विचार या मन के भाव से प्रभावित हुए बिना किस तरह रचनात्मक मोड़ ला सकें वह हमें सूझना चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ५)

* *

साधना में आघातों की आवश्यकता

बड़े-बड़े भक्तों के जीवन से हमें पता चलता है कि उन्हें ऐसे कोई बड़े आघात लगे होते हैं, तब बहुत उथलपुथल उनके मन में होती है; उसमें से उनका मन चेत जाता है, जाग्रत हो जाता है; सही वस्तुस्थिति की उन्हें जानकारी हो जाती है और फिर वे काम में लग जाते हैं; ऐसे हमें भी वैसे आघात लगने की आवश्यकता है, क्योंकि हमें अपने जीवनआदर्श के लिए मृत्यु को स्वस्थ रूप से भेंटने की तैयारी होगी या नहीं वह शंकास्पद है । फिर हमें हमारे मन के जीवन आदर्श की सर्वोपरिता का भरोसा अभी नहीं हुआ है । हमें अपने इस काम में अधिक से अधिक रुचि लेकर तथा बढ़ाकर मन को उसमें लगाना है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ३०)

* *

हम में रहे अहम् तत्त्व के ऊर्ध्वीकरण और सात्त्विक बनाने के लिए, हमें उसे जबरदस्त आघात देने पड़ेंगे। इसके लिए हमें जो पसंद न हों उन्हें प्रेम से मिलें, उनका काम कर दें और उनके साथ प्रेम संपादन करने की कोशिश करनी चाहिए।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७०)

* *

हमें जीवन में जगाने के लिए अनेक मौके मिलते हैं। हमें वस्तुस्थिति समझ में आये इसके लिए भगवान हमें अनेक आघात देते हैं। ऐसे आघात जब होते हैं, तब किसी धन्य पल में हम जाग जाते हैं और उसके हेतु का भान हो जाने से जीवन परिवर्तन करने का दिल हो जाता है। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १३८)

* *

आघात-प्रत्याघात के कारण हमारी भूमिका में उसकी असर गहराई में उतरती जाती है। इससे मंथन होता है। उससे विचार आते हैं। इससे उसी स्थिति में पड़े रहने से साधक को वहाँ से धक्केलने के लिए आघात-प्रत्याघात मिलते रहे वह बहुत आवश्यक हैं। गुरु में उनके स्वजनों को– आत्मकल्याण के लिए स्वजनों को समझ समझकर ज्ञानभक्तिपूर्वक ऐसे आघात-प्रत्याघात देने की कला आ जाती है और उसका उपयोग भी होता है।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४६)

* *

आत्मनिवेदन

यदि कोई अपनी कमजोरियों को छुपाता नहीं है और निवेदन करता रहता है, तो यह अच्छी बात है; परन्तु यदि वैसे निवेदनों में से प्राण प्रकट न होता हो और वैसे के वैसे ही **जीव** प्रकार के मनोभावों में पुनः पुनः पिरोना पड़ता हो तो ऐसे **जीव** को चेतकर रहना चाहिए, सोचना चाहिए; क्योंकि हृदय के निर्मलता भावभरे, सच्चाई भरे प्रामाणिक निवेदन से तो दृढ़ता आती है। कितने ही **जीवों** के विषय में ऐसा भी अनुभव है कि वे स्वयं आत्मनिवेदन तो करते हैं, तब भी अपनी कमजोरियों को छिपाते हैं ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. ३०)

* *

आत्मनिवेदन में हृदय का भाव महत्त्वपूर्ण होने से उसमें अभिमान नहीं हो सकता । आत्मनिवेदन से हमारे हृदय का संबंध अधिक से अधिक चेतनभाव से नजदीक होता जाता है और अधिक से अधिक खुलते चले जाते हैं । हम में सरलता, प्रसन्नता, संतोष प्रगट होता जाता है। जिस प्रकार मल की शुद्धि के लिए खास विधि और क्रिया है, वैसे ही मनादि के मैल के लिए श्रीप्रभु के चरणकमल में किया गया निवेदन है। आत्मनिवेदन से प्रत्यक्ष नम्रता आती है। करणों की शुद्धि होते हुए अनुभव होने चाहिए ।('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. ७७)

* *

हृदय के आत्मनिवेदन में कोई रुदन नहीं है । रोने से क्या लाभ ? सचमुच हृदय से होता आत्मनिवेदन तो एक प्रकार की शक्ति जगाता है । वह हमें विशेष जाग्रत करता है । हमारी निर्बलता दिखलाता है। उसमें से सबल बनने की प्रेरणा देता है। हम जिस

बात का आत्मनिवेदन करते हैं, उस विषय की सतत जागृति यदि हम में हो तो वह आत्म-निवेदन सच्चा मानना । जिस विषय का निवेदन संभव हुआ हो, ऐसी स्वीकृति में से तो दुबारा वैसा कर्म न हो उसकी ज्ञानयुक्त जागृति रखी हो तो ही वह सच्चे हृदय से स्वीकार माना जाएगा । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १५०)

* *

आत्मनिवेदन

(शिखरिणी–मंदाक्रान्ता)

बिना संकोच जो मन-हृदय औ' भाव से ढालना है,
हृदय को भले ही लगे कि तुम्हें न प्रभु सुनता है;
दिल में झलकती हुई भावना जागे गहराई में,
-पिरोये कर्म जहाँ प्रभुपद ओर, सुने शीघ्र श्रीजी ।
कहने में उसे मन हृदय से पूरा खुल्ले रखके,
कहने में उसे झुक झुकके दिल में भाव व्यक्त हो;
कहना रखो चरणकमल में जो कुछ किया करो,
बढ़ाओ प्रिय प्रभु द्वारा ये प्रेम-संबंध हृदय में ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ९४)

* *

तुमसे जो भी हो पाता प्रभु को निवेदो आत्मभाव से,
सभी निवेदित कर ही ग्रहण करें प्रसाद रूप;
जूठा उसे तो कुछ न चढ़ाना, नापसंद ऐसा उसे,
चखाये बिना तो हृदय प्रभु को ना कोई स्वाद लेना ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ७५)

* *

आहार

खुराक–अन्न यह स्वाद के लिए नहीं; चेतनत्व हेतु है और चेतन उसमें से आता है, इसीलिए लेना है। उसमें जितनी अधिक शुद्धि होगी उतना ही अच्छा। फिर भोजन या रसोई बनती हो उस समय उत्तम प्रकार की शुद्धि, भक्ति, प्रार्थनाभाव रहेगा तो कल्याणकारी होगा। *उसे लेने से पहले और लेते समय भी सतत चेतनभाव से और चेतन के लिए उसके अनुरूप प्रार्थना के साथ और प्रार्थनाभाव से उसे लेना है।* ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९२)

* *

जैसे अन्न की मदद से प्राण टिकते हैं, वैसे ही अन्न के कारण प्राण में अयोग्यता भी आती है। खुराक कितनी, कैसे और क्यों लें यह भी एक कला है। खुराक जीवन को टिकाये रखने के लिए, शक्ति बनाये रखने के लिए पौष्टिक लेना चाहिए, न कि स्वाद के लिए।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६३)

* *

भोजन में अकारण अधिक परिवर्तन न करें। अत्यन्त खारा, तीखा, खट्टा और बहुत से मसालेवाला न खाएँ वही उत्तम। खुराक सरलता से पच सके, ऐसा सादा ही अच्छा। सामान्य रूप से सभी लोग जैसा खाते हों वैसा लें। हमारे नित्य के खुराक में ऊपर निर्दिष्ट में थोड़ा बहुत परिवर्तन करें तो आपत्ति नहीं, मध्यम मार्ग हमारे लिए उचित है। ('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ४६)

* *

सबसे उत्तम तो साधक को जैसा मिले खा लेने की आदत उत्तम है। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४६)

* *

साधना में खुराक यह मुख्य नहीं पर जिज्ञासा और खप जाने की तमन्ना यह सबसे बड़ी बात है; यद्यपि खुराक प्रारंभ में थोड़ा प्रभाव डालती है सही, तब भी उस पर जरा भी जोर रखने की आवश्यकता नहीं है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६)

* *

एक

(अनुष्टुप)

आखिर तो एक सारे, एक में सारा समाया;
एक से सारे परिव्याप्त, फिर क्यों अन्य लगे ?

एक तो पूरे हुए ना हम सभी विषयों में,
इससे तो सर्व में न एक दिखे हमें वह ।

एक में एक संपूर्ण, एक से एक एक में–
एकाकार हुए बिना लगे कैसे एक वहाँ ?

एक के आगे शून्य, शून्य पहले हो जाये,
होता जाता जैसे शून्य, एक हुआ है करता ।

नकारात्मक जो मात्र भाव, 'शून्य' न जानना,
शून्यता में रहता है एक का मर्म गूढ़ क्या !

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १४३)

* *

शून्य

(अनुष्टुप)

'जो कुछ भी नहीं है' उसे लोग शून्य कहते,
भाव में 'शून्यता' का तो ऐसा अर्थ न संभव ।

अभावात्मक न जानो शून्यता को भूल से भी,
शून्यता है भाव को औ' गूढ़ को जन्म देती !
प्रेरक भाव तो शून्य; शून्य की शक्ति और क्या !
'खाली' में शक्ति क्या भव्य ! विज्ञान ने सिद्ध किया।
खाली ना कुछ होता है ऐसे न ऐसे किसी से,
संपूर्ण पुरुषार्थ उसके हेतु करना पड़े ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १४३-४४)

* *

एकाश्रय, साधना में

जिन-जिन को संत कहा जाता है और गिना जाता है, वहाँ वहाँ साधक को नहीं दौड़ना चाहिए। जिसके साथ हृदय का कुछ स्निग्ध परिचय हो, वहाँ ऐसे निमित्त के लिए मिलने अवश्य जाना चाहिए। उसमें फिर संकोच न रखें। ऐसे मिलन हेतु जाने में उमंग से, प्रेमभक्ति से होना चाहिए। इसके अलावा जहाँ हृदय में सहज उमंग जागता हो तो वहाँ भी जा सकते हैं और उसमें भी एक चेतन का ही जागृत लक्ष्यबिन्दु हो। हृदय की सहज भक्ति प्रकट हुए बिना संत या उच्चात्मा की निकटता **जीव** को आनंदभाव में प्रवेश नहीं करवा सकती, उल्टा उससे उलझन भी खड़ी होने की संभावना हो सकती है। विभिन्न संतों के नाम मात्र सुनने से दौड़ने का कोई अर्थ नहीं।

उत्तम प्रकार के सात्त्विक साधुओं के जीवन की अमुक कक्षा में भी Hierarchy– उत्तरोत्तर चढ़ती श्रेणी हो सकती है। उनकी किसी कक्षा की अमुक भूमिकाओं में स्पर्धा भी रहती है और उसके बाद और उच्च कक्षा से तो वैसी वृत्ति उत्क्रांति को प्राप्त होती जाती है। ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १५७-५८)

* *

पवित्र आत्माओं के संपर्क, संबंध और प्रेम में साधक जितना रहे उतना अच्छा है; पर वह भाव जितना केन्द्रित हुई दृष्टिवाला हो उतना अधिक लाभदायी है । नहीं तो इतने सारों के साथ का संपर्क और संबंध में उसकी वृत्ति और शक्ति तितर-बितर भी हो सकती है, विभाजित भी हो जाए, 'बहुशाखा' होकर बिखर भी जाए और इससे उसमें असमंजयस होने की संभावना हो सकती है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ४५)

* *

श्री..... वर्यजी के पास जाने का विचार छोड़ दिया है, वह भी अच्छा है । मन का हृदय से जुड़े रहना सही ढंग से आ जाय तो उत्तम है । पर हम से ऐसा नहीं कहा जाएगा कि अकेले हम जुड़े रहें । इससे उल्टा यदि कोई साधक को ऐसी उलझन हो कि चाहे कैसे भी उच्चात्मा हो तब भी जाना ही नहीं तो ऐसी उलझन को मिटाने को किसी को भेजना भी पड़े, ऐसा भी हो सकता है ।

('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. १७६)

* *

हमारे सिवाय यानी कि हमारे हृदय के सिवाय दूसरे किसी विषय में हमारा जो स्वजन हो वह जरा भी प्रेम या भावना न रखे तो ऐसी स्थिति उसके विकास के लिए हमें बहुत अच्छी लगेगी सही । हमें कभी ईर्ष्यालु नहीं होना हैं ।

* *

'सारा कुछ ईश्वर करवाते हैं'; सब ईश्वराधीन है ।'

सब कुछ ईश्वर करवाते हैं, यह बात तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सौ प्रतिशत सत्य है; परन्तु हम ऐसा तभी कह सकते हैं– जब हम हर पल भगवान के ही भाव में रहा करते हों, द्वन्द्वों को पार कर गये हों, अहम् पूरा मिट गया हो, त्रिगुणातीत हुए हों और हम उसके पूर्णतः सचेतन यंत्र बन चुके हों ।

हमारे मन से गुजरते अनेक विचार, उद्‌भवित होती वृत्तियाँ, चित्त के संस्कार, आग्रह आदि जब तक मन में आया करते हों तब तक हम ऐसा नहीं कह सकते कि यह सारा भगवान करवाते हैं, 'जैसा वे करवाएँगे वैसा करूँगा', 'सारा ही प्रभु करवाते हैं और करवाएँगे'— यह सब बोलने का कोई अर्थ नहीं ।

हमारे मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, अहं के अनेक प्रकार के मोड़ों आदि को हम यदि पूरी तरह समझ न सकें हो तो पूरीतरह समझ लेना चाहिए। हम तो प्रकृति से प्रेरित हो व्यवहार करते हैं और हमारा अहम् हमें धकेलता रहता है ।

श्रीभगवान के पथ पर जिसे जाना है, उसके सारे भ्रम टूट जाने चाहिए । 'मालिक की इच्छानुसार ही होता है', यह सूत्र और ऐसी भावना उत्तम है; पर **जीव**मात्र में जो चेतन है वह कोई सत्त्वहीन नहीं है, सब कुछ करने को शक्तिमान है । बलिदान देने का संकल्प यदि पैदा होता है तो प्रभुकृपा से सब कुछ हो सकता है । लोग जहाँ तहाँ उपरोक्त कथन और ऐसे दूसरे कथन उद्‌घृत करते हैं । ऐसा जो बोलते हैं, उनमें अहंकार नहीं होता है ऐसा नहीं है। जिसमें संपूर्ण ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता प्रकट हो चुकी है और जिसका अहम् पूरीतरह पिघल गया है, वैसी **जीवात्मा** वैसा बोले तो यह योग्य है अथवा बहुत हो तो जो साधक संपूर्ण ज्ञानपूर्वक की नम्रता बनाये रखने का सजग – सच्चाई भरा अभ्यास करता है, वैसा **जीव** नम्रता लाने के उद्देश्य से ऐसा बोले तो कुछ योग्य है । परन्तु जिसमें कोरा अहम् भरा पड़ा है और जिसे साधना की कुछ भी समझ नहीं है, वह यदि वैसा बोले तो वह बोला हुआ वदतोव्याघात है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १५९-६०)

* *

'कर्ताहर्ता तो भाई ! भगवान है; उनकी मरजी अनुसार सब चलता है', ऐसा बोलनेवाले अनेक लोग संसार में दीखते हैं, ऐसा बोलना मात्र दिखावा और खोखलापन है । जहाँ तक भागवत जीवन जीने का आहुत होने का निश्चय नहीं होता तब तक संपूर्णतः उसमें आहुत होने की संभावना नहीं, जब तक अपने आधार के करणों पर नियंत्रण न ला सकें तब तक ऊपर के कथनानुसार और उसी तरह की मान्यता में रहकर प्रकृतिवश हमेशा व्यवहार करते जाँय उसे एक प्रकार का दंभ कह सकते हैं । कितने ही उसका ऐसे भी बचाव करते हैं कि उस समय उसका वैसा Mood – मानसिक वृत्ति – तरंग होती है इसलिए उसके प्रवाह में आकर बोल जाते हैं । वह कुछ भी हो, ऐसा बोलकर मनुष्य स्वयं को कुछ न करना पड़े इसप्रकार भाग खड़े होने का बहाना खोजता है । **जीव** को इस प्रकार की संपूर्ण श्रद्धा, विश्वास, भक्ति आदि तो प्रभु पर होती नहीं और बोले अनुसार की निष्ठा तो है, नहीं इसलिए वह निरा मिथ्याचार ही कहलाएगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २५०)

* *

ईश्वर ही सब संभालते हैं ?

कितने ही **जीवों** में थोड़ा परमात्मा की ओर मुड़ने की वृत्ति होती है तब—और वह वृत्ति तमन्ना का थोड़ा जोश पकड़ती है तब भी—एक विचित्र मंतव्य की पकड़ के कारण उनका विकास रुंध जाता है, अथवा बहुत धीरे होता है । अब तो वह भगवान की शरण में गया है, इसलिए बाकी का सारा सचराचर परम चैतन्यशक्ति संभाल लेगी अथवा लिया है और अब उसे तो भगवान में दृढ़ श्रद्धा रखने के सिवाय दूसरा कुछ करना नहीं है ऐसा वह मान लेता है ।

इस मान्यतानुसार आगे चलते-चलते स्वयं जो कुछ करता है वह, और स्वयं द्वारा किसी भी संयोग में आ पड़ेगा वह सब भगवान ही कराते हैं, और स्वयं तो उसका एक निमित्त मात्र है ऐसा **जीव** कल्पना करता है । ऐसी मान्यता से ही साधक में जो नम्रता होनी चाहिए वह स्वयं में आती है, ऐसा वह मानने लगता है । 'भगवान की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता', ऐसे श्रुतिवाक्य तथा अनेक संतों ने ऐसा शरणभाव रखा तब उनकी परीक्षा तो हुई, पर उसमें उन्होंने श्रद्धा हमेशा रखी तो उनके दु:ख परमात्मा ने टाले ऐसे प्रसंगों का भी वह आधार लेता है । इसलिए उनकी तरह स्वयं भी भगवान के शरण में गया है, इसलिए 'जो कुछ सुखदु:ख आ पड़ें उन सभी को सहन कर ले और वह भगवान ने ही भेजा है' ऐसी मान्यता के आधार पर अपने जीवन निर्माण का प्रत्यक्ष प्रयास करता है ।

पर ऐसे संतों की शरणागति में और ऐसी प्राथमिक, प्रारंभिक कक्षा की काल्पनिक शरणागति में बहुत अंतर है, इसलिए ही ऐसे साधक को सहन करना पड़ता है और उसकी प्रगति धीमी होती है । हमारे कर्म के नियम की छिछली समझ के कारण जो एक प्रकार की नि:सत्त्व देवाधीनता कभी-कभी आ जाती है, उसका ही एक स्वांग प्राथमिक कक्षा के साधक की उपरोक्त कल्पना या मान्यता है ।

ऐसी मान्यता से साधक स्वयं साधक है और सिद्ध नहीं है, यह तथ्य भूल जाता है अथवा तो उसका इन्कार करता है । 'ईश्वर सभी का कर्ताहर्ता है ।' यह अंतिम सत्य के रूप में भले ही सच हो और है, पर साधक यदि अपने सभी व्यवहारों में और अपने सारे संयोगों में ईश्वर पर ही जिम्मेदारी डाल देगा तो इससे उसे ही नुकसान होगा । मानवजीवन में तो उसके पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप संस्कार, मान्यताएँ, भावनाएँ, बुद्धि के मनोभाव, प्राण की वासनाएँ, अहंभाव

आदि कुछ कुछ अशुद्ध-निम्न स्तर की प्रकृति के तत्त्व असर डालते रहते हैं । कितनी ही प्रभावी असर तो ऐसी सूक्ष्म और छिपी होती हैं कि उसे परखने के लिए भी अधिक जागृति और साधना की आवश्यकता होती है, और उसे मिटाने के लिए तो फिर अधिक परिश्रम और सावधानी चाहिए । जैसे पत्थर में भी ईश्वर का— चेतना-शक्ति का—आविर्भाव है और मनुष्य में भी है, पर दोनों में बहुत वास्तविक अंतर है; वैसे प्रकृति के सभी बलों में यद्यपि चेतनाशक्ति रही है, तब भी उसमें काफी अंतर है । इसलिए साधक के प्रत्येक काम में और प्रत्येक संयोग में परमात्मा का पूरा आविर्भाव नहीं होता पर साधक की अपनी ही निम्न स्तर की प्रकृति का भी आविर्भाव साथ में होता है । इससे प्रकृति के स्वभाव से कौन-सा काम वह करता है, वह खोज निकालना साधक के लिए बहुत आवश्यक है ।

जो अंतिम सत्य है, उस सत्य का अनुभव कर सकने की कक्षा में पहुँचने से पहले वैसे अनुभवी का अनुकरण करना या वैसी कल्पना या मानना यह साधक के लिए हानिकर्ता है । नये-नये संयोग, व्यक्ति, संबंध, विचार— इन सभी में से जो नवजात अनेक संघर्ष और ठोकरें खाकर उसे सारतत्त्व लेना ही होगा, ऐसी नवजात के हिसाब में और ऐसी मान्यता से फिर कितनी अधिक ठोकरें खानी पड़ेंगी । अपनी भूल जहाँ तक सूझे नहीं, वहाँ तक उसे दूर करने को कोई भी तैयार नहीं होगा । प्रत्येक संयोग सीखने के लिए प्रभु ने कृपा करके दिया है और उसमें से उसे अपनी प्रकृति का किस प्रकार रूपान्तर करना है, उसे देखने सदा जागृत रहना पड़ेगा, इससे वैसी दृष्टि से उसे उन संयोगों को देखना चाहिए; तो ही अपना व्यवहार, वाणी या विचार में कहाँ अकुशलता है, उसका उसे पता चलेगा । शरणभाव, सही

तरीके का शरणभाव, भी ऐसे नहीं मिलता । वह भी भावनापूर्वक, ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त करना पड़ता है । जैसे-जैसे उसका स्वभाव, प्रकृति, प्रभुभाव के संचार के लिए उपयुक्त होती जाती है वैसे-वैसे ही उसका शरणभाव बढ़ता है । उसके पहले का शरणभाव तो एक मान्यता ही है, जीवन की ठोस सच्चाई नहीं । उसके पुरुषार्थ का फल देनेवाली चैतन्यशक्ति ही है ऐसा फिर दृढ़ता से, पुरुषार्थ के कारण आ जाते अहंभाव को उसे टालना है, यह तो एक दूसरा ही प्रश्न है ।

प्रभु अवश्य उसे सहायता करने उत्सुक होते हैं, पर वह कल्पना करता है, उस तरह सहायता नहीं मिल सकती । प्रभु का उपदेश जीवन में प्राप्त प्रसंगों द्वारा मिलता है और अनेक प्रकार के अनुभवों द्वारा उन उपदेशों को पक्का करने का उसका उद्देश्य होता है, इसलिए ही अपनी भूल कहाँ हुई, उसे देखने आँख तत्पर हो तो ही अनुभव पर से सीख सकता है ।

सर्व भाव से और सर्व रूप से शरणागति की भावना ज्ञानपूर्वक साधक में प्रगट हो अर्थात् यदि उसके आधार के सारे करण सारे प्रकार की शुद्धि को प्राप्त कर चुके हों तो बालक जैसे प्रकृतिवशात् निश्चिंतता और शांति से आनंद प्राप्त कर माँ की गोद में रहता है वैसी; पर प्रज्ञापूर्वक की भूमिका साधक की हो उस बेला में—उसका 'ईश्वर सब संभालता है'—यह सत्य सच्चा सिद्ध होता है । ऐसी दशा होने से पहले साधक को वैसा मानने के भ्रम में कभी नहीं पड़ना चाहिए; परन्तु उसमें सभी प्रकार का झुकाव प्रभु की कृपा का एकमात्र सहारा लेकर उसके सारे करणों की शुद्धि हो, उसमें ही एकाग्र और केन्द्रित होना चाहिए । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १९० से १९३)

* *

उदार मानस

जैसे मनुष्य को प्रभु- से जोड़नेवाली सूक्ष्म डोरी प्रभुकृपा है वैसे मनुष्य से मनुष्य को जोड़नेवाला, मिलानेवाला, उदार मानस है। प्रेम सांसारिक जीवन में उदार मानस के स्वरूप में अवतरित होता है। किसी की भी विशिष्टताएँ, विचित्रताएँ और घृणाजनक विकृतियाँ भी प्रेम से सहन कर लेने की ताकात उदार मानस के बिना संभव नहीं है, उसीप्रकार उदार मानस भी प्रेम न हो तो असंभव हो जाएगा। इसप्रकार प्रेम और उदार मानस परस्परावलंबी है।

मानसिक उदारता या सहिष्णुता का अभ्यास हमारी संकुचित मनोदशा, स्वार्थवृत्ति, ममत्व का नाश करके जीवन सार्थक और आनंदमय बनाता है। वह भावनाओं के आवेश का नियमन करता है। श्रेयस्कर, आनंदप्रद असर हम में लाता है एवं संबंध में आते **जीवों** में भी पैदा करता है। सहिष्णुता यानी मानसिक उदारता जितने अंश में रखेंगे उतनी मात्रा में भगवान का यंत्र बनने की क्रिया में हमें अपने आपको सहायरूप बनना होगा। इस गुण से दूसरी उच्च भावनाओं को पकड़ने और उसे हम में मिला देने की शक्ति प्राप्त होती है।

अन्य के स्वभाव, वाणी, जीवन दृष्टि, भावना, मानस, जीवन-व्यवहार को संक्षेप में अन्य के संपूर्ण व्यक्तित्व को सन्मान देना इसका नाम हृदय-सौजन्य अथवा मानसिक उदारता। जितनी मात्रा में साधक का आत्मविकास हुआ होगा, उतनी मात्रा में यह गुण उसमें आगे बढ़कर होगा। जीवनविकास का यह एक थर्मामीटर भी हो जाता है ....

मानसिक उदारता अर्थात् दूसरों के दोषों को अपना लेना यह अर्थ नहीं है । अनिष्ट के प्रति उदार मन यानी उसकी उपेक्षा करना । यदि दूसरे हमारे जीवनविकास में बाधक बनकर खड़े रहें तो उनके सामने झुकना या अधीन हो जाना, यह इस गुण का लक्षण नहीं; तब तो शांत, सबल और सफल दृढ़ विरोध करना यह उदारभाव का लक्षण है । इसके साथ ही अनिष्ट इच्छा करने का प्रयत्न करनेवाले के प्रति यदि तिरस्कार हो ऐसी कोई वृत्ति है तो उदारभाव का लोप हुआ है समझें । यह भाव जिसके प्रति रखा गया हो उसका भी कल्याण होता है ।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि न्यायप्रिय मनुष्य को ऐसा उदारभाव रखना रास नहीं आता । यह भूल है; क्योंकि मनुष्य समुदाय दृष्टि में आता सत्य, सौंदर्य और सौजन्य के अनेक आकार और प्रकारों में रहा गुप्त सुमेल देखना और साधना यह सच्ची न्यायप्रियता का लक्षण है । मनुष्यजीवन की प्रत्येक दिशा में अमुक मर्यादा तो रहेगी ही । उसकी अवगणना करना यह हितकर नहीं; पर उसे समझकर सहजभाव से निभा लेना यह सच्ची न्यायप्रियता है । मनुष्य की अनेक परिमितताओं को भगवान सह लेते हैं । भगवान की सृष्टि का मध्याह्न का सूर्य वह प्रखर तेजस्वी प्रेम है तो उदारभाव यह उसका उषाकाल है । यदि उसे सभी चाहें तो, निहार सकते हैं और उसमें प्रसन्न हो सकते हैं ।

हार्दिक उदारता सभी को शांति से सुनती है, समझना चाहती है; एकदम विरोधी दृष्टिबिन्दु की भी कदर करने को मथती है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १३२ से १४०)

* *

भाव का सदुपयोग

(अनुष्टुप)

दिल की पीड़ा गहन भले ही कोई न जाने,
वेदना गहन भाव शक्ति यदि बतलाए ।
वेदना वैसी तो कैसा अलभ्य काम देती है !
कल्याण मूल ये ऐसी, जिसे ये वेदना होगी ।
गहरा आघात लगे तभी भावना जन्म लेगी,
भावना वेग को जोतें चाहिए साधना में तभी ।
हृदय भाव जागते किसी कर्म-साधन में,
खर्चकर दें योग्य, उपभोग न करें ।
भाव है शक्ति का रूप गुमराह ही करते,
जागृति चेतना कम अपनी तभी जानें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ६८)

भावना या मनोभाव, प्रेम, भाव सारे सभी,
शक्ति द्वारा काम लेना हमें जानना ही होगा ।
उसके सर्जक को तो स्वयं ऐसा भान रहे,
स्वतंत्र चेतना-शक्ति आनंद पाए दिल में ।
कुछ भी न भोग लेना अपने उपभोग में,
आनंद जो मिले उसे खर्चों शक्ति सर्जन में ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २०)

* *

भाव तो शक्ति का रूप बेकार न गिनो कभी,
मोड़ा जो करेगा ध्येय भेंट वह पायेगा सही ।

भाव जो शक्ति की छोटी कैसी वह लहर है,
पहचाने शक्तिरूप ऐसा उपयोग करें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ७३)

* *

नींद - निद्रा

साधक की निद्रा कोरी जड़तावाली नहीं होनी चाहिए । उसमें से स्थूलता घटती जानी चाहिए । निद्रा में भी जाग्रत दशा प्रकट हो सकती है । सोते होने पर भी अंतर में जागृति हो सकती है । यह भी पर्याप्त नहीं है । नींद पर का संपूर्ण जागृत काबू उसे आ जाना चाहिए । इसका यह अर्थ नहीं कि वह चाहे तब सो सके और चाहे उठ जाय– यद्यपि यह भी निद्रा पर के काबू का एक गौण प्रकार है । *साधना के दौरान ऐसा समय भी आता है कि जब नींद संपूर्ण रूप से चली जाती है; अलबत्ता यह कोई रोग के कारण से नहीं ।'*

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १०३)

* *

नींद का प्रकार साधना के थर्मामीटर का एक लक्षण बन सकता है । जिस प्रकार का कर्म करते हैं, उस पर नींद का आधार है । ज्ञानतंतुओं का खिंचाव जहाँ अधिक रहे वैसे दिन की जैसी प्रवृत्ति हो, उसे सात से आठ घण्टे भी नींद आवश्यक होती है । जब जिस प्रकार के कर्म में शांति, प्रसन्नता, समता, व्यवस्था और सुव्यवस्थित सारा हो, रागद्वेष न हो, काम-क्रोध आदि प्राण की प्रवृत्ति न हो, अहंकार से भरे कर्म न हों; वैसे प्रकार के कर्म जो **जीव** से होते हों, उनकी नींद चार से पाँच घण्टे भी काफी होती है । जिस **जीव** का प्रतिदिन एकसमान सतत मननचिंतन सात्त्विक प्रकार का है, उसकी नींद तो उससे भी कम घण्टे की संभव हो सकती है । अनेक बार

अत्यन्त उत्तेजना से भी बिलकुल या कम नींद हो जाती है । जिस **जीव** को कम से कम नींद से अपने ज्ञानतंतु की मरम्मत—जागृत हुए सात्त्विक गुणों के कारण—हुआ अनुभव होता है, वैसे **जीव** को उत्तम प्रकार का जानें । नींद यह ज्ञानतंतु की मरम्मत के लिए है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३७-३८)

* *

नींद के मात्र घण्टे, बलपूर्वक घटाने से लाभ नहीं होगा, इतना ही नहीं पर बिगाड़ भी होगा । उससे तो दिनभर शांति, प्रसन्नता, अंतर्मुखता आदि दैवी गुणों की वृद्धि तथा मननचिंतन के प्रति विशेष ध्यान देना चाहिए । तमस और रजस प्रकार के गुण का स्तर घटकर सात्त्विक प्रकार का हो वैसा करना चाहिए । ऐसा सब करने से नींद में जो परिवर्तन आएगा वह उत्तम होगा । जिसके आधार की समग्र भूमिका प्रभुमय दशा में होने लगी है, प्रभु पर जिसकी श्रद्धा, विश्वास अटल है और जिसके जीवन में उसके प्रति एकाग्रता आ चुकी है, उसकी भी नींद सात्त्विक प्रकार से कम हो सकती है । जीवन में संपूर्णरूप से आत्मनिष्ठा का भाव आ जाता है, तब नींद का स्थूल प्रकार संपूर्ण बदल जाता है । वह सोते हुए भी सोता नहीं है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३९-४०)

* *

कितनों की शरीरप्रकृति ही ऐसी होती है कि आहार की तरह नींद कम या अधिक होती है । इस कारण से *साधक को नींद के विषय में स्थूल रूप से सोचने के बदले स्वयं अपने दैनिक जीवन में भगवान के भाव को कितना अधिक समय धारण कर रहा है, वह उसके आगे एक महत्त्वपूर्ण विषय होना चाहिए ।*

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४०)

* *

नींद पर जिसका चेतनापूर्ण संयम है, वह ऊर्ध्वरेतस् हो सकता है, यानी कि इसप्रकार की संभावना उसमें जन्म लेती है । नींद की आवश्यकता शरीर को है । जब सतत गंगा के प्रवाह के जैसे भावप्रवाह में ज्ञानपूर्वक हमारी जीवनधारा जागृत होती है, तब शरीर का स्थूलरूप उसके बीच नहीं आ सकता । जब भाव जागा या जगा होता है, तब अमुक समय के दौरान नींद बिलकुल भी न हो ऐसा भी हो सकता है । बहुत आगे की कक्षा में नींद के दौरान नाक भी बजती है, शरीर भी निश्चेष्ट पड़ा हो, पर अंदर से जागृत रहा करता हो ऐसा भी संभव होता है । उसके पश्चात् तो नींद भी मानो अधिक गहरी हो और मुर्दे जैसी नींद भी हो, तब भी अंदर से चेतनयुक्त जागृति तो जीवंत ही हो वैसा भी होता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४१)

* *

साधना करते समय नींद आ जाती है, इसका कारण तो इतना ही है कि अभी हमें अपनी इच्छाशक्ति का योग्य उपयोग करना नहीं आ पाया है, जैसे चाकू या तलवार की धार बहुत बार उपयोग करने से बनी रहती है वैसे ही हम अपनी इच्छाशक्ति का, संकल्पबल का साधना में उपयोग करेंगे और हमारी भावना का विकास हो, उस उद्देश्य के ख्याल के साथ उसका नित्य के व्यवहार में भी उपयोग करते रहेंगे तो साधना करते करते जो नींद आती है उसे हम रोक सकते हैं ।
('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४१)

* *

तुम्हें अभी नींद बहुत अधिक आती है, उसका कारण आलस्य और तमस है । तुम्हारे प्रसंग में नींद का कारण शरीर लगता है । अत्यन्त तामसिक जड़ता के कारण भी नींद का ऐसा आक्रमण होता है अथवा तो

ज्ञानतंतुओं की अशक्ति होने से भी कितनों को ऐसा होता है सही । कितनी बातों में उनकी अमुक सहज कुदरती वृत्तिओं को दबाने अथवा उसका जिस प्रकार सहज व्यक्त होना होता है, उस तरह वह न होता हो और इससे एक प्रकार की विकृति भी होती है, उसके फलस्वरूप भी नींद विशेष आती होती है। ('जीवनसोपान', आ. १, पृ. ६६-६७)

* *

कर्म साधना के मुद्दे

(१) सतत प्रभुस्मरण के साथ भावना को कर्म में परिवर्तित करना है कि जिससे भावना अधिक से अधिक ज्वलंत, प्राणवान, चेतनात्मक और ध्येय की आतुरता साकार होती जाय ।

(२) उस उस कर्म के पीछे हमारे साथ 'कोई' खड़ा है, ऐसे अनुभव की निष्ठा साधक की विकसित होती जानी चाहिए ।

(३) उस उस कर्म के, कम से कम, आदि, मध्य और अंत में समर्पण की भावना जागृत रहनी चाहिए ।

(४) उस उस कर्म के फल या परिणाम की तो आशा साधक कभी न रखे—इसका अर्थ यह नहीं कि परिणाम नहीं है । कर्म के कर्तृत्वपन का ख्याल भी छोड़ना चाहिए ।

(५) कर्ममात्र स्व-जीवन के विकास के लिए मिला है । गढ़न की भावना को साकार करने के अवसर के रूप में वह है । दूसरे किसी का ख्याल उसमें न हो; अन्य तो वहाँ निमित्त-मात्र है ।

(६) उन उन कर्मों को करने से पहले या बाद उसके विचार नहीं आने चाहिए; आए तो मन को समझाकर उसके कारण जाँचने

चाहिए और फिर उसमें से मुक्त हो जाना चाहिए । कर्म करते हुए हमारी जो कमियाँ, दोष दिखाई दें तो उसमें से सही समय पर दूर हो जाने का दृढ़ निर्णय हो जाना चाहिए ।

(७) उन उन कर्मों के समय वह आत्मकल्याण के लिए ही हुआ करता है और प्रभु का काम होने से हमारे रूपान्तर के लिए है, यह भाव सतत रहना चाहिए । *कर्म करते-करते यदि हमारा रूपान्तर न हो पाता हो तो वह कर्म हमारे लिए कोई अर्थ नहीं रखता ।*

(८) कर्म में तादात्म्यता होनी यह एक बात है और उसमें डूब जाये, यह अलग बात है । डूब जाने में स्वभाववश व्यवहार है । जबकि तादात्म्यता में ज्ञानपूर्वक की जागृत चेतना रहने से हमें वह प्रकट करनी है ।

(९) कर्म में गड़बड़, उतावली, जल्दी पूरा करने की अधीरता, यद्वातद्वापन, अशांति, अव्यवस्था, बोझिलता, अविचारीपन, शुष्कता, बलपूर्वक, बेपरवाही, बेदरकारी, दूसरे कामों का सिर पर भार आदि तब जरा भी नहीं होना चाहिए ।

(१०) जो जो कर्म करने हों उनके हार्द और सर्वांगरूप का तादृश ख्याल की चेतना साधक को होनी चाहिए । उस उस कर्म के साथ का जो जो भी लगातार होने या बनाये रखना यह सारा उस कर्म के साथ व्यवस्थित होना या बनाये रखना चाहिए, नहीं तो वे सभी कर्म अधूरे रह जाएँगे ।

(११) सभी कर्मों में साधक को विवेकशक्ति, बुद्धि, समतोलपन, ताटस्थ्य, आयोजन, नियोजन, आकलनशक्ति आदि सभी का उपयोग करना चाहिए । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ६२ से ६८)

* *

कर्म-महिमा

(अनुष्टुप)

काम तो आद्य-शक्ति है, चेतना-शक्ति काम है,
काम तो प्राणदाता है, काम काम से ही बने ।
काम दाक्षिण्य प्रेरित जीव को क्या रसात्मक !
काम औचित्य का भान जगाये भावप्रेरक ।
सूक्ष्मता बुद्धि में आये काम योग्य किया करें,
कर्म-कौशल्य आता है काम सद्‌भाव से करें ।
काम खाली नहीं होता, जीवन प्रेरक वह,
काम न होता, कहाँ से होता यह संसारचक्र भी !
काम तो कामधेनु है, कर्म कल्पतरु सच;
कर्म में हेतु का ज्ञान जो रखे, श्रेय वे पाये ।
अच्छे प्रसंग क्या देते कर्म जीवन में सदा !
कर्म से जो मिले बोध अन्य से वे मिले ना ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १८४-८५-८७)

* *

(वसंततिलका)

न होता काम तो जग में प्रवेश कैसे ?
न होता काम मिलता कहाँ से ये वेग ?
न होता काम स्फुरित दिल-प्राण कहाँ ?
न होता काम जग होता न स्वयं आप ।
ये काम एक कण से कई लाख देता,
ये काम पत्थर द्वारा प्रभु-मूर्ति दे ।
है काम भाव, रस, रंग जमानेवाला,
है काम शक्तिप्रद चेतन प्रेरणार्थ ।

काम सब कुछ है नव कर्म, कुछ ना,
आधार काम हृदय में सभी पिरोने;
है काम साधन ही प्रकृति जानने को,
है काम भाव प्रभु का जग में फैलाने ।
जो काम चित्त, मन, बुद्धि शमित करे,
वह काम अंग चेतन धारण करे ।
है काम दिव्य प्रभु ! आहुति यज्ञ की जो,
वह काम ज्ञान प्रभुभक्ति करवाये ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ४९ से ५१)

* *

(अनुष्टुप)

काम प्रत्यक्ष शाला क्या स्वयं निर्माण के लिए,
काम में दृष्टि व वृत्ति ऐसी संपूर्ण रखना ।
चैतन्ययुक्त कोई गुरु जो होता कहीं भी तो,
काम स्वयं ही ऐसा है सर्वोत्कृष्ट गुरु सत्य ।
काम से विश्व जन्म ले काम में विश्व समाता,
पोषित काम से विश्व कैसा, अद्‌भुत काम ये !
चेतनाशक्ति प्रेरित गहन जीवन में ये,
जोड़े चेतना-तार काम क्या एकदूसरे में !
प्रदेश एक से एक अलग काम बताता,
'मनोदशा क्या अपनी' काम से सूझता जाता ।
काम को साधनारूप गिन जो काम को करे,
अवतार नया उसका जन्म लेता कर्म निश्चय ।
काम को आकार देने, चेतना-शक्ति के लिए है,
क्या परात्पर है कर्म ! काम तो व्यक्त ईश है ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १८७-८८-८९-२१४)

* *

कर्म-साधना

साधक को कर्म को केवल कर्म की तरह देखना, गिनना नहीं है। कर्म करते-करते हमारी भावना किस प्रकार की जीवित रहती है, यह मुख्य बात है। इससे कर्म को करते समय हृदय में भावना का प्रवाह उछलता रहे, आनंद प्रगट होता रहे, कर्म के संपर्क और संबंध के कारण जिन-जिन स्वजनों और व्यक्तिओं के समागम में आये उनके प्रति हृदय का समभाव बनाए। सद्भाव से सभी के साथ व्यवहार कर सकें तो कर्म करने से हमारे जीवन का विकास होता जाएगा। कर्म को शुष्क रूप से करने से तो जीवन उल्टा कुचलेगा ही। ('जीवनसोपान', आ. १, पृ. १६८)

* *

इस जीवन में जो जो प्राप्त है, वह हमारे अपने ही कर्म भाव के कारण प्राप्त है। उन **जीवों** के साथ इस जन्म में भी वैसे स्वभाव से ही यदि व्यवहार करेंगे तो वह फिर खड़ा रहेगा। इसकी अनंतता का कभी पार न आएगा। ये सभी मिले हैं, कर्मप्रारब्ध पूरा करने को ऐसा समझकर उनके साथ **जीव**भाव से व्यवहार न कर भगवान धारणा से उनकी सेवा भगवान की सेवा भक्ति है; ऐसे प्रकार की ज्ञानभक्तिपूर्वक की जीवित धारणा रखकर व्यवहार हुआ करे तो हमारे जीवन की गति उच्च होती जाएगी। संसार तपश्चर्या की योग्य भूमिकारूप हमें मिला है। *संसार सांसारिक रूप से जीना नहीं होता, परन्तु जीवनविकास की भूमिकारूप में उसका ज्ञानपूर्वक उपयोग करें तो* ***जीव*** *का कल्याण ही है।* कल्याण कहीं बाहर नहीं है।

* *

कर्ममात्र है जीवन को प्रेरक रूप बनाने के लिए, सावधान करने के लिए, फिर कर्म छोटा हो या बड़ा हो। उसके प्रकार के साथ निस्बत नहीं है। कर्म को इसतरह करना है कि जिससे द्वन्द्वात्मक वृत्तियाँ ढीली पड़ें। *कर्म में स्वयं में कोई शक्ति नहीं है, परन्तु कर्म करते समय उस कर्म का उद्देश्य उसमें प्रदर्शित कर उसमें जो भावना उँडेली जाती है, उस भावना में शक्ति है।*

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९०-९१)

* *

सद्गुरु की ओर से हमारे हिस्से में आया कार्य हृदय के उत्साह, उमंग, आनंद से यदि न कर सकें तो फिर उसका लाखों गुना काम करने पर भी वह हमारे विकास के लिए कुछ भी उपयोगी नहीं होगा। अपने स्वभाव और प्रकृति के कारण कर्म करते रहने से ऊर्ध्व नहीं आ सकते; परन्तु वह कर्म सद्गुरु का कर्म समझकर वैसे कर्म में ज्ञानपूर्वक उत्तम कला लाकर, सांगोपांग पार उतारकर वह सारा फिर प्रेमभाव से उसे ही समर्पण किया करने का जीवित भान रखे, तो वैसे सौंपे कर्म भी यज्ञस्वरूप में प्रगट होंगे; इस तरह और इस भावना से किये गये यज्ञकर्म जीवन की प्रकृति को पलटने में शक्ति स्वरूप हो जाते हैं। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १६०-६१)

* *

कर्म-साधना

(अनुष्टुप)

निराला हमारा काम सभी कामों से गहरा,
होते सभी कर्मों में **उसे** हमें प्राप्त करना;

होता नहीं यदि वह, कर्म तो कर्म-बंधन,
प्रत्यक्ष भले हो श्रेष्ठ, हमारे काम का नहीं ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २१)

* *

'जो जो काम करे वे वे प्रभु की शक्ति से करे',
दिल की धारणा ऐसी जीवंत वहाँ जगाना ।
जो भी काम करे सभी प्रभु के लिए हो सारे,
दिव्य गहन हृदय भाव रखो कर्म में ही ।

खाली-खाली हृदय में ऐसी धारणा न करे,
किन्तु उस धारणा में चेतना-प्राण लाये ।
अकेला कोरा वह कर्म यदि किया करो तुम,
तुम्हारी प्रकृति का रूपान्तर नहीं होगा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १०१-०२)

* *

जितने भी मिलते हैं कर्म का परिणाम है,
कर्म को तजने से कर्म नहीं छूट जाता है;
किन्तु जिस कर्म को उसके हों जो भाव द्वारा,
भोगने कर्म को, फिर बढ़ाया करता उल्टा ।

कर्म के भावों का यदि जीव ले रचनात्मक,
परिवर्तित करे, वे ही पाए कर्म-तत्त्व को ।
ताटस्थ्य, स्थिरता, दिल शांत, अति प्रसन्नता,
सारे कर्म करते हुए वहाँ रहे संपूर्ण ।

अनेक काम भले हों वे लगने न भार दो,
एक-एक करके सभी पार करें वे पूरे ।

निश्चल, निश्चयी निष्ठा रखें गहरे दिल में,
जीते बिना कुछ भी वह रखना नहीं हमें ।
शक्ति व प्रेम का भाव साधना से जो न बढ़े,
रूढ़ि अनुसार तो हुआ करेगा जान लें ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ३८, ९५, ९६, ९७)

* *

जानने सारे कर्मों की भूमिका दृढ़ करना,
जीव कर्म करता रहेगा आचरण सभी ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ११०)

* *

(वसंततिलका)

ना काम मुख्य, पर काम की भावना है,
उस सूर को सतत बनाये रखें दिल में;
है भाव की बढ़ती के लिए काम सारे,
यह लक्ष्य चित्त में धर काम करो सारे ।
सभी काम भले करो, राग मत रखो,
वे होते दिल में तटस्थ बरतो;
होते, होने बाद और पहले भी बरतो,
—मानो न हो कोई भी लेनदेन मन में ।
'सर्वस्व शक्ति अपनी उपयोग करूँ,
संकल्प चाहे कुछ भी हो पाकर रहूँ';
विश्वास ऐसा हृदय से दृढ़ करके,
आगे बढ़ा नित करें निज ध्येय-लक्ष्य को ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १६३)

(अनुष्टुप)

कर्म प्रयोग-शाला है ज्ञान उद्‌भवित होने दिल में,
कर्म आचरण करें इस रीति, ज्ञान पायें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १६३)

* *

कर्म में अच्छा-बुरापन

शरीर रहता है, तब तक उसे अच्छे और बुरे कर्म, दोनों प्रकार के कर्म, मिला करेंगे । साधक को दोनों में धारणा तो अपनी भावना और समझ की ही बनाए रखनी है । न तो अच्छे को देखना है, न बुरे को । वे दोनों मात्र गुण की लीला है । वैसे कर्म जीवन को विकसित करने को मिले हैं, यानी कि मन को शांति, समता, तटस्थता, साक्षीपन, धीरज, सहिष्णुता, उदारता, विशालता, प्रेमभाव आदि दैवी संपत्ति के गुण विकसित करने के लिए वे मिले हुए होते हैं, ऐसा उद्देश्य यदि **जीव** प्रत्येक कर्म में जागृत रख सके तो अच्छा या बुरा कोई भी कर्म उसे बंधनकर्ता नहीं होता । उस कर्म से वह **जीव** अपने जीवन का उद्देश्य ही फलित करता जाता है और ऐसे प्रत्येक कर्म उसके जीवन को फलित करनेवाले हो जाते हैं । जैसे व्यापारी के यहाँ अनेक प्रकार के अच्छे बुरे स्वभाव के ग्राहक आते हैं; परन्तु उनके साथ उसे तात्पर्य है मात्र सौदा करने से ही; वह उनके स्वभाव को बिलकुल महत्त्व नहीं देता; परन्तु कमाने के उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर अच्छे या बुरे के पास से वह अपना उद्देश्य सिद्ध करता है । उसी तरह यदि साधक अपने को मिले अच्छे या बुरे कर्म से एकमात्र अपने जीवन का उद्देश्य ही फलित करने में एकाग्र रहता है, वैसे **जीव** को कर्म का अच्छा या बुरा स्पर्श नहीं करता है । उसका हेतु तो मात्र उसमें से अपने जीवन का उद्देश्य फलित करना होता है और ऐसा उद्देश्य फलित करना शरीर बिना संभव नहीं है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८७-८८)

हीन, अच्छा-बुरा

(अनुष्टुप)

अच्छे या बुरे का जरा भी नहीं चिंतन करें,
परन्तु सब में से भाव को नित्य पहचानें ।

अच्छे और बुरे का रहता द्वन्द्व जगत में,
जीवन में पार उससे प्रभुभाव से होना है ।
वह न बुरा यदि प्रभुभाव वहाँ होगा,
द्वन्द्व के पार इस रीत जिंदगी में होना है ।

द्वन्द्व में वे प्रभुभाव यदि रख न सकें तो,
द्वन्द्व से किस तरह पार होगा फिर जीवन में ?
'द्वन्द्व की वृत्ति वह द्वन्द्व में रखना नहीं जीव को,'
लगातार गहन ऐसा भान रखे दिल में ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १५८, १६४-६५)

(गजल)

बुरा जो गिनें लोग रहे वहाँ ईश की शक्ति,
बुरा का भी आधार ले सकेगी प्रभु-शक्ति ।

बुरा को बुरा वह न माने कैसे सब तरह,
बुरा को बुराकर इसतरह न भोगे कहीं भी ।

बुरे को लेकर अधीन पूरी तरह जीवनतत्त्व से,
रूपान्तर तो होने उसे अनोखी संभावना वहाँ है ।

बुरा ना बुरा है बुरा अकेला कभी भी,
और नीरखते 'अच्छा' जिसे, न अच्छा अकेला कभी ।

होना हमें वैसा सतत भाव हो हृदय में,
'बुरा' 'अच्छा' दोनों में पिरोकर प्रभु भजें ।

('प्रणामप्रलाप', आ. २, पृ. २०, १३१)

कैसा भी हो भले क्षेत्र

(अनुष्टुप)

कोई क्षेत्र प्रभु-भाव रहित न विद्यमान,
प्रभु हृदय में लक्ष्य रख प्रवेशकर सदा ।

कैसा भी हो भले क्षेत्र बंधन न उसे गिनें;
अच्छा-बुरा हृदय में उसे जानना न रखें ।

बुरा होने पर भी उसके साथ क्या निस्बत ?
उसमें न पिरोये रखना अपना हृदय ।

दिखाई खराब देता है, त्यों का त्यों वह कभी,
—जीवन में आता न कहीं, आता वह किसी हेतु ।

हेतु का ज्ञान उस बेला वैसे में जिन्हें स्फुरे,
असत्य से भी उसे सत्य बोध हुआ करे ।

बुरा ना अकेला बुरा अच्छा उसमें भी होता,
इससे सभी के कर्म को उस हृदय में देखें ।

सारा जो भी भरा हुआ प्रभु के भाव से पूरा,
प्रेरित हृदय से वहाँ, प्रभुभाव से वर्तें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १६३-६४)

* *

कार्य सात्त्विक भले हो, श्रेष्ठ में श्रेष्ठ भले हो
चेतना-शक्ति का भान जगा यदि नहीं हो तो—

ज्ञानयुक्त दिल से भाव कर्म करते क्षण—
जिसे रहे न, वैसे सब अविद्या में खेला करें ।

संसारी लोगों की कक्षा से वे लोग उच्च है,
किन्तु ठाँव का ठाँव ऐसे तो ठहरना रहा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १६९)

* *

निंद्य में निंद्य हो कर्म उसमें भी शुभ देखें,
—कल्याण भावना पोषा करें, श्रेय उसे मिले ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २०१)

भाव-विहीन जो कर्म, कर्म वे कर्म-बंधन;
भावयुक्त होते कर्म, कर्म वे मुक्ति-प्रेरक ।

('जीवनसोपान', आ. १, पृ. १४०)

अपनी प्रिय वस्तु बिना दिल न कुछ चाहे,
भक्ति अहेतु वह, जो अकेली प्रभु को चाहे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १५०)

* *

कसौटी की महिमा

कसौटीकाल में पौरुष दिखाकर साहस, हिंमत, धीरज आदि गुणों से प्रेरित हो जो टिका रहता है या विकास प्राप्त करता रहे, ऐसा **जीव** कभी उसमें उलझता नहीं, घबराता नहीं, दुविधा में नहीं पड़ता । कसौटी होती है, हमारे जीवन के सच्चे सत्त्व की परीक्षा करने । कसौटी में जो जागता और जागृत रह सका वह जीवन जी गया समझें । यह काल सजगता के लिए है, सतत जाग्रत रहने के लिए है । कसौटी में जो **जीव** आनंद की उत्कट मात्रा बनाये रखता है, वैसा **जीव** दुःख की अनंत हारमाला से भी फिर कोई झटका अनुभव नहीं करेगा । कसौटी तो जीवन को कसकर देखने की कसौटी है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २००-२०१)

कसौटी की पलों में जो भगवान को पुकारता है, भगवान की भक्ति करता है और ऐसी कठिन कसौटी के प्रसंगों में अपने जीवन निर्माण का ज्ञानपूर्वक भगवान के हेतु का जिसे ख्याल रहता है वैसा **जीव** भगवान को पा सकता है। जीवन में लगातार सरलता के प्रसंग हमेशा मिला करें ऐसा कभी नहीं होता। कसौटी में जो मरजिया बनता है, वही ईश्वर का सच्चा बंदा है। हमें तो उनका बंदा बनना है न ?

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २००-२०१)

* *

कसौटी

(अनुष्टुप)

वेदना

कसौटी प्रभु की यह अमूल्य भेंट - सौगात,
उसे जो नकारे वह प्रभुता पा न सकेगा ।

कसौटी पार होनेवाला उसे जो समझा करे,
ऐसा जीवन का पाए रहस्य किसी दिन सही ।

मानव जागृति के लिए दैवी कसौटी क्या अहा !
दया लाकर प्रभु दें वे तो सभी को जगाने ।

* *

काव्य, आत्मा का कथन

(झूलना)

हृदय की भावना अपनेआप स्फुरित, जीवन-आविर्भाव से दृढ़ जो,
जीवन जो काव्य है, काव्य में कल्पना, खाली कोरी रहे वहाँ न तनिक।

हृदय की भावना से होते कर्म जो, कर्म वह काव्य साकार रूप से;
प्रेम-भक्ति से ज्ञान हेतु से सभी समर्पित हो बने वह काव्य है ।

काव्य की कल्पना अलग जो जीवन से न हो वही काव्य काव्य है;
'काव्य तो कथन आत्मा का है' जानना उसके बिना सभी अधकचरा है।
('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ८२)

* *

नामस्मरण

(झूलना)

यदि जरा उतरकर कुछ गहरा वहाँ देखो, नामरूप सभी लगेगा;
'नाम' बिना क्या कुछ विश्व में देखा ? नाम सर्वस्व जहाँ तहाँ सर्वत्र !

मानवमूर्खता क्षुद्र कैसी दिखे ! त्याग मिथ्यात्व का कैसे आये ?
सूर्य समक्ष जुगनू क्षूद्र है, इसीसे वह अधिक नाम बढ़कर ।

बारात में पहचाने न कोई तब भी, बुआ वर की खूब आनंदित;
भार की गठरी मानव सिर धरे, वर की माँ नहीं तब भी मौर डाले ।

नाम की नथ में हृदय पिरोने से खिंच आयेगा नाम वहाँ स्वयं ही,
कहीं कुछ भार नहीं, कुछ चिंता न वहाँ, दिव्य निश्चिंतता नामगोद में ।
('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ११०-११)

* *

श्रीगंगाचरण में (चेतन को उद्देशित द्विअर्थी श्लोक)

(शिखरिणी-मंदाक्रान्ता)

गति तेरी कोई परख न सका, न कोई माप सका,
तुझे हृदय में देखने निजी बनाने, विरल ही हो;
महा मूल्यवान तुम्हारा रस जैसा केन्द्र-बिन्दु पाने;
महामाया माता ! शरण में मुझे रखे, पापी हूँ मैं ।

सदा ढँका तुम्हारा मूल रहे; कहाँ से तुम निकले,
संपूर्ण कोई मंथन करते, खोजे तो, हार प्राप्त करे;
तभी तुम माँ ! सकल जन की दृष्टि खींचती रहती,
तुम्हें देख कैसे मन पिघलता प्रेम-मुग्धभाव से !

अहा ! क्या लगे जहाँ शीत, भय, केवल कूदना होता !
जाते लगे हृदय से अरे ! कम हिम्मत होने लगे !
उस बेला में, मन-हृदय से हिम्मत हाथों में लिये,
गिरे अगर माँ में, फिर तो और ही आनंद व्यापे ।

भले लगे भिन्न जननी ! तेरे वे मूल व मुख दोनों,
तब भी जुड़े उभय तेरे चेतना के प्रवाह से,
बसी दोनों में तू, उभय स्वरूप एक की एक माँ ! तू,
फिर भी तुम्हारे होने सभी स्थानों में दृश्य माँ ! भिन्न-भिन्न !

तुम्हारी जो शरण में रह पंथ काटा करते हैं,
भले भूले वैसे भी, कृपा कर पंथ पर लाती फिर उसे;
नहीं खोने देगी तू कभी भी हे माँ ! करुणामयी ऐसी,
भूले हुए की माँ निरख-निरख के ले प्रेम-संभाल अधिक।

जाते तेरे पंथ जन निरखे, अपंग और अशक्त,
'चढ़ाये पंगु को गिरि तुज कृपा' उक्ति वह देखी सत्य;

जन कोई उसे कवि-मन की कल्पना खाली माने,
परन्तु जिन्हें इसका अनुभव हो वह सच्चा जाने ।
हो पूरा पंथ जहाँ निरखते वहाँ जाते वह अधूरा,
—अधिक ऊँचा और कठोर कठिन आ खड़ा रहे क्या !
हुआ मानो पूरा चढ़ना वहाँ तो दूर का दूर धाम,
—होता जाये कैसे ! मन की करे माँ कसौटी अपार !
महा पंथ में तेरे हर शिखर एक से एक ऊँचे,
चढ़ाई भारी क्या ! श्रमित होकर मानव श्वास लेते;
चढ़ाई में कोई भय जीवन को जोखिम नहीं वैसा,
परन्तु निचले में पतन हो सर्व संयोग वहाँ माँ !
अति दाँवपेच पंथ में यद्यपि समान बने रहे,
मोड़ आते हैं कई अनोखे, तब भी एक रहते हैं;
मार्ग में भक्त जो मन से जननी की भक्ति करते हैं,
बढ़ाये आनंद, श्रमित मन को और उल्लास प्रेरे ।
जगत में चली आई शरणजन की एकसी-ही कतार,
शुरू आदि का बाधारहति हो यज्ञ अखंड ऐसा;
युग बीते पर नहीं कम हुई आहुति देवी माँ को,
और चली आती जीवंत भावना इस तरह जग में ।
सभी कुछ इकट्ठा निज का सर्व देकर तुझ में समाते,
तभी तू तो कैसी निज स्वरूप से जैसी हो वैसे री माँ!
अन्य किसी से भी असली रंग तेरा ना कभी बदला,
सदा ऐसी माँ ! असल में मुझे रखना मूल रंग में ।

('श्रीगंगाचरणे', आ. १, पृ. ६,१२,१५,१६,२३,२८)

* *

जग में कहाँ से दुःख जीवन-कलह, दर्द-दारिद्र्य ऐसे ?
जैसे रोग वैसे ही दरदी के उपचार किये जाते;
अनोखी रीत है प्रभु निर्माण की, जैसी सामग्री हो,
तब भी अज्ञानी नहीं समझते दोष देते प्रभु-को ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ४९)

* *

गुण, तमस-रजस-सत्त्व की समझ

तमस गति करता लगेगा पर रहेगा वहीं का वहीं । परिमितता, स्थितिस्थापकता और निष्क्रियता ये इसके लक्षण हैं । इसलिए हमें यदि विशेष अर्थ में गति करनी हो तो रजसगुण को धकेलना होगा । प्रत्येक वस्तु में यह गुण भी निहित रहता है । इसतरह प्रकृति में परिवर्तन होने के कारणों में पदार्थ की गतिशीलता का– रजस का गुण है; परन्तु यदि ये दो गुण ही मात्र प्रत्येक में होते तो वस्तुमात्र में जो प्रकार भेद है वह नहीं होता । जड़ और चेतन अथवा पशु और मनुष्य ऐसे भेद नहीं पड़ते । स्थितिस्थापकता (तमस) और गतिशीलता (रजस) के गुणधर्मों के परिणाम स्वरूप जो व्यवस्था हुआ करती है, वह भी पदार्थ का ही गुण है और उसे पदार्थ का सत्त्वगुण गिना जाएगा । प्रत्येक चीज अपनेआप की स्थिति में से सहज रूप से निकलने का सतत प्रयत्न किया ही करती है ।

इसप्रकार यदि हम अपने जीवनध्येय को आकार देने के लिए जीवंत ख्याल रखते हुए रजस की गतिशीलता से भरे क्रियाधर्म को अपने प्रत्येक कर्म, व्यवहार, वर्तन-संबंध, वृत्ति आदि में और ध्येयाकार वृत्ति में स्थिर करने चैतन्यशील रहा करेंगे तो अधिक अंतर पड़ेगा । परिमितता (तमस) में से जीवनध्येयाकार की वृत्ति गतिशील

क्रियाधर्म (रजस) में चैतन्य रूप से हुआ करेगी, तब हमें आध्यात्मिक अनुभव होंगे और उनमें योग्य व्यवस्थिति (सत्त्व) आयेगा । ज्ञानपूर्वक की चेतना की दशा की व्यवस्थिति वह सत्त्व का लक्षण है । उसमें समता है, एक की एक स्थिति है, परन्तु चेतन है, जड़ता नहीं है ।

प्रत्येक कर्म इन तीन गुणों के कारण से होता है । इन तीन गुणों के अलग-अलग रीति के संमिश्रण से अलग-अलग भूमिकावाली अलग-अलग दशाएं जन्मती हैं और उन दशाओं के कर्मों का प्रकार भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं । जब सज्ञानमय चेतनाभरी जागृति सतत पैदा होती है, तभी समतायुक्त प्रसन्न मस्त डोलन होता है, वह सात्त्विक भावना का प्रकार है और अंत में तो **जीव** की शिवत्व में गति होते तमस 'सत्' में, रजस 'चित्' में और सत्त्व 'आनंद' में सच्चिदानंद में परिवर्तित हो जाता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १ से ५)

* *

साधक को स्वयं के जीवन में कब कौन-सा गुण काम कर रहा है, वह समझना चाहिए और उसे समझ-समझकर उन-उन गुणों की असर से भावना बल पैदाकर मंथन करना चाहिए । एक ही दिन के दौरान में कभी तमस, कभी रजस और बहुत कम समय में सत्त्वगुण भी विद्यमान होता है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २५७)

* *

तमोगुण में आलस्य, जड़ता, प्रमाद, निर्बलता, अश्रद्धा, शिथिलता, अशक्ति, अकौशल्य, बस पड़े ही रहना, उमंग का अभाव, कठिनाई से होना, शंका-कुशंका, निराशा, विषाद, रोना, मंदता, अग्रहणात्मक स्थिति, संकेत से समझ सकने की अशक्ति, सावधानी का अभाव, अनिश्चितता, बेपरवाही, बेदरकारी, अनियमितता, सातत्य का अभाव, यद्वातद्वापन, थकान, मोह, अज्ञान, ठंडे और बासी पदार्थ खाद्यवृत्ति,

अज्ञानता, मंद गति, विस्मृतिपन, धीमापन, निर्बलता, मंद सौन्दर्यग्रहण-शक्ति, मंद रसवृत्ति, भावनाओं के मर्यादित प्रत्युत्तर आदि होते हैं ।

रजस में वेग, गति, शक्ति, कुशलता, चपलता, परिस्थिति को नियंत्रण में लेने की इच्छा, सक्रियता, सबलता, सुधबुध, पुरुषार्थ करने की चाहना, आशावाद, एक की एक स्थिति में रहने की अनिच्छा, संघर्ष-वृत्ति, आग्रह, नेता होने की वृत्ति, अहम् का जोश, कीर्ति की चाहना, सावधानी, नियमितता, सातत्यता, तनदिही, सीखने की आतुरता, सर्जनशक्ति, उमंग, ग्राहकता, आवेग, आवेश, कामना, आशा, इच्छा, अपेक्षा, चंचलता, स्फूर्ति, राग, आसक्ति, धाँधल, प्रवृत्ति प्रियता, स्पर्धा, लोभ, हिंसाखोरी, अभिमान, तीखाखट्टा खाद्यवृत्ति, हार-जीत, अनुदारता, बुद्धि हठता आदि होते हैं ।

सत्त्व में समता, शांति, आनंद, प्रेम, प्रसन्नता, स्थिरता, मुलायमता, निराग्रह, सरलता, सत्यप्रियता, क्षमा, करुणा, नम्रता, निर्दोषता, अभय, अहिंसा, इन्द्रियदमन, दान, शास्त्राभ्यास, त्याग, निर्लोभता, अद्रोह, अविचलता, कोमलता, न्याय, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, भक्ति, आरोग्यशक्तिप्रद खाद्यवृत्ति, सहिष्णुता, अमानित्व, सर्वभूतहितरतता, बुद्धिशाली और सप्रमाण मन, बुद्धि और सौन्दर्यरसवृत्ति से प्रेरित संकल्पशक्ति, आत्मसंयम, संस्कारिता, सप्रमाणता, मध्यममार्ग प्रवर्तना आदि होते हैं ।

* *

सत्त्वगुण हमारे आधार में प्राणवान महत्त्वपूर्ण होने से, उस समय हमारे शरीर, मति, मन और प्राण– इन चार में वह मुख्य भूमिका निभाता है और सात्त्विक गुण छलकते रहते हैं । सत्त्वगुण का बल पनपते-पनपते एक ऐसी दशा प्रगट होती है कि उसमें से ज्ञानदशा का अभ्युदय होता अनुभव कर सकते हैं । सत्त्वगुण की महत्ता ज्ञानप्रधान

होती है सही, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि उसमें भावना भक्ति ही न हो या कर्मयोग के प्रति लक्षण भी न हो । सात्त्विक गुण प्रगट होते ही साधना की भावना का विकास सहज रूप से हुआ करता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९४)

* *

सत्त्व में सात्त्विक गुणों का प्रागट्य सहज होने से उसका लाभ संपूर्ण समय एकाग्रता से साधना के कर्म में ही लगाये ऐसी यदि जागृतिपूर्वक कड़ी निगरानी और सावधानी रख सकें तो साधनाकर्म के फल की प्रक्रिया में अधिक से अधिक उत्साह बना रहेगा । सत्त्वगुण में उच्च क्षेत्र का पुरुषार्थ करने में उत्साह और उमंग होता है; विचारों की विशेष उलझन नहीं होती । हिचकिचाहट, संशय, शंका, घमासान, द्विधाभाव आदि की अनुपस्थिति होती है । इसलिए ऐसी भूमिका का लाभ जितना उठा सकें उतना उत्तम है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २५७-५८)

* *

साधना में आगे चलकर एक ऐसी स्थिति आती है कि किसी करण में सत्त्वगुण तो कितने ही करणों में रजोगुण भी कार्य करता होता हैं ।

रजोगुण में अहंप्राधान्य विशेष रहता है । उसमें जिस प्रकार का अहम् है, वह अत्यन्त वेगवाला होता है; इससे ऐसे साधक को अधिक से अधिक चेतनायुक्त जागृति रखकर नम्र रहकर सजग रहना है ।

प्रत्येक **जीव** और पदार्थ में तीनों गुण रहते हैं । एक या दो ही गुणवाले अस्तित्व असंभव है । तीनों गुणों में बारी-बारी से उतार-चढ़ाव, कम-ज्यादापन हुआ ही करता है । सत्त्व उत्तम, रजस मध्यम और तमोगुण कनिष्ठ कहलाता है । तमस और रजस को सत्त्व में तथा

रजस को सत्त्व में फलीभूत कर सकते हैं । अंत में तो तीन गुणों से पार होकर साधक को त्रिगुणातीत होना है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९५-९६)

* *

गुण-विकास की सरल पद्धति

मन-बुद्धि से प्राण या अहम् पर स्थायी नियंत्रण और विश्वसनीयता नहीं ला पाते । वह नियंत्रण जीवित नहीं होता । जीवंत, चेतनमय और ज्ञानात्मक संयम के लिए तो उससे पर जो शक्ति है, उसके द्वारा वह योग्य ढंग से साधा जा सकता है । प्रभु की कृपाशक्ति में जिस साधक को श्रद्धा, भक्ति होती है, ऐसा **जीव** जब अपने करणों की शुद्धि के लिए श्रीहरि के हृदय में हृदय से हृदय का आर्त और आर्द्र पुकार करता है, तब ऐसी पुकार से जो काम बनता है, उस प्रकार का काम (या शक्ति), नीति या सदाचार के नियम मात्र पालन से नहीं बन पाता । नीति या सदाचार के नियम पालने की आवश्यकता है, यह सत्य बिलकुल यथार्थ है; किन्तु वह केवल और इतना ही पर्याप्त नहीं है । ज्ञानभक्तिकर्मयोग से अंतःकरण की पूर्ण विशुद्धि प्रमाण में जितनी सरलता से, शीघ्र और सरलता से हो सकती है उतनी और वैसा मन-बुद्धिजनक संयम से या गुणों के लिए गुणों के विकास की साधना से, होना संभव नहीं लगता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४३५२)

* *

अनेक प्रकार के प्राण और अहम् से उठते आंदोलनों को, प्रभुकृपा से प्रेमभक्तिभावसहित प्रभुस्मरण के साथ समझने को मंथन करता रहता है । ऐसे ज्ञानपूर्वक अभ्यास का परिणाम तो यह होने लगा कि समता, तटस्थता, शांति, विवेक, प्रसन्नता, सहिष्णुता आदि सात्त्विक

गुण अपनेआप प्रगट होते हुए अनुभव हो पाये थे । इसप्रकार, ज्ञानभक्तिपूर्वक की जागृति से और उसके उद्देश्य का पालन करते हुये साधना के अभ्यास से गुण तो अपनेआप आते जाते हैं, यह निश्चित अनुभव का सत्य है । केवल गुण विकसित करने का अभ्यास इस **जीव** को कभी न था । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १२४)

* *

गुणों का खेल

(अनुष्टुप)

गुणों से गुण की रीति काम लिया करें सभी,
गुण की चेतना-शक्ति परिणाम नहीं देती वहाँ ।
गुणों से उठना ऊँचा ऐसे ही नहीं हो जाता,
जानना चाहिए 'गुण', 'स्वामित्व गुण का क्या ?' वह ।
गुण का काम गुण यों ऐसे ही न करे,
स्वभाव से गुण बर्तें सामान्य जन हेतु वो ।
गुणों के ऊपर काबू पूरा पाने हृदय से,
कर्म में ज्ञान के भाव से वर्तन करे साधक ।
गुणों के सेवन से तो मिले ना काबू उनका,
ज्ञानभाव वर्तन से काबू वहाँ पा सकोगे ।
पुरुष-प्रकृति-ज्ञान विवेकशक्ति सत्त्व दे,
अनासक्ति परावृत्ति संपूर्ण रजस से रहे,
जीव-अस्तित्व में पूरी समता तमस से रहे ।
दैवी वे चेतना का दे काम गुण तीनों सही,
भाव से तटस्थ यदि स्वयं बैठा देखता रहे सभी ।

* *

(शार्दूलविक्रीडित)

कहीं न बल है स्वतंत्र गुण उसके पीछे चेतना,
सारा विश्व खेले गुणों के खेल कैसा ये रसीला अहा !
जैसी हो भूमिका गुणों की जीव को वैसी मिले चेतना,
जैसे बालक खेले पल खिलौना और फोड़ डालता ।
सारे काम कराती जगत में पीछे रहके चेतना,
दिखावा गुण धरकर ही बेकार बीच में है खड़ा;
उसका यदि दूर कर पाओगे संपूर्ण बड़प्पन,
की तो शक्ति प्रभु-चेतना की हृदय से निहारोगे सभी क्या !

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १७४-७५)

* *

गुरु की आवश्यकता

किसी भी विषय या कार्यक्षेत्र में कोई अच्छा और सहृदयी होशियार सिखानेवाला प्रत्यक्ष रूप से मिल जाय तो उस विषय में या कार्यक्षेत्र में कुशलता पाने में सीखनेवाले को बहुत सरलता हो जाती है। संसार में जहाँ-जहाँ नजर डालेंगे, वहाँ पता चलेगा कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी सिखानेवाले के पास से जो चाहिए वह सीख लेता है। अनजाने पर्वत पर चढ़ना हो तो हम खो न जाँय या संकटों से उगर जाँय इसलिए मार्गदर्शक को साथ ले जाते हैं वैसा ही अध्यात्ममार्ग में है।

जिसे प्रभु के मार्ग पर चलना है, अंतरमुखी होना है, भगवान की शरण में रहना है अथवा ऊर्ध्वगामी जीवन अपने में उद्‌भवित करना है, उसे ऐसे किसी के साथ संपर्क रखना जरूरी है कि जिससे उसके संपर्क और संबंध के परिणाम से अपने में ऊर्ध्वगामी प्रवाह टकरायें और जन्म लें। ऐसा व्यक्ति-विभूति निरासक्त, अहंरहित, द्वन्द्वातीत, त्रिगुणातीत और भगवान की भावना में सदा रत होने से साधारण मनुष्य में जो रागात्मक

प्रवाह पड़े हैं, जिससे उच्चकोटि के प्रवाह उस **जीव** में टकरायेंगे। यद्यपि साधक को प्रारंभ में इसका पता नहीं हो सकता। परन्तु आगे की कक्षाओं में पता चल सकता है और साधक में एक प्रकार का संघर्षण होने पर मंथन होगा। इसप्रकार आमने सामने रागात्मक और अरागात्मक प्रवाह जागा करते होने से **जीव** की चेतनाशक्ति में जरूर अंतर होने लगेगा। हमारे दूसरे संबंध पार्थिव होने से, ऐसे संबंध हमें पार्थिवता से ऊपर नहीं ले जा सकते। गुरु की प्रथा इसी कारण होगी।

जैसे संपर्क या संबंध अकेले हमसे सामनेवाले व्यक्ति का चिंत्वन होता नहीं है पर उसमें जब राग या आसक्ति आती है, तब उसका चिंत्वन हुआ करता है और राग जितना अधिक उतना चिंत्वन अधिक, वैसे ही ऐसे गुरु के प्रति भी यदि अधिक प्रेम होता जाएगा तो उसका चिंत्वन भी जरूर सविशेष होगा। गुरु के प्रति प्रेम का उद्देश्य हमारी चेतना को जगाने, जगाकर क्रियात्मक बनाने और ऐसा होते होते हमारा संपूर्ण दिव्य रूपान्तर होने का है। इस संबंध के उद्देश्य में पूरीतरह ज्ञान और भान होने के अलावा गुरु के प्रति का हमारा भाव Receptive and Responsive— ग्रहणात्मक और क्रियात्मक सहकारवाला होना चाहिए। सही आतुरताभरे भाव, वृत्ति और दृष्टि हम में केन्द्रित, एकाग्र और हृदयस्थ होनी चाहिए।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ४४-४५, १०४)

* *

सूक्ष्म-भावरूप में गुरु

(अनुष्टुप)

गुरु ना देहधारी वे गुरु तो सूक्ष्म-भाव है,
गुरु आधार भूमिका पाने को गूढ़ तत्त्व को।
गुरु प्रत्यक्ष भले ना हो गुरु भाव हृदय से—
दृढ़ करते रहे तो स्वयं वह प्रत्यक्ष होगा।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ५)

(दोहरा)

'गुरु' 'गुरु' क्या करते, खाली न वे शब्द,
गुरु तो शक्तिभाव का व्यक्तरूप है देह ।
गुरु ना मिट्टी-पिंड है, मात्र न वे हैं देह,
गुरु अंतर जिसे खेले, पाये पदारथ वह ।
गुरु तो चेतन-भाव तथा शक्ति का पिंड,
कर्म विषयक मन धारण हो नित्य अखंड ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १४६)

* *

गुरु-माहात्म्य

(अनुष्टुप)

स्थूल देह न गुरु है सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव क्या !
गुरु के जीवन में जब मिलोगे तो पहचानोगे ।

गुरु चेतना-शक्ति जीवन में प्रवेश पाने,
और कर सके कार्य हमारे क्रियारूप में ।

गुरु में लक्ष्य रखना वह महत्त्व का कितना,
जीवन-साधना जो करे वह जानेगा सही ।

गुरु स्थान का कैसा महत्त्व जीवन में गहरा !
जो कोई जानेगा उसे नये रूप दिखे गुरु ।

महत्ता गुरु की ऐसी, ज्ञानभाव से ग्रहण करे,
उतारे जीवन में गहरी तभी तो फलेगी सही ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ५)

* *

सद्‌गुरु की परख

यदि हर प्रसंग में सद्‌गुरु की समझ बनी रहती है, वही समझ, व्यवहार-आचरण प्रसंग में दूसरों को मार्गदर्शन देती है। उस वास्तविकता तथा उनका कर्मकौशल्य, उनका सूक्ष्म विवेक, उनकी सहजता से तारतम्य खोज निकालने की कला, थोड़े परिचय में भी किसी की प्रकृति की योग्य समझ आ जाती है, प्रसंग को उसकी यथार्थता में समझने की उसकी सूझ, प्राप्त सभी **जीवों** को समझने की और उन्हें उनके यथार्थपन में स्वीकार करने की शक्ति, अलग-अलग प्रकृति और स्वभाव के **जीवों** को समझने की और उन्हें उनके यथार्थपन में स्वीकार करने की शक्ति, अलग-अलग प्रकृति और स्वभाव के **जीवों** के साथ उनके वर्तन प्रकार का सुमेलभाव और वैसे-वैसे **जीवों** के साथ उसका सुमेलभाव की वर्तनकला; वृत्ति, विचार, भावना आदि का सूक्ष्म से सूक्ष्म समतापूर्वक का निरीक्षण, अवलोकन; पृथक्करण कर करके, उनका यथास्थान पर क्या-क्या योग्यरूप हो सकता है उनका स्पष्ट यथार्थ वर्णन कर बताना; प्रत्येक मनादिकरण के प्राकृतिक धर्म तथा गुणों के खेल अमुक-अमुक कक्षा में कैसे-कैसे और किस तरह हो सकते हैं, जीवन की अमुक-अमुक स्थिति प्रगट होने पर उसके क्या माप लक्षण हो सकते हैं उनका योग्य आकलन करके उन्हें हमें समझाने योग्य बना सकना, उनके जीवन की अन्य लाक्षणिक ढब, इससे अनेक प्रकार के अलग-अलग होते रहते अनुभव, ऐसों के संबंध-संपर्क के परिचय से कमज्यादा मात्रा में कुछ-कुछ बदलती रहतीं प्रकृतिओं के उदाहरण; उनका निरंहकारीपन, निर्ममत्वपन, उनकी अपार निःस्पृहता और साथ-साथ अपरंपार स्पृहा, उनका राग और राग का अभावपन; अपने आप जो कुछ बना करे वही कर्म ऐसी उनकी समझ और वर्तन; कर्म या संबंध को कभी भी खोजने की जरा सी

भी वृत्ति का बिलकुल अभाव; जिसके द्वारा हमारे जीवन में धीरज, हिंमत, सहनशीलता, सहिष्णुता, प्रेम, सभी के प्रति सद्‌भाव और समभाव आदि प्रगट हुए अनुभूत कर सकते हैं; जिसके द्वारा अचानक, अनदेखी कोई किसी के विषय में प्रेरणा मिला करती होती है– जिसके द्वारा हमारा सारा जीवन ऊर्ध्वगामी होने लगता है; जिसके द्वारा हमारे शारीरिक दर्दों के साथ उनकी तादात्म्यता उनके शरीर पर अनेक बार प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा गुजरकर जिन्होंने हमारे दुःखों में सहभागी बनकर हमें सरल और हल्का कर दिया है– आदि सभी से सद्‌गुरु की यथायोग्यता समझ सकते हैं, ऐसा होता है । ऐसा यदि सारा उनका हमें बिलकुल वास्तविक लगता हो, वैसे लगने में पूर्ण यथार्थता हो और कहीं भी अतिशयोक्ति न लगती हो तो फिर ऐसों को हमें स्वीकार करना यथायोग्यरूप है ऐसा मानें और जानें ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २१३-२१६)

* *

गुरु का साधक के साथ व्यवहार

(अनुष्टुप)

महाक्रान्ति किए बिना दिल का प्रेम न रखे,
प्रेम तो दुःख सहना जानता है, प्रेम कर ।
प्रेम-भाव में शक्ति सर्जन के लिए गूढ़ क्या !
मिट्टी में से करे पैदा मानव, जोश प्रेम का ।
मरे को नया दे वह जीवन-चेतना हृद में,
स्वरूप फेर देने की अद्‌भुत शक्ति प्रेम में ।
जितना प्रेम जिसका हो अधिक उतना सही,
उसे सहना आता है, प्रेम का यह प्रताप है ।

लिया हो काम तो प्रेम कभी न छोड़ें,
जिस पर वह लगा हो उसके लिए मरके दिखाए।

कोटि जन्म भले जाँय पर जहाँ प्रेम ढरे,
किये बिना कल्याण उनका जरा भी न रुके।

मंथन कुछ दिल में गूढ़ जगाया करेगा,
अनोखी रीति से स्वयं बोध गहन दिलाएगा।

प्रेम अपना अस्तित्व न जानने देगा कभी,
अपनेआप न छोड़े, पीछा प्रेम छोड़े नहीं।

जो भी साथ करे प्रेम दिल के लिप्तभाव से,
साधे तादात्म्य सब साथ जब भी सहना पड़े।

बनाये रख सके तो ऐसा जीवन-प्रेम तो,
जन्म लेगा सर्वभाव स्वयं कहे बिना ही।

तादात्म्यभाव जन्माये न्यारी वे प्रेम की कला,
यद्यपि स्वयं का भान प्रेम रखा करे सदा।

प्रेम नहीं भोगता है, प्रेम को किसी रीति से,
प्रेम से प्रेम का काम ले चाहकर, प्रेम करे।

देना प्रेम जानता है, देने में कृतार्थता
—प्रेम अपनी क्या माने! प्रेम-भाव अखंड हो।

प्रेम के भाव में कैसी गति अद्‌भुत होती है,
मानो वहाँ न गति हो ऐसी वह स्थिरता हो।

विरोधाभासी क्या भाव प्रेम का लगता कभी,
स्वरूप न पूरीतरह प्रेम का पा सके कोई।

प्रेम में कुछ न मिथ्या, देखे तात्पर्य सभी में,
बेकार न कुछ उसे, सर्व का अर्थ प्रेम में ।

सभी हार्द में प्रेम है निरख सके गहन,
प्रेम को प्रेम से स्वयं समझता रहता सभी ।

निस्बत प्रेम को कोई, बिना प्रेम दूसरी नहीं,
पहचाने अन्य कोई, प्रेम वहाँ रिक्त नहीं ।

स्वयं में रहे मस्त वह, अपने से प्रेम करे,
अपेक्षा प्रेम न रखे, प्रेम स्वार्थ नहीं रखे ।

मर्यादा प्रेम में न कोई संकोच प्रेम में ना,
उड़कर पार जाने सभी की प्रेम क्या पंख देता !

संतोष नहीं प्रेम में असंतोष रखा करे,
प्रेम से प्रेम की पूँजी बढ़ाया करता रहे ।

प्रेम से कोमल कोई भाव इस विश्व में नहीं,
प्रेम जैसी कोई अन्य नहीं कठोरता कहीं ।

शिल्पी की छेनी जैसे प्रेम घाट गढ़ा करे,
प्रेम को प्रेम क्या स्वयं अनोखी रीत से गढ़े !

रूप भाव न जिसमें जन्म दे प्रेम उस द्वारा,
बोलती मूर्ति मानो हो चेतना भाववाली क्या !

मृत्यु कराना योग्य वहाँ वह मृत्यु कराता,
लगे जन्म देना योग्य तहाँ वह जन्म दिलाता ।

पोषना योग्य जो लगे उसे प्रेम संभालता,
प्रेम योग्य क्या वह प्रेम स्वयं पहचानता ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ८० से ८५)

* *

मर्यादा अंत तक यों तो लगा ही रहेगा,
तब तक प्रतीक्षा कर पुकारा प्रिय को करेगा ।

निस्बत प्रेम बिना तो जरा भी नहीं किसी से,
प्रेम से उद्‌भवित यदि प्रेम न हो तो निस्बत क्या!

प्रेम का हक्क जो कोई, आनंद से पूर्ण करे,
उन्हें हक्क सर्वस्व प्रेम सदा दिया करे ।

जिस पर रीझे प्रेम उसे तो निज का करे,
स्व जैसा बनाकर अपने में ही खेला करे ।

प्रेम की भूख जो तोड़े टूटेगी उसकी भूख,
प्रसन्न जो करे प्रेम, वरण करे प्रेम से ।

प्रेम निर्बलता से कहीं चला लेता न दूजे का,
प्रेम यदि झेल ले तो प्रवेश करने दिल में ।

न प्रत्याघात आघात प्रेम को लगा करें,
करे यदि प्रेम ऐसा प्रेमी के लिए किया करे ।

मैल जीवन का लेने उसे सहन करने
प्रभुकृपा से ताकात दी है बहुत **उस**ने ।

मैल क्यों भरा रखते दिल में इकट्ठा कर ?
जो जो स्फुरे, तरे उल्टा न दें स्थान उसे जरा ।
पीया शंकर ने विष हलाहल क्या यथार्थ !
अनुभव करने तो मिले क्या स्वजन अहा !

('प्रणामप्रलाप', आ. २, पृ. ४१)

* *

दिया जाता है तो देवें, चाहते हो देना तो दें,
प्रेम चाहना की भूख यदि लगी है तो देना ।
बाकी मैं प्रेम का भूखा, मानव दे देकर भी,
उसे क्या दे के पाएगा ? दुलारा मेरा समर्थ है ।
धैर्य उर में उसके कि 'भाव ही काम कराए',
—होगी जो भूमिका भाव जगा हमारे हृद में ।
इसीसे महत्त्व देता उर का भाव को गहरा,
बनाये रखें प्रेम, मिलेगा तो कभी हमारा ।
उर के मर्म को बेधे ऐसा प्रेम होने पर,
'परिपक्व होगा काम', ऐसा निर्धार दिल में ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ९८, ९९, २१५)

* *

बनाया जा सके यदि ऐसा प्रेम जीवन में,
जन्म लेंगे सारे भाव वे स्वयं ही कहे बिना ।
कराये प्रेम प्रत्यक्ष गूढ़ में गूढ़ तत्त्व जो,
किन्तु पावक से होगा वहाँ कैसे गुजरना ?

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ९०)

* *

गुरु द्वारा साधक का जीवन-निर्माण

व्यायाम शिक्षक का कार्यक्षेत्र शरीरविकास से है । शिक्षक का कार्यक्षेत्र मनोविकास या बुद्धिविकास है, वैसे गुरु का कार्यक्षेत्र मानवस्वभाव का दिव्य रूपान्तर करना है, शीलविकास का कार्य भाग्य से ही शिक्षक के कार्यक्षेत्र में आ पाता है । मानसिक विकास थोड़ा बहुत शिक्षक करवा सकते हैं । आध्यात्मिक विकास होता हो तो बहुत ही कम और अप्रत्यक्ष रूप में । इसप्रकार जहाँ शिक्षक का कार्य समाप्त होता है, वहाँ से सद्‌गुरु के कार्य का प्रारंभ होता है ।

भावनाएँ, प्रेरणाएँ, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, संस्कार, सुप्त मानस आदि में जो बुरी आदतें गले में घंटी की तरह लटकतीं रहा करती हैं, साधक के आत्मिक विकास को रोकती है । सद्‌गुरु उन सभी को दूर कर अथवा शुद्ध कर, आत्मस्थिति लाने में साधक के प्रयास को सहायता करते हैं । गुरु का कार्य मात्र बोध देना नहीं, परन्तु साधक की सुषुप्त शक्तिओं को प्रगट करके जाग्रत करने में मददरूप होना है ।

ऐसे अति सूक्ष्म कार्य के लिए प्राकृतिक रूप से साधन भी सूक्ष्म होते हैं । यह साधन इतना सूक्ष्म होता है कि साधक को शुरु में तो पता भी नहीं चलता है कि स्वयं गुरु के प्रभाव में परिवर्तित होता जा रहा है । अलबत्ता, इस विद्या में वाणी बिलकुल वर्ज्य नहीं है, परन्तु सूक्ष्म संबंध से उपदेशात्मक वाणी कम असरकारक होती है और इससे उसका उपयोग भी कम किया जाता है । ऐसे ही किसी कारण से सद्‌गुरु और संत अनेक बार निष्क्रिय अथवा बिलकुल स्थगित जैसे दीखते हैं, और वे केवल जगत के आंदोलनों के प्रति ही नहीं, पर जिन्होंने उन्हें मार्गदर्शन के लिए स्वीकार्य किया हो उनके प्रति भी सचमुच तो जगत या वे साधक भले न जानें, तब भी वे तो सूक्ष्म

और अदृश्य रूप से खूब ही प्रवृत्तिशील उनके हित के कारण बने ही रहा करते हैं। वे वाणी द्वारा उपदेश दें या न दें, साधकों को समीप रखें या दूर रखें, तो भी आध्यात्मिक शक्ति के आंदोलन वे सतत बहाया करते ही रहते हैं। ऐसे आंदोलन साधकों के व्यक्तित्व में अन्तस्तल में प्रवेशकर उनका परिवर्तन करने लगते हैं। साधक की निद्रावस्था के समय जब उसके आंतरसत्त्व को पहुँचना कुछ अधिक सुगम होता है, तब भी सद्गुरु ऐसे आंदोलनों का उपयोग कितनी ही बार करते होते हैं।

साधक के आंतर्-मंथन तथा उसके समक्ष उपस्थित होती पहेलियों का ज्ञान गुरु को होने से, वे उन पहेलियों का हल कभी-कभी बात-बात में तीसरे व्यक्ति के साथ बात करते ही दे देते हैं। साधक को इसकारण खूब जाग्रत रहने की आवश्यकता होती है और उसकी सजगता को प्रशिक्षण भी मिलता रहता है। कितनी ही बार कड़वे अनुभवों द्वारा सीख देने की गुरु की अप्रत्यक्ष रूप से निर्दय पद्धति में सच्ची करुणा, समझ और प्रेम समाया हुआ होता है। ऐसा साधक को भान होता है और अपने एकमात्र सच्चे और प्रेमपूर्ण हितकारी को वह भ्रमवश मन में दोष देता था ऐसा भान होने पर वह गुरु के प्रति अधिक आकर्षित होता है। अब उसे सूझता है कि कठिन संयोगों में जानबूझकर उसे रखा गया, तभी उसके अंदर की दबी शक्ति उभरकर आयी और लाभ हुआ। गहरे पानी में धकेलनेवाले भी गुरु और हाथपैर मारकर किनारे पहुँचने के उसके प्रयास में गुप्त सहायता करनेवाले भी गुरु हैं; कितनी ही बार सांसारिक कार्यों का लगभग असह्य बोझ डालकर गुरु उसकी प्रगति रौंदता अथवा पीछेहठ करवा रहे हैं लगता है; परन्तु उसमें भी अंत में कल्याणकारी परिणाम साधक अनुभव करता है। श्रद्धा की कठिन कसौटी हो ऐसे कार्य भी बताये

जाते हैं । ऐसी सभी प्रवृत्तिओं द्वारा सद्‌गुरु का हेतु अपने साथ साधक की चेतना की साँकल दृढ़ और अटूट होने लगे यह भी होता है । कितनी ही बार गर्भित, सूक्ष्म द्विअर्थी या अनेकार्थी वाणी का भी अवलंबन साधक की सूक्ष्मता, सजगता और विवेकशक्ति के विकास के लिए उपयोग में ली जाती है ।

प्रारंभ के साधक को अनेक बार अनुभव होता है कि गुरु उसकी योग्य और अयोग्य ऐसी बहुत सी इच्छाओं को पूरी करता है और गुरु को इससे अनेक बार बहुत सहन करना भी पड़ता है तो उसे वह अपना प्रारब्ध भोगते जाते हैं, ऐसा जानकर वैसा सब होने देते हैं । जब साधक को इसकी जानकारी होती है, तब उसका गुरु के प्रति प्रेम का फुवारा वेग से फूट निकलता है । प्रारंभ में साधक को पता नहीं होता कि स्वयं में किसी सूक्ष्म असर के फल से निर्माण होता जाता है । उस समय दुःखद लगते अनुभव भी उसे होंगे; परन्तु ऐसे विषम संयोगों को भी वह यदि आनंदपूर्वक स्वीकार कर लेता है तो प्रगति शीघ्र होती है । कोई भी एक बार गुरु अपनी दिव्य चेतनाशक्ति का सहज परचा भी साधक को बताता है– जिसे साधक चमत्कार की तरह गिनता है– और उस साधन द्वारा भी साधक को अपने प्रति आकर्षण में प्रेरित करता है । कितनी ही बार आघात देकर भी उसके मन, प्राण, बुद्धि को उत्तेजित कर अपनी ओर करता है । जैसे माँ अपने बालक को कई बार हँसाती है, कई बार बहलाती है, दुलारती है तो कई बार रुलाती है ओर कई बार उस पर गुस्सा भी करती है वैसे गुरु भी साधक के साथ व्यवहार करता है– परन्तु माँ की तरह प्रकृतिवश होकर नहीं किन्तु सभान-सज्ञानतापूर्वक-प्रकृति पर के स्वामित्व के साथ हेतुपूर्वक । साधक की प्रगति जैसे-जैसे होती जाती है वैसे-वैसे उसे प्रतीति होती जाती है कि गुरु का मार्गदर्शन और व्यवहार किसी भी पहले किये गये

विचार से प्रेरित नहीं पर सहज और स्वतः स्फूर्त होते हैं और उनके एक-एक कार्य, वाणी और हावभाव में गूढ़ हेतु समाया होता है । ऐसे किसी प्रकार का मत या सिद्धान्त नहीं होता कि जो गुरु का गिना जाय अपना निजी । वह तो पल-पल बदलती परिस्थिति और व्यक्ति-साधक के योग्य जिस प्रकार उस समय भाव और व्यवहार होने चाहिए वे तटस्थतापूर्वक रखते हैं । उनका आज का व्यवहार कल से बिलकुल भिन्न प्रकार का भी हो सकता है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १६४ से १७३)

* *

ज्ञान की कक्षा में आने से पहले उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अपने स्वयं के प्रति जैसा सख्त और निष्ठुर सद्गुरु बने होते हैं, वैसा ही निर्दय उस साधक के प्रति भी समय आने पर जरूर होते हैं । प्रत्येक साधक के साथ वापिस उसी अनुसार ही व्यवहार करेंगे ऐसा भी नहीं । कौन से साधक की प्रकृति कैसी है और उसके अपने साथ का कर्म-प्रारब्ध के संयोग कैसे हैं, उसकी उन्हें जानकारी होने से साधक-साधक के साथ योग्य समय में उस-उस साधक के कल्याण के लिए ही उनका ऐसा व्यवहार होता है । प्रारंभ में और अनेक बार तो लंबे समय तक भी साधक ऐसा व्यवहार समझ नहीं पाता और इससे गुरु के प्रति वह क्रोध भी करता है या मन में अन्यथा भी सोचता है; परन्तु इससे तो साधक का अपना ही नुकसान होता है । साधक को कैसा भी दुःख या कष्ट हो तब भी जरूरत होने पर जो कुछ योग्य करना होगा उसे करने से गुरु हिचकिचाएँगे नहीं । जहाँ तक ऐसा निर्माण और चुनाई की क्रिया को साधक दुःख और कष्ट गिना करेगा, वहाँ तक उसे संताप और क्लेश रहा करेगा ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ९१)

* *

एक ही गुरु को साधक अलग-अलग तरह से अनुभव करते हैं । एक साधक को वे व्यवस्थित, संभालवाले, निश्चिततावाले, स्मृतिवाले, ऐसे-ऐसे प्रकार के दीखते हैं । दूसरा साधक उन्हें दूसरी तरह के अनुभववाले के रूप में निश्चयपूर्वक वैसा जानता है । तीसरे प्रकार के **जीव** के साथ वे तीसरे ही रूप में मालूम पड़ते हैं । ऐसे वे अनेक के साथ अलग-अलग दीखते हैं और वैसा उन्हें अनुभव होता है; इससे किसी को वैसी किसी की बतलायी सच्चाई में भेद मानने जैसा नहीं है । अपने आपको हुए अनुभव अपने स्थान पर यथार्थ होना पूरा संभव रहता है ।

* *

सभी के साथ मेरा एक जैसा व्यवहार नहीं होता है । किसी के साथ व्यावहारिक रीति का होता है तो किसी के साथ इससे बिलकुल उल्टा । ऐसी स्थिति में मेरी तुलना करे तो मेरा व्यवहार समझ में न आये ऐसा हो सकता है । जिसे 'वदतोव्याघात' कहते हैं उसके जैसा परस्पर मेल भी न खाये । उसे कितने ही दंभ भी कह सकते हैं; पर मुझे इसकी कोई चिंता नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक आचरण कहाँ रखे और कहाँ न रखे इसका मुझे प्रभुकृपा से विवेक है । इसलिए तुम्हारी—साधक की—बात में मुझ से व्यावहारिक वर्तन हो नहीं पाएगा । ('जीवनपगथी', आ. २, पृ. ६५)

* *

जीव तो हमेशा पार्थिवता की ही पकड़ में रहकर, उसकी चौकठ में जकड़कर सभी कुछ सोचता होता है । गुरु की सलाह से उसे प्रत्यक्ष गैरलाभ भी होता दीखता है— ऐसा भी हो— तब भी गुरु का हेतु तो उसके जीवन के कल्याण के लिए होता है । इसलिए ऐसों का कहना

यदि मात्र अपने आंतरिक जीवनविकास की भूमिका पर से और मात्र अंतर्मुखता के माप से, तटस्थ सात्त्विकता से यदि ग्रहण करना हो सके तो इससे पैदा होती प्रत्येक स्थिति में मानव की दृष्टि, वृत्ति और भाव जीवनविकास के प्रति रहा करने में प्रेरणारूप से चमचमाता रहा करे । जिस संत के समागम में हम आये हों और जिसकी अतिमानवता के दर्शन और अनुभव हमें हृदय से हुए हों और फिर कोई ऐसे किसी के कुछ विषय में हमें उलझन हो, तो उसके वैसे अतिमानवता के दर्शन और हमें उसके हुए अनुभवों के दृढ़ ख्याल से, वैसे उनके 'कुछ' का हमारे जीवन विषयक क्या हेतु हो सकता है, ऐसा तटस्थतापूर्वक का पृथक्करण ज्ञानपूर्वक यदि किया जाय, तो उसका कोई दिव्य हेतु समझे बिना नहीं रहेगा । अतिमानवता के दर्शन और अनुभव जिसके विषय में हमें सचमुच हुए हों, उसके विषय में कुछ भी डगमग न हो और जिसके विषय में बुद्धि भी वह कबूल करती हो, तो वैसा व्यक्ति कभी पार्थिवताबद्ध जीवनवाला नहीं हो सकता है । जैसे विज्ञानशास्त्र में कुछ भी जैसे-तैसे स्वीकार नहीं किया जाता, उससे भी विशेष रूप से इसमें उसके योग्य प्रमाण और लक्षण होते हैं । कहाँ तो ऐसा संभव है कि ऐसे की अतिमानवता के दर्शन या अनुभव करने में हमारी मात्र बिलकुल अंधश्रद्धा हो, तो फिर अलग बात है । परन्तु जिसका अनुभव कोरा प्रमाणभूत सत्य के आधार पर, प्रत्यक्ष आँख से, बुद्धि और मन से प्रत्यक्ष हुआ हो और यह ठोस सत्य हो, तो फिर उसके विषय में कुछ सोचने से पहले अपने विषय में ही साधक को गहराई में सोचने का लक्ष्य देना योग्य लगता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १५७-५८)

* *

मुझ (गुरु) में तो कुछ नहीं । जो कुछ तुम्हें लाभ मिला करेगा वह तुम्हारे होते जाते विकास विषयक तथा तुम से प्राप्त सक्रिय साथ के कारण इस **जीव** से जो कुछ बना करेगा; क्योंकि स्वतंत्ररूप से तो मुझे कुछ भी करने जैसा प्रभुकृपा से रहता नहीं है । स्वतंत्ररूप से कहीं किसी में इस **जीव** को पिरोने जैसा रहता ही नहीं है । सभी कुछ Relatively– सापेक्षरूप से – रहा करते हैं ।

मकड़ी को चढ़ने के लिए आधार भूमिका रूप सूक्ष्म से सूक्ष्म तार की भी आवश्यकता रहती है वैसा ही मेरा है ।

* *

शिल्पी-छेनी जैसा प्रेम

(अनुष्टुप)

शिल्पी की छेनी जैसा प्रेम होना चाहिए हृदय में,
आकार योग्य पाएगा भाव को वैसा प्रेम से ।

काल की तरह क्रूर मूर्ति निर्माण के समय में,
सूक्ष्म को आकार देने हाथ उनका मृदु हो ।

जैसा काम, हृदय से भावना वह धरेगा,
भाव केन्द्रित रख वे प्राणत्व लाए काम में ।

दुलार काम न आये वृत्ति को ऐसे कभी,
छेनी-प्रेम से वृत्ति नित्य योग्य निर्माण करें ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ८२-८३)

* *

पीछे क्या पड़ता प्रेम, पीछा न छोड़ देता,
प्रेम वह चिंता कहाँ किसकी जरा भी रखे ।

मर्यादा बांधने योग्य वहाँ बांधे खुशी चाहे,
स्वयं आचरित करे स्वयंभू प्रेरणा से ।

* *

संवादी गूढ़ तत्त्व

(अनुष्टुप)

बाजारू-प्रेम सब कोई जग में क्रय करे,
वरने की हो तमन्ना **प्रेम** किसी को ही वरे ।

प्रेम प्राप्त करने को प्रेम सारा पड़े देना,
पहले प्रेम देना जानो, प्रेम फिर चाहना ।

प्रेम-जीवन यह प्रश्न अंतर वृत्ति-मेल का,
अंतर में वृत्ति के मेल साधे वह, प्रेम पाये ।

संवादी जो रहता है विश्व में गूढ़ तत्त्व वह,
प्रेम द्वारा जन उसे खोजने मथे दिल से ।

बीज रूप रहा जो संवादी तत्त्व सर्व में,
खोज जो सकेगा गहरा, फलित हो हेतु ध्येय में ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ८३)

* *

गुरु और साधक

साधक एक समय अपने जीवन में गुरु की आवश्यकता स्वीकार कर लेता है, उसके बाद उसे उनकी महत्ता समझे बिना नहीं रहती । उसे समझ में आता जाता है कि **गुरु अर्थात् विश्व की प्रत्येक वस्तु का कोई परम चेतनाशक्ति के साथ किसलिए और किस तरह जुड़ना होता है, उसे समझनेवाली ज्ञान-शक्ति ।** मानव-जीवन का क्या रहस्य है, किसलिए हमें जन्म मिला है, जीवन का क्या उद्देश्य है, उसके साथ जगत का क्या संबंध है, इन सब की

क्रमशः समझ जिनकी चेतनाशक्ति द्वारा स्वयं में प्रकट होती जाती है वह चेतनाशक्ति ।

इसतरह जिस साधक को गुरु की महत्ता समझ में आती है, वह जीवन में नया-नया सीखता जाता है और धीरे-धीरे फिर गुरु के समीप आता जाता है । प्रारंभ में साधक को गुरु की स्थूल निकटता की आवश्यकता अधिक लगती है, तब भी योग्य गुरु तो उस साधक को आवश्यकतानुसार ही पास रहने देगा । आवश्यकता से अधिक रहना, उस साधक में गुरु के प्रति जो योग्य समझ या आदरवृत्ति जन्मी है या जन्म लेती जाएगी उसके लिए लाभकारक न भी हो । गुरु तो साधक के आधार में बीज रोपकर, अदृश्य रूप से अपना भाव आवश्यकतानुसार रखकर तटस्थता से देखा करते हैं । साधक जब गुरु के समीप होता है, तब गुरु ऐसे कई प्रसंग खड़े करते हैं कि जिससे साधक का मन गुरु में आकर्षित रहा करे ।

जो साधक अपने पुराने मंतव्य, समझ, अपेक्षा, उलझन, आग्रह आदि रखा करता होगा, उसे उन सभी में से छुड़वाने गुरु कोई न कोई सूक्ष्म प्रयत्न किया करता होता है– कई बार आघात देकर भी । इससे साधक को अंतर में विरोध भी जागता रहता है । परस्पर दो विरोधी बलों के संघर्ष के कारण ऐसा होगा ही । गुरु का भाव साधक की प्रत्येक स्थिति में साथ रहा करता है ।

जिस साधक को अपने जीवन के उद्देश्य की समझ अभी तक ठीक से नहीं आई या उसके महत्त्व को पूरी तरह अंतर में नहीं बसाया है, ऐसा साधक गुरु को यथार्थ रूप से समझ नहीं सकता; इतना ही नहीं पर अपनी अधूरी समझ अनुसार गुरु विषयक मत बांधकर उन्हें अन्याय भी करता है । ऐसे भाव से गुरु की निकटता कोई लाभ नहीं

दिला सकती । जो साधक अभिप्राय न बांधकर स्पष्ट रहने को प्रयत्नशील हो और रहे तो लाभ उठा सकता है ।

शायद कर्म-प्रारब्ध संयोग कोई अति निम्न स्तर के साधक के साथ गुरु का संबंध हुआ होगा तो अनेक प्रकार से रगड़ उस साधक के जीवन में उद्‌भवकर उसे ऊँचा लाये बिना गुरु नहीं रहते । इस कार्य की परिपूर्णता के लिए उनके मन में समय का कोई प्रश्न नहीं रहता । उनमें तो अपार धीरज होती है । साधक को अपना स्पष्ट भान जागे ऐसा कराने में वह कुछ भी बाकी नहीं रखते । अलबत्ता, वे साधक के हाथ से ही वह सब होने देते हैं । उसके पीछे के संयोगों में स्वयं खड़े हैं ऐसा ख्याल भी वह साधक को नहीं होने देते हैं । परन्तु साधक जब गुरु का सूक्ष्म हाथ खोज निकालता है, तब उसे अपने जीवन की कृतार्थता होने लगती है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १६ से २१)

* *

गुरु सामीप्य बेला में अलग-अलग प्रकृति के अनेक मनुष्यों के साथ गुरु के व्यवहार में साधक की जीवनदृष्टि के अभाव से दंभ, दिखावा, आडंबर, अहंभाव, क्रोध इसतरह प्रकृति की अलग-अलग अनेक वृत्तियाँ दिखा करती हैं । गुरु अपना प्रभाव, ओज, महत्ता, शक्ति आदि साधक के दिल में बलात मानो ठुसाना चाहते हैं ऐसा भी साधक कल्पना करे बिना नहीं रह सकता । ऐसे सभी साधकों के मनोभावों को गुरु स्पष्ट रूप से जान जाते हैं; तब भी अपने व्यवहार का योग्य खुलासा गुरु क्वचित् ही करते हैं । उल्टे अपने को उल्टा आसानी से समझने देते हैं । उन्हें धीरज होती है कि साधक जो साधना को ही महत्त्व दिया करेगा तो आज नहीं तो कल, योग्य रूप में साधक को समझ में आये बिना नहीं रहेगा ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २२)

* *

किसी को भी उनके लेखन या उनके पत्रों के अध्ययन से या उनके तत्त्वज्ञान की समझ से भी हम पूरी तरह समझ नहीं पाएँगे । इसके लिए उनका निकट सहवास जरूरी भले हो, तब भी वह पर्याप्त नहीं । निरन्तर एकसा जीवनविकासक अध्ययन और हृदय की भावना से किया सहवास; इसके अलावा उनका हृदय समझने और उनके जीवन की समग्र, लगातार और सर्वतोमुखी, विचारसरणी, भावसरणी और जीवनसरणी का भवन किस नींव पर खड़ा है उसे जानने, समझने और अनुभव करने हमारा नम्रभाव से, जिज्ञासुभाव से, हृदय का सत् प्रयत्न होगा तभी उनका जीवन-मूल हमें शायद हाथ लगेगा । और यदि हाथ लगे तब भी वह पूरीतरह तो नहीं ही । इससे साधक अपने में होते परिवर्तनों को सत्य हकीकत के रूप में अनुभव करेगा, तब उसके दिल में गुरु की परम महत्ता और उपयोगिता का अधिक से अधिक सूक्ष्म स्फोट हृदय से होता जाएगा । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ५२-५३)

* *

गुरु का सामीप्य योग्य और फलदायी उतने ही प्रमाण में गिन सकते हैं कि जितने प्रमाण में साधक का समग्र जीवन उसकी चेतनाशक्ति के साथ जुड़ता जाय और उसका दैवी लाभ उठाते जाँय । साधक को स्वयं ही इस विषय में सजग रहकर अपनी निम्न प्रकृतिओं के विकृत भावों को सतत इन्कार करते हुए मंथन करते रहना है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २७)

* *

जो समझ या प्रेरणा साधक को मिले, वह साधक को रचनात्मक सहाय और वेग देनेवाली हो, उसकी असर को दूसरी ओर न ले जाँय उस विषय में साधक को सूक्ष्म जाग्रत विवेक रखना होगा । क्योंकि जिस चेतनाशक्ति के साथ हमारा संबंध हुआ है, वह चेतनाशक्ति

व्यक्त रूप से शुद्ध रूप में सरलता से हमारे साथ काम नहीं लेती होती है । हमें वह कभी दूसरा भी दिखाये और उस समय हमारी पूरी कसौटी हो जाना भी संभव रहता है । इसीकारण साधक कभी भी विवेकशक्ति का उपयोग न करें या बुद्धि का उपयोग न करें ऐसा मान लेना ठीक नहीं है । हम में पूरी समझ, तुलनात्मक बुद्धि और शक्ति, प्रत्येक परिस्थिति में हमारा क्या धर्म है, उसे समझने की सहजशक्ति, उलझनों को तुरत सुलझाने की अंतरस्फुरणा– ऐसा सब हम में अंकुरित करने के लिए गुरु की चेतनाशक्ति है । हमें यह शक्ति पराधीन नहीं रखना चाहती; पर अपने जैसी ही चेतनाशक्तिवाला बनाना चाहती है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ३२-३३)

* *

फिर, अनेक बार गुरु जैसा होता जाता है वैसा शांति से होने देते हैं । वे कुछ भी बलपूर्वक नहीं लाद सकते । वे भी उसकी वैसी भूमिका मांग लेते होते हैं । समष्टि और व्यक्ति की रचना में और चलन में इस जगत में रहती महान आत्माएँ साक्षीवत् ही रहती हैं । फिर साधक गुरु को पूरीतरह हृदय से स्वीकार भी नहीं कर पाया होता । शायद मान लें कि गुरु उसे चलाना चाहे तो भी वह **जीव** उसे समझ ही न पाएगा, उनके भाव की तरह वह चल भी न पाएगा । गुरु के आघात- प्रत्याघात स्वीकार करना यह सरल नहीं है । अरे ! स्वीकार करना तो एक तरफ रखें पर सहन करना भी अटपटा है । साधक की कक्षा जब तक **जीव**भाव में होती है, तब तक वैसा **जीव** गुरु की भावना, चेतना और उसके योग्य प्रकार के यथार्थ रूप को समग्र और लगातार समझ पाने में समर्थ नहीं हो सकता । गुरु की जाग चुकी चेतनाशक्ति की प्रतीति और अनुभव **जीव** को अनेक बार होने पर साधक **जीव**दशा में है, वहाँ तक वैसी आत्मा की योग्यता में उसे

डगमगाती जागे बिना नहीं रह सकती । **जीव**स्वभाव में जकड़ रखने के लिए हमारी प्रकृति हमें अनेक स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप से कुछ-कुछ बतलाकर या अमुक हमारी वैसी दशा में 'यथार्थ रूप' दिखे वैसा दिखलाते हुए मन को उसमें एकराग होने रोकने में वह सारे ही जी तोड़ प्रयत्न करती ही रहेगी ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १२३ से १२५)

* *

जहाँ तक साधक का संपूर्ण भाव एकराग रूप गुरु में सर्वभाव और सर्वरूप शरणागति की जागृत भावना में पूरी तरह न हो पाया हो, वहाँ तक गुरु भी बेचारा पूरी तरह से लाचार होते हैं । उनकी लाचारी का तो पार नहीं होता है । ऐसे उनके दर्द को कौन पहचान सकता है या कौन अनुभव कर सकता है ? गुरु तो मुरदा जैसे हैं । उन्हें जीवित रखो तो जीएगें और मुरदा जैसा रखो तो वह वैसे भी आराम से पड़े रहेगे । वे जीवित भी हमारे आधार पर ही हो सकेंगे । गुरु की भावना हम में सर्व अर्पण भाव से, पूरी तरह समर्पण भाव से और केन्द्रित रूप से चैतन्य रूप में हमारे आधार के एक एक करण में न बन जाय तब तक गुरु भी असहाय होते हैं । गुरु में हमारा पूरी तरह हृदय से हृदय में एकराग हो जाना—उनमें से स्वीकार करने की भूमिका योग्यरूप से होने के लिए—अतिआवश्यक है । ऐसा हो सके तो ही योग्य गुरु योग्य साधक को उसके उपयुक्त ढंग से चला सकते हैं । ऐसा इसका विज्ञानशास्त्र है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १२५-२६-२७)

* *

जिसे हम गुरु मानते हैं, उनकी चेतनाशक्ति को कितने समय तक हमारे आधार, व्यवहार, संबंध, विचार, भावना, कर्म में मूर्तिमंत करते होंगे ? हृदय की शुद्ध निर्मल भावना से उनका पूरा प्रयोग तो करो ! उन्हें तुम्हारे आधार में काम कर देने की अनुकूलता तो कर दो ! तुम्हारा भरा खाली करके उन्हें ही जहाँ तहाँ सभी स्थान तो दो ! और फिर देखो ! मदद खड़ी है कि नहीं ?

* *

गुरु के प्रति साधक और श्रेयार्थी का धर्म

उनकी प्रत्येक सूचना नम्रता, संपूर्ण भक्तिभाव से, कोई भी आशा अपेक्षा रखे बिना, हमारे स्वयं के ही कल्याण के लिए यह सब है यों समझकर और उस समय उस सूचना से दूसरा विचार आये बिना उन सूचनाओं का हृदयपूर्वक आचरण करना रखें ।

गुरु विषयक कोई घटना या उनकी ओर से चाहे किसी भी प्रकार की उनकी तरफ से कठोर प्रसंग-कसौटी में, मन-बुद्धि से समझ न आये ऐसी बेला में भी मन में व्याकुलता, उद्वेग या दूसरी वृत्ति न जाग पाए ऐसी दशा मन की रहा करे और मन में किसी प्रकार के दूसरे ख्याल न जाग सकें तो अपने मन को जीवन के रचनात्मक रूप में जागृत रखने, यह एक सुंदर उत्तम प्रकार का प्रशिक्षण होगा । सद्‌भाव, भक्ति या आदरभाव जो हमें रखने हैं, वे हमें अपने ही जीवनविकास के लिए करने हैं ।

व्यावहारिक क्षेत्र की तरह आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जहाँ तक हमें उस क्षेत्र का ज्ञान, समझ या अनुभव नहीं है, वहाँ तक उसे (गुरु को) हम उचित तरह नहीं समझ सकेंगे । इससे उस सम्बन्ध में हम किसी भी विषय में मन बड़ा रख सकें वह हमारे लिए उत्तम है ।

* *

गुरु भी साधनरूप हैं। उसका महत्त्व हो तो वह साधन तक ही सीमित है। उसे—उस साधन को—उपयुक्त और आवश्यक अनुरूप और योग्य महत्त्व हो उतना ही हमें देना है। उससे कम भी नहीं और अधिक भी नहीं। अधिक देने पर साधन में ही हम उलझ जाँय संभव है और कम देने पर साधन का पूरीतरह लाभ नहीं उठा पाते हैं। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १९२-९३)

* *

हमारा प्रेम वे (गुरु) माँगते हैं, वह हमारे लिए माँगते हैं। जितना अधिक दिया जाय उतना हमारा ही श्रेय है। हमारे प्रेम द्वारा अपने काम में वे हमें सहयोगी बनाते हैं। उन्हें हमारे में काम कर पाने हम में भूमिका रचने हेतु वे माँगते हैं।

* *

साधक को किसी भी प्रकार का संकोच या अंतर गुरु और अपने बीच नहीं रखना चाहिए। ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २६)

* *

अपने मार्गदर्शक के प्रति अश्रद्धा या असद्भाव मन का या अन्य किसका एक भी तरंग-लहर न उठे यह देखने का और उठे तो उसका तत्क्षण इन्कार करने का साधक का कार्य होना चाहिए।

* *

गुरु और साधक

(अनुष्टुप)

विकासार्थ आधार ही साधन मात्र तो गुरु,
परिवर्तन लाने को योग्य रूप लेते जायँ।

सर्वश्रेष्ठ प्रभुभाव तौल में आये न कोई,
गुरु सीढ़ी रूप मथो यदि चढ़ना है ऊँचे ।

बारी भोगने की आये गुरु को इससे तो अति,
प्रेम यदि हो गुरु के प्रति वैसा निमित्त हम,
—उसे भोगने के लिए न होने चाहिए ।

आलंबन लिया है तब भी, लिया जैसा न वह ,
उसका भान न रहे क्या कर सकता वह ?

उद्‌भवित हृदय से चेतना-शक्ति की कला,
लिया आश्रय जिसका उस हेतु क्यों न खर्चें !

'सब कर देगा कोई' मिथ्या यह भ्रमणा सही !
प्रत्यक्ष सहाय, यदि स्वयं सही रीत से मंथन करें ।

हम एक तरफ का पूरा न देख सकते,
उसमें दूजों का माप कैसे निकाल पायें ?

अपना माप स्वयं तो निकाल सकते नहीं,
अधिक सयाना बन कर क्यों दूसरों को मापें फिर ?

मापते हुए स्वयं का माप निकला करेगा,
माप सको हृदय को उसे किस तरह से ?

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८१, ८२, ८३, ११३)

* *

दिल को चीरते हुए कभी विचार आता है,
रोक सकने चित्त वहाँ, भाव उपयोग में लो ।

विचारों के तूफान में कभी उड़ जाना नहीं,
स्थिर रहें तब दिल उल्टे वेग से बहुत ।
श्रद्धा, विश्वास व प्रेम गहरा आदर-भाव,
नम्रता की तमन्ना ही सभी रखें शरण में ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १६)

* *

भक्ति एवं प्रेम देना स्वयं के लिए तो नहीं,
हमारे विकासार्थ दें यदि शुभ चाहकर ।
जिस आधार से स्वयं चाहा है चढ़ना ऊँचे,
चिंतन न किया कुछ उस का आधार लेने ।
उसकी स्मृति कर्मों में जाग के गहन न की,
खड़ा पीछे सदा वह तो ऐसी न धारणा हृदय में ।
स्मृति कोई समय उठी उसमें न प्राण कोई,
किस रीत से फिर आये बरकत कहीं काम में ?
'हमारे इशारे नाचे, हमारे इशारे द्वारा,
गुरु सब करें' ऐसा मानव क्यों चाहा करे !
उसे चलाने के लिए अपनी मान्यता द्वारा,
सदा वह मानवी माने कैसा पामर मूढ़ वह !

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १११-१२, २०३)

* *

(शिखरिणी-मंदाक्रांता)

तुम्हारे इशारे प्रभु को नचाना छोड़ दें
इशारे उस से जीवन रचने भाव-प्रेरित करें ।
गूंदाती है मिट्टी कण कण पात्र-आकार देने योग्य
बनते है तब वे, पर वैसा होना किसे पसंद ?

कहा हुआ जो कुछ भी कर ना सको तुम उमंग से,
अधिक की आशा भला कैसे रखूँ किस तरह से ?
जरा भी पूर्ण स्वरूप निज का जान नहीं सकते तो,
दावा बड़ा क्यों करते न गले उतरता वह ।
बड़ा होना सभी जन चाहते, किन्तु वैसा निर्माण हो,
पड़े कैसी-कैसी विषम मार ! वह सहन न होती ।
सहन करना कहीं दूर रहा, दूर कहीं भागते !
फिर किस रीति प्रभु गढ़ सकें सोचें उसे उर में ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३०३)

* *

(अनुष्टुप)

प्रेम में मिल न सको तो कहाँ अन्य जाओगे ?
'प्रेम' ये भावना सूक्ष्म भले ही व्यक्ति में हो ।
विलीन होने की जिसमें आतुरता गहरी,
होना विलीन जिसमें रखो जड़कर उसे तो ।
साधना में न खपता परम्परागत कहीं,
वह मौलिकता चाहती है प्राणचेतना भरी ।
प्रेम को जानने वास्ते स्वयं प्रेम होना पड़े,
प्रेम होने पर स्वयं सारे काम होते कैसे !
प्रेम पैदा करे शक्ति दिल-दिल से निभाएगा,
माधुर्य भाव पैदा कर आत्मा की पहचान दे ।
प्रेम में किसी वृत्ति की छाया न आनी चाहिए,
प्रेम तो प्रेम के लिए हो वहाँ शुद्ध भाव से ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ७७, ९७, १०४, १७८)

* *

(शार्दूलविक्रीडित)

जो प्रेम से भरी स्निग्धता हृदय की और आर्द्रता, आर्तता,
वह प्रेम-लिप्त एकरस हो जन्मे क्या माधुर्य वहाँ !
सभी रागात्मक वृत्तियाँ सरकते प्रेम जन्मा करे,
वैसा जीवन, दृष्टि, वृत्ति- भाव ऐसा होने दो दिल से ।

* *

चमत्कार

चमत्कार देखने जाँय तो हरपल मिलेंगे, ऐसे हैं । चमत्कार विषयक समझ समाज में जो व्याप्त है, वह ज्ञान का द्योतक नहीं है । हमारे स्वयं के ही जीवन में **जीव**दशा की कक्षा में भी कितनी ही बार परिवर्तन आते रहते हैं; वे क्या चमत्कार नहीं ? जीवन की वृत्ति में कितनी ही बार एकदम बदलाव आता है; क्या यह चमत्कार नहीं है ? जड़ प्रकार के मनुष्य में चेतना आती है और वह नया अवतार धारण करता है; ऐसे अनेक प्रकार के विविध चमत्कार जीवन में चाहिए उतने मिल जाते हैं । सचमुच तो हमारे करणों की पूर्ण शुद्धि होकर हम पूर्ण निरहंकारी, कामनारहित, द्वन्द्वातीत, गुणातीत आदि सारा प्रभुकृपा से हो पाएँगे; यही हमारे लिए सही चमत्कार है । हमें तो इस चमत्कार की चाहना रखनी चाहिए ।

('जीवन संशोधन', आ. १, पृ. २६८-६९)

* *

साधक के दिल अथवा उसके हृदय को अचानक आघात देने के लिए, यानी कि उसके जीवनभाव में परिवर्तन लाने के लिए, प्रेरणात्मक भावनायुक्त योग्य चमत्कार का स्थान रहता है सही । साधनामार्ग में योग्य चमत्कार का स्थान है; परन्तु ऐसे चमत्कार पर यदि हमारी श्रद्धा और विश्वास न टिका हो और शंका-कुशंका उस

पर हुआ करे तो वह अपना भाव योग्य रूप से नहीं कर पाएगा और उचित फलश्रुति में निष्फल होगा । चमत्कार यह कोई जादू का खेल नहीं है । हड्डी निकल गई हो तब उसे एक सख्त झटका देकर बिठाते हैं, उसी तरह साधक को वैसा अनुभव कभी श्रीभगवान करवाते हैं सही । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५९)

* *

चमत्कार

(अनुष्टुप)

चमत्कार नहीं यह तो व्यक्तव्य शक्ति रूप में,
हुआ करता अपने निमित्त रूप व्यक्ति में ।
आत्म की शक्ति का भाव, उद्‌भव उस रीत,
व्यक्त ऐसे होता रहेगा, कोई गूढ़ रीत वहाँ ।
भले निमित्त वहाँ अन्य शक्ति प्राण स्पर्शार्थ हो,
आत्म-शक्ति का ज्ञान, इस तरह प्रभु दें ।
विस्तार ज्ञान का होने निमित्त भूमिका हृद में,
चाहिए, उतनी देते हैं कृपालु प्रभु उसे ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १२२)

* *

चैतन्य, कर्मों के मूल में

(अनुष्टुप)

जो प्रभुत्व रहा है गूढ़ में गूढ़ जीवन में,
होने प्रागट्य इसमें निमित्त कर्म-साधन ।
चेतना-शक्ति के भाव मूल्यांकन सनातन,
मूल्यांकन सदा सभी, योग्य वे माप-नियम ।

प्रगट होने चैतन्य जो अवस्था सभी मंथित करे,
उसमें सारा आधार रहा कर्म में सदा ही ।

स्वरूप मूर्त चैतन्य देने कर्म सारे मिलें,
कर्म में हेतु व ज्ञान रखें जिससे जीवन में ।

हूबहू प्रतिकृति चेतना की जो नहीं है,
ऐसे कर्म का मूल्य थोड़ा भी जीवन में नहीं ।

चैतन्य-अंतर से सारे कर्म जन्म लेने चाहिए,
कर्म का मूल चैतन्य में रहे ऐसा हमें चाहिए ।

द्वन्द्वादि असरों द्वारा जो भी कर्म हुआ करें,
चेतना-शक्ति प्राबल्य कम कम किया करें ।

रागमोहादि से मुक्त भाव-अर्थ काम सभी,
ज्यों-ज्यों होता जाएगा त्यों चैतन्य वैसे जागेगा ।

आलंबन लिया है जिसका भाव को जगाने,
हृदय में श्वास उसका रखें कृपा से वहाँ ।

प्राणवान स्मृति हृदयस्थ चैतन्यमय हो,
उपजाये बिना भाव वैसी स्मृति न वे रहे ।

मानवी के सारे ही कर्म चैतन्य दबा देता,
कितनी बार कैसे भाव सभी मार डालता ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८७-८८)

* *

जप, नामस्मरण रूढ़रूप से लेने पर भी, कुछ तो फलीभूत होंगे

नाम का सतत स्मरण होना यह कोई सरल बात नहीं है । तुम इतने समय से मन को टोककर स्मरण करते रहते हो तब भी वह भूलता जाता है । किसी भी **जीव** से भगवान का नाम यों ही नहीं लिया जा सकता । सतत भगवान का नाम लेना कोई हँसी-खेल नहीं हैं । इतनी सारी सावधानी, जागृति रखने पर भी नामस्मरण सतत हो नहीं पाता तो रुढ़ि अनुसार कैसे हो पाएगा ? और मानो कि रुढ़ि अनुसार होने पर भी उसका फल बेकार नहीं जाएगा । जैसे कोई किसान बीज बोने से पहले खेत में खाद डालकर उसे जोतकर नरम बनाता है और पीछे से बीज डाले तो, भगवत् कृपारूपी बरसात बरसने पर उससे भरपूर शुभ फल आये बिना नहीं रहता । परन्तु कोई आलसी किसान ठीक से न जोते और न खाद दे और बीज बो डाले तब भी थोड़ा बहुत उगे बिना नहीं रहता । और कुछ नहीं तो पशुओं को खाने के लिए चारा तो होगा ही; इसीप्रकार भगवान का नामस्मरण खेत जोतने की तरह है । यानी कि हमारा मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार ये सभी को नामस्मरण लिया करें उसकी भूमिका उचित बनाएँ तो वैसा मानव प्रत्यक्ष फल अपने जीवन में अनुभव किये बिना नहीं रहता । इसके लिए अत्यन्त, अपार धीरज और बहुत पुरुषार्थ की जरूरत है । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १८१-८२)

* *

जप का उद्‌भव स्थान हृदय है । जप अंततः तो एक भाव ही है । यदि जप हृदय की धड़कन के साथ हम ठीक से किया करें तो ध्यान भी अपनेआप वहाँ रहेगा । यह अभ्यास स्थिर होते जाप हृदय

में से स्वतः रूप से हुआ करेगा और यदि उसमें भाव जोड़ सकें तो धारणा भी रहा करेगी । इस तरह जप, ध्यान और धारणा तीनों ठीक से होंगे ।

किसी के भी स्मरण से साथ भाव तरंग जागने पर या किसी भी मनोभाव का उद्रेक होते उसका सद्उपयोग जाप-भावपूर्वक कर लेने पर हो सकता है ।

जप भावपूर्वक और सात्त्विक तो अंदर से चलता रहे वही अच्छा । पर जैसे आदर्श को एकदम नहीं पा सकते वैसे जिस रास्ते से पहुँचने की संभावना लगती हो उस मार्ग को अपना लेना अच्छा, इसलिए जोर से जाप करो तो कोई आपत्ति नहीं; बादमें क्रमशः मात्र जीभ हिलाकर मन में जप हो सके और अंत में तो अंदर से हृदय से अपनेआप होने लगेगा । जप के ध्येय को यदि भूलेंगे नहीं तो यांत्रिक, जड़ आदत नहीं पड़ेगी । हमारे अर्थ में 'धारणा' यह तो कर्म में से परिणाम लानेवाली असर है । मुख्य तो हृदय की धड़कनों के साथ खूब भावावेश के साथ जप हो, यह आवश्यक है ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ३९, ४०, ४१, १२९-३०)

* *

प्रतिदिन जप बोलते हुए हमारा उत्साह बढ़ते जाना चाहिए । जप का उद्देश्य श्रीभगवान के भाव का सातत्य प्राणवंत निरन्तर रहा करे, उसी के लिए है । जप यह मात्र साधन है । साधन यह तो साध्य का, ध्येय का मिलाप करानेवाला होने से उस दृष्टि से साधन की उतनी महत्ता है । मात्र साधन को जड़रूप से खाली-खाली पकड़कर रखनेवाला कभी ध्येय को नहीं पा सकते । हमें इसीलिए ध्येय को भूलना नहीं है । पर जो **जीव** किसी भी प्रकार का साधन ही नहीं लेना चाहता अथवा जो **जीव** को साधना की भावना की धारणा किसी न किसी प्रकार चेतनवंत नहीं रह सकती, उस **जीव** को ध्येय प्राप्त करने में समय नहीं लगेगा । लगातार

जप भले न हो सके पर जिस उद्देश्य से उसे करना है, उसे दिन के समग्र व्यवहार में अंतर्गत रूप से बनाये रखे तो उसका नाम भी जप है। जप तो स्थूल है; परन्तु उससे उत्पन्न होती भावना ही महत्त्वपूर्ण है।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १९०-९१)

* *

दूसरे कामों में हम लगे हों, तब शरीर से थोड़ा भी अलग पड़ा भाग जैसे कि पैर का अंगूठा, हाथ का अंगूठा या उँगली हिलाये करना और उसके साथ जप यज्ञ करते रहने का अभ्यास उसकी वैसी जीवंत जागृति के साथ करेंगे तो दूसरे काम करते हुए भी अंतर में स्मरणभाव की धारणा अवश्य बनी रहेगी। ऐसी भावना से ज्ञानपूर्वक चलता रहता प्रयोग—चलते, उठते, फिरते, बैठते, दैनिक क्रियाएँ करते हुए—स्मरणभाव की धारणा जीवंत रखने में सरलता रहती है। यद्यपि ऐसा भी अचानक नहीं हो पाएगा। ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३०-३१)

* *

प्रारंभ में मानसिक जप होना संभव नहीं है। मन तो संकल्प-विकल्प कर सकता है; इसके अलावा दूसरी संभावना नहीं। जप की स्मरणभाव की धारणा का लगातार अभ्यास बोल-बोलकर करना है। जब अजपाजप चलता है, तभी मानसिक जप की धारणा रह सकती है। बाकी तो हम मानेंगे कि मन में जप हो रहा है और जप होना कब गायब हो गया होगा, उसका पता भी नहीं चलेगा।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८९)

* *

जप को यज्ञ में गिना गया है। यह एक बड़ा, सहज और सरल साधन है। सामान्य रूप से जप संक्षिप्त से संक्षिप्त हो तो उत्तम। वह जपने में क्लिष्ट न होकर, सरल होना चाहिए। ह्रस्व, मृदु और कठोर न

हो ऐसा (घोष व्यंजन) हो तो अधिक अच्छा । शब्द के तीन स्थान हैं; नाभि, कंठ और ब्रह्मरंध्र । जप ऐसा होना चाहिए कि तीनों का स्पर्श हो । एक एक स्थान पर से जप के प्रत्येक अक्षर का भावपूर्वक हेतु की अटूट धारणा के साथ उच्चारण हो, तो वह साधन अति उत्तम है । जपमंत्र श्वोसोच्छ्वास के साथ अथवा नाड़ी की धड़कन के साथ लें तो उत्तम । जप को यज्ञ कहने का कारण यह है कि यज्ञ में जो भी है सारा होमना होता है ; इसलिए हमें भी मनादि करण का जो भी उभरता हो, वह सभी उसमें प्रार्थना के साथ ज्ञानभक्तिपूर्वक होम करते रहना है ।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३२०-२१)

* *

मंत्र लगातार, निरंतर हृदय से यदि लिया जाता हो तो वैसे मंत्र के उच्चारण से होती धारणा से ज्ञानतंतु प्राणवान (toneup) होते हैं । इससे समता और शांति मिलती है । ऐसी समता और शांति जब ज्ञानतंतुओं में आकर उसकी ऊँचाई पर पहुँचती है, तब वह शरीर के रोग का निवारण करने के लिए शक्तिमान होती है । जप में इस कारण गंगा के प्रवाह जैसी सतत, लगातार, निरन्तरता आये यह बहुत आवश्यक है । इसके सिवा जप पूरीतरह असरकारक नहीं हो सकता । जब जप में ऐसी भावात्मक निरंतरता आती है, तब करणों के प्राकृतिक भाव योग्य रूप से आयें तो वह प्रेरणात्मक होता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३८४)

* *

जप अर्थात् चेतनभाव का सातत्य अखंड रहना । मन को चेतन के प्रति सद्भाव से जिस तरह प्रेरित रख सकते हैं वह जपयज्ञ । मन का स्वभाव जब तक चेतन के प्रति रसार्द्रता और आर्ततावाली भूमिकायुक्त न हो जाय, तब एक वह यद्वातद्वा ही रहा करेगा । इसलिए

हृदय से ऐसे सद्‌भाव में रहने का जितना ज्ञानयुक्त अभ्यास बढ़े उतना उत्तम । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १८७)

* *

नामस्मरण का प्रभाव अपरम्पार है । दिन के समय का अधिक से अधिक समय यदि उसमें दे सकें, हमारी सारी शक्ति के जोड़ का बड़ा भाग उसमें खर्चें, तो भावना की अखंडता भी आएगी । नामस्मरण की भावना जिसके दिल में पैदा होकर, उस के अनुसार जाग्रत होकर, भाव के साथ उसमें तल्लीन होकर यदि उस ओर मुड़ना दिल से बने तो उसे उस मार्ग के प्रति मुड़ सकने की पूरी संभावना रहती है ।

* *

स्थूल रूप से, प्रत्यक्ष रूप से नामस्मरण बिना स्थूल जीवन निभा सकता है; पर प्रभुमय जीवन के लिए नामस्मरण प्राणसमान है । यह न हो तो कुछ नहीं है । अतः ध्यान आदि दूसरे साधनों से भी उसका सविशेष ध्यान रखना है । नामी से भी नाम बढ़कर हो जाता है । **कुछ दिनों तक खाये बिना जी सकते हैं, पर जिसे भगवान की शरण में जाना है, उसे नामस्मरण के बिना एक क्षण भी नहीं चलना चाहिए ।** नामस्मरण यह हमारा एक तरह का जीवन है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २३९-४०)

* *

कोई भी काम करते-करते यदि हमारा भावपूर्वक नामस्मरण चलता रहता हो तो यह काम हम साधना के एक साधन के रूप में ही करते हैं, ऐसी भावना हमारे में गहरी उतरती ही जाय; क्योंकि हमें गहरा भाव तो उस स्मरण के कारण रहे कि हम वह काम करते-करते भगवान की शक्ति का आवाहन जाने-अनजाने करते हैं, इसलिए यह शक्ति थोड़ी बहुत हमारे में उतरती ही है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २४०)

* *

जन्म-मृत्यु के रास

(शार्दूलविक्रीडित)

कैसा रास रचता है पलपल मृत्यु और जन्म का !
उसी चक्रमाला में सरकता विश्व का खेल कैसा !
उसमें **जीव** रमा करे पर उसे सही भान होता नहीं,
कैसे स्वयं बहा करे प्रकृति से, कोई न वहाँ जागे ।

जिसमें प्रभु-भावना स्फूर्ति उन्मुख रहे अंतर में,
जिसमें निज कर्म में स्फुरित रहे भाव वैसा सही,
जिसके छूटते दिखते मन के संकल्प-विकल्प सभी,
ऐसे **जीव** रह सके पलपल वहाँ जागता स्वयं ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. २२३-२४)

* *

क्या क्या रास रचते हैं नयी नयी वृत्ति-परिधि-रच!
क्या ह्रास हो जाते अभिनव सहज ही थोड़ी देर में !
जन्म दे पलक में ही, पलक में कैसी मृत्यु रचते !
तुम्हारी इस चक्रमाला में अमर होने कृपा दो प्रभु !

कैसा प्रेम-स्वरूप दिव्य रसीला क्या मुग्ध रूप रचा!
वे आकर्षण जादू या अभिनव दुर्गा और काली क्या !
लीला-प्रेमकला की जीवन में सर्जित करे सृष्टि क्या !
मृत्यु जन्म हुआ करें हरपल तब भी रही एक क्या !

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १४-१५)

* *

प्रकृति में प्रछन्न प्रभु

(अनुष्टुप)

प्रकृति में प्रभुभाव छिपा सभी में रहता,
प्रकृति अलग लगे तब भी **एक** वहाँ रहा ।

मानव चित्त को भिन्न लगे प्रकृति भले ही,
आती शून्यता चित्त में सत्त्व प्रकृति का मिले ।

प्रकृति-प्रकृति स्वयं अकेली वह न कभी,
प्रकृति में रह कोई उसे चलाता अवश्य ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १४४)

* *

जीवन के ये फरिस्ते हैं

(गजल)

वरद पद **उस** चरणरज में जीवन सफलता पाकर,
लगन लग गयी जिसे सदा मस्तान ऐसे हैं ।

डिगा न सके कोई भ्रमित न कर सके कोई,
अस्वीकार न कर सके जगत की शक्ति जो कोई ।

जगत-जीवन की रक्षा जगत-जीवन का सिंचन,
जगत-जीवन का पोषण मिला इससे जाता निशदिन ।

जीवन के वे सितारे हैं, जीवन के वे मीनार हैं,
जीवन को क्या पीनेवाले वे ! जीवन भी वे पिलानेवाले हैं।

अनादि आदि से ऐसे हरि के जन हुए जो,
जगत-चरणों से ही कुचले जगत-इतिहास ऐसा है ।

हुआ ऐसा पहले भी पड़े कुचलना ऐसों को,
सच ! कुचलकर जीना हुआ पीछे भी पद **उस** को ।

हृदय की दोनों रीति में अलग-अलग जीवन-फेर,
जीवन जो एक से प्रकटता दूसरा उपजाता जीवन ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १०५)

प्रभु का आभार मानें कि प्रभु ने भेजा है,
जीवन के प्रेरणा-बल हैं, जीवन के ये फरिस्ते हैं ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. ४९)

चढ़ा जो सके ऊँचा किसी को भी जरा कुछ,
चढ़ा हुआ जानें उसे प्राण चैतन्य से भरा ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २६)

* *

तथापि जीवन नहीं वहाँ भी

(गजल)

जीवन क्या है ? जीवन कहाँ है ? जीवन किसमें ? बतलाए कोई;
जीवन को कहाँ जाकर ढूँढूँ ? जीवन-पथ को बतलाओ कोई ।

रहने राजमंदिर औ' हवा खाने को उपवन हो,
विचरें विमान से व्योम में तब भी जीवन नहीं वहाँ भी ।

मिले सुख स्वर्ग के भले ही देव हवा झलें,
मिले साम्राज्य भले जग का तब भी जीवन नहीं वहाँ भी ।

भले ही पुत्र-परिवार भरे हो स्वजनों से,
आज्ञांकित तुम्हारे सभी तब भी जीवन नहीं वहाँ भी ।

तुम्हारी कीर्ति गाथा का गायन अखिल विश्व में,
डंका बजे सभी जगह तुम्हारा तब भी जीवन नहीं वहाँ भी।
सकल शास्त्र के ग्रंथ औ' वेद पुराण भी,
अहंभाव से किये कंठस्थ तब भी जीवन नहीं वहाँ भी।
जीवन के तत्त्वज्ञानी ! जीवन को भोगनेवाले !
जीवन को जानने की भला चाबी बता दे कोई ?
मिले कर्म-संजोग सभी संबंधों से रहकर,
हृदय से जो जीये भाव से, जीवन में होता प्रविष्ट।
अन्य जीवों के जीवनरूप खपा डाले स्व जीवन,
महान कोई उच्च आदर्श से वह पचाएगा जीवन !
हृदय की भावनाओं को प्रत्यक्ष करे जो कर्म द्वारा,
रह सके निर्लिप्त तब भी वही पा सकेगा जीवन।
प्राप्त साधन, शक्ति प्रभु के लिए जो खर्चें,
प्रभु के लिए जीये मरे वही जीवन अकेले पाये।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ५५-५६)

* *

जीवन-सौदा

(गजल)

जीवन को प्राप्त करने जीवन को देना पड़ेगा,
ज्यों जीवन दोगे त्यों अधिक उससे मिलेगा।
जीवन-व्यापार करने की प्रभु ने पीढ़ी खोली है,
कुछ दिये बिना सौदा कुछ भी न होनेवाला है।
जीवन को जो फना करेगा जीवन का ख्याल रखकर,
जीवन उसे जरूर मिलेगा जीवन से वह जीवन पाएगा।

'जिस तरह होता रहे निर्माण' सभी साधन प्रभु लेंगे,
सभी सामग्री उसे वह सारी उमंग से देनी पड़ेगी ।

तुला के एक पलड़े में प्रभु ने तो जीवन-तौलने,
—रखा है निज का स्वयं ने, तुम दो जीवन-मूल्य ।

जीवन का तो क्रय होगा जीवन के माप से नित्य,
जीवन से तो जीवन मिलेगा, जीवन की खूबी निश्चय ।

जीवन को संभाले रखें सदा निज स्वार्थ के लिए जो,
जीवन वह प्राप्त नहीं कर पाएगा उपाय कोटि से ।

बातों से न जीवन मिलेगा, लक्ष्मी से जीवन न मिलेगा,
ना बुद्धि से जीवन मिलेगा; जीवन तो भाव से मिलेगा ।

जीवन की सर्व घटनाओं में हृदय का भाव रहता कैसा,
महत्त्व भाव का जैसा जीवन वहाँ समझ पड़ेगा वैसा ।

जीवन बलिदान करने में हृदय जिसे करे स्फुरित भाव,
बलि दे ज्ञानभाव से वही भोगेगा आनंद जीवन का ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ४३, ५७)

* *

जीवन-व्याप्ति प्रभु में है

(गजल)

हृदय से याद करे प्रभु को प्रभु याद करे उसे,
हृदय में संभालेगा प्रभु को प्रभु संभालेंगे उसे ।

प्रभु की पालेगा आज्ञा उसकी आज्ञा प्रभु पालेंगे,
बने प्रभु दास उसके प्रभु का दास जो रहता सदा ।

पुजारी प्रेम का प्रभु है प्रभु तो प्रेम माँगते हैं,
दे देते सारा प्रेम न उससे वे संतुष्ट होते हैं ।

झूठा प्रेम उसे तो कोई काम न आता है,
जो जो लो तुम लो प्रभु को समर्पित करके ।

प्रभु के यज्ञ में जो समर्पण आहुति देते हैं,
चढ़ता है नूर उसे देते प्रभु को वही पाता है ।

प्रभु प्यारा हृदय जिसे सबसे श्रेष्ठ लगता है,
महत्त्व सर्व में उसे प्रथम पंक्ति का उसे देता है ।

प्रभु बिना दूसरा कुछ न उसे कहीं सूझता है,
जीवन-सृष्टि प्रभु के लिए रचा बस खेलता वह है ।

'सारी क्रियाएँ जीवन हृदय की एकात्मभाव से,
प्रभु-हेतु फलितार्थ होती रे व्यक्त', वह भक्ति ।

प्रभु का भक्त ऐसा वह हृदय में प्रभु बिराजता है,
जीवन-माधुर्य रस से पूर्ण कैसा नित्य जीता वह !

जीवन का मध्यबिन्दु और जीवन-त्रिज्या प्रभु में हैं,
जीवन का व्यास भी वह है जीवन व्याप्ति प्रभु में हैं ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १०-११)

* *

प्रकाश से जीये उसे न अंधेरे से भय रहे,
जगत के मानव को क्या अहा ! वह बोध दे दोनों ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. ५०)

* *

यौवन में जीवन-सिद्धि

यौवन खांडे की धार से खेले,
यौवन आज आया कल जाएगा;
यौवन प्रेम-मस्ती में बिताओ,
यौवन आज आया कल जाएगा;
यौवन आत्मा की 'नजर' से देखो,
यौवन आज आया कल जाएगा;
यौवन रस-रंग झूले झूला,
यौवन आज आया कल जाएगा;
यौवन मदमस्त उर में रखो,
यौवन आज आया कल जाएगा;
यौवन में करने का सभी कर डालो,
यौवन आज आया कल जाएगा;
यौवन में जीवन-सिद्धि पाओ,
यौवन आज आया कल जाएगा;

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २९)

* *

गुण दोष मिले दोनों मानव-जीव में सदा,
होने निर्मल, जवानी ऋतु उस वास्ते योग्य वहाँ ।
अंत में जवानी या तो मूर्ख या विवेकी बने,
मानव जो जवानी में मुड़े जिस तरफ ढले उस ओर ।
जोश यौवन खड़ा है, तब तक मात्र जीवन,
जिंदगी के विकासार्थ योग्य कैसा काल यौवन !

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ६२)

ज्ञानेन्द्रियाँ और आसक्ति

आसक्ति कोई न कोई, सूक्ष्म या सूक्ष्मतर रूप से, विद्यमान रहने से मानव **जीव** तो सारी इन्द्रियभोग्य वस्तुएँ विषयक उसे बढ़ाते जाएगा परिणामस्वरूप दुःख ही प्राप्त करेगा । आसक्ति में सूक्ष्म इच्छाओं को पोषने की वृत्ति होती है; इससे **जीव** सदा एक या दूसरी इच्छा को तृप्त करने में ही जीवन बिताता है; परन्तु उसे इसका भान नहीं होता है । हमारी आँख, जीभ, नाक, कान, त्वचा सभी, अरे, इतना ही नहीं, समग्र रूप से जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह भी अकल आसक्ति में खूब मिठास भोगते रहते हैं । यह मिठास इन्द्रियजन्य है और इन्द्रियों के संतोष के लिए है । जब तक **जीव** उसे प्रयत्नपूर्वक पूर्ण अनासक्त न बना सके, उसकी आदत के प्रवाह को न पलटा सके, तब तक वे सभी वस्तुओं के अपने-अपने विषयों में स्वच्छंद रूप से लिप्त रहेगी । अभी तक निर्दोष मानी गई प्रवृत्ति का मूल भी किसी प्रकार की सूक्ष्म आसक्ति में, इन्द्रिय की उपभोग की वृत्ति में था, ऐसा साधक को लगे बिना नहीं रह सकता; इससे उसे यमुना की गति उलटानी है । इन्द्रियों का स्वच्छंद **जीव** का विनाश आमंत्रित करता है । इन्द्रियों के प्रबल रस के परिणाम से तो दुःख ही है, ऐसा कभी-कभी **जीव** को भान होता है, तब भी **जीव** उसमें परवश रूप से घिसटता जाता है । यह निवारण करने संस्कार शुद्धि के समर्थ प्रयास की खूब आवश्यकता रहती है । वह जाग्रत चेतना की शक्ति के बिना होना असंभव है, और इस शक्ति को प्राप्त करने प्रचंड, समर्थ, ज्ञानप्रेमभक्ति-युक्त, जाग्रत और लगातार चलती साधना अनिवार्य है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २३७)

* *

ज्ञानी और अज्ञानी के जीवन-स्वीकार और कर्म के बीच का अंतर

संसार व्यवहार के वर्तन में जिस प्रकार सामान्य **जीव** जीवन को—संसार को स्वीकार कर आचरण करते हैं, उसी तरह ज्ञानी भी उससे भिन्न नहीं होता; उसमें भी जीवन का स्वीकार है। अज्ञानी के आधार—करणों में प्रतिष्ठा **जीव**पन का अहंप्रधान, प्राणप्रधान, मनप्रधान, बुद्धिप्रधान आदि प्रकृतिपन की हैं; जब कि चेतन के अनुभवी के आधार के करणों में ऐसा नहीं होता, परन्तु उन करणों का दिव्य रूपान्तर हो गया होता है; इतना ही मात्र अंतर होता है। बाकी करण तो वही के वही दोनों में होते हैं। दोनों में प्रकृति भी है। अज्ञानी प्रकृति का दास है, ज्ञानी उसका स्वामी है। कर्म भी एक ही प्रकार के दोनों करते दीखते होते हैं पर उसके पीछे के मूल अधिष्ठान की भूमिका में मूलभूत अंतर होता है। एक कर्म अज्ञानी संसारी का हो और वैसा ही कर्म ज्ञानी का हो; उन दोनों कर्मों के बाह्य आकार भले एकसमान हों, तब भी दोनों के मूल्यांकन में, परिणाम में और दोनों की उसके पीछे कार्य करती चेतना और उसके भाव में मूलभूत अंतर होता है। अज्ञानी की प्रकृति के कर्म में भी प्रवेश तो होता जाता है और चेतनाधिष्ठान भूमिका की प्रकृति से होते कर्म में भी प्रवेश तो होता है; दोनों का कारण तो प्रकृति होती है। परन्तु अज्ञानी में प्रकृति कर्ताहर्ता होती है, जबकि ज्ञानी में प्रकृति एकमात्र स्वाधीन करणरूप हो गयी होती है और ज्ञानी स्वयं ही प्रकृति का साक्षी, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और ईश्वर भी है। ऐसे ज्ञानी के कर्मों में **जीव**प्रकार की प्रकृति का जोश नहीं होता। प्रकृति का स्वाधिष्ठान चेतन में होने से प्रकृति फिर अपनी तरह व्यवहार नहीं कर सकती। वह अपने आप बहा करता है सही परन्तु उसके मूल अधिष्ठान के—चेतन के—गुणधर्म के भान के साथ।

* *

ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अंतर

(अनुष्टुप)

काम वे ज्ञानी, अज्ञानी किया करे गुणाश्रय से,
दोनों के हेतु में ज्ञान भिन्न-भिन्न रहा करे ।
भिन्न परस्पर रहे।
नदी के पाट के जैसे कर्म का पाट तो गुणों,
गुणों में जैसा हो ज्ञान वैसा रे' पाट कर्म का ।
सोने की भस्म के होते गुण उसके भिन्न ही,
तत्त्व तो एक का एक तब भी भेद वहीं पड़ता ।
यद्वातद्वा रूप से वह अज्ञानी वर्तन करता रहे,
ज्ञानी के कर्म के आगे धारणा—पगडंडी होगी ।
'ज्ञानी—अज्ञानी में फर्क नींव का क्या होगा सही!'
अनासक्त हो पहला दूसरा आसक्त माने ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १३६, १५, १६)

* *

बेहद का आनंद

(गजल)

अरे ! संभलते हो तुम हद को सारी रीति,
रहते हो वहीं ही उलझे खेलते हद विषय जो भी ।

मिले आनंद बेहद का कभी भी हद विषय ना वह,
न आये कल्पना-ख्याल, पूरा आनंद ऐसा जो ।

तब भी हद में रह, बेहद और आनंद-आदर्श को,
लग जाए जो हृदय रख, जाएगा वह किसी दिन पार ।

हृदय हद के रिवाजों को जाने बेहद के भाव में,
पार करे प्रेम को ज्ञान से प्रवेशेगा बेहद में वह ।
रहकर हद में हृदय बेहद का जो ध्यान रखता है,
मिले हद और बेहद की सरहद बारे में ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १०५-०६)

* *

ज्ञान, भक्ति, ध्यानयोग का समन्वय

(अनुष्टुप)

आड़े टेढ़े मिले कर्म उसमें न कुछ देखे,
स्वभाव बदलने कर्म साधन ही पहचाने ।
इससे भले कैसे भी कर्म हो किन्तु धारणा–
इष्ट की दिल में रहते पाये फल इष्ट वहाँ ।
कर्म की साधना ऐसी हृदय में ध्यान धरकर करे,
कर्म की प्रेरक वह चेतना प्राप्त कर सके ।
श्रद्धा-विश्वास चैतन्य हृदय में होते रहें,
कर्म का बाह्य जो रूप स्वयं हल हो पाएगा ।
ज्ञान जन्म देने कर्म, कर्म प्रेरक भाव है,
रखने तीन में मेल केन्द्रित होना पड़े वहाँ ।
तीनों में एक का गहरा ध्यान रहे हृद में,
ग्रंथियाँ टूटेंगी स्वयं एकता प्राप्ति में तीनों ।
तीनों को एकभाव से जोड़ने की कला दिल,
प्राप्त होगी वैसों को तो पहेली न रहे कहीं ।
अनादि आदि की उलझनें भरीं सारी,
प्रश्न सारे विश्व के वे पुराने हल हों तभी ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १५०-५१)

भक्ति-ध्यान और योग, ज्ञान का समन्वय ही,
हम में होगा तब सुमेल जन्मेगा हृदय में ।
अकेली भक्ति का भाव कर दे मुग्ध क्या सब !
ज्ञान है जरूरी स्फोट गहराई से पूरी हो;
गहरे वहाँ धँसने, योग अलिप्तपन ध्यान है,
अतः चारों का हृदय में मेल होना चाहिए ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ८७, ८८)

* *

आतुरता की अग्नि

(अनुष्टुप)

'होना है, होना है' मात्र पुकारा करने से ही,
होगा न होने जैसा ही, इच्छा ऐसी भले रही;
आतुरता होने से ही, अकेली काम क्या करे ?
बेचारी बांझ है वह तो, ज्यों की त्यों वहाँ ही रहे ।
बेचैनी यदि पुरुषार्थ से धकेलाती रहे,
एक की एक जगह बैठे न रहे क्षण भी;
तब भी पीछा न छोड़े हमारा फिर फिर के,
गहन ध्येय प्राप्ति हेतु सतत टोका करे ।
ज्वलंत आतुरता ऐसी जिसके दिल में जलती रहे,
कुछ न दुर्लभ ऐसे को प्राप्त करे सभी को ।
मन, बुद्धि और चित्त, प्राण, वृत्ति, अहं सभी,
प्रबल आतुरता हो फेरने उसे सदा ही ।
अग्नि से भस्म सारा हो भले हो सौ गुना कूड़ा,
कूडा़ का चले न वहाँ जले आतुरता अग्नि ।

कूट जो कपटयुक्त रहे न रहेगी वहाँ सदा,
दिव्य रूपांतर ऐसा होगा निश्चित सर्वदा ।
आतुरता दिल में ऐसी उग्र में उग्र भाव से–
बढ़ते, यज्ञ की ज्वाला रूप, अर्थ सिद्ध होगा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ३१)

* *

(वसंततिलका)

जो आतुरता हृदय शक्ति न प्रेरती रे',
जो आतुरता हृदय चेतनता न प्रेरे;
जो आतुरता स्मरणभाव न दिव्य प्रेरे,
सच्ची न वह हृदय की मूल आतुरता है ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. २०९)

* *

तमन्ना और संजोग शृंखला

(शिखरिणी-मंदाक्रान्ता)

डूबे भले ही कीचड़ भरी भूमि में पूरी तरह से,
तमन्ना जागी हुई अफल न जाएगी किसी भी तरह से;
भले हो संसार जगत में पूरी तरह से फँसे,
प्रसंग वहाँ किन्तु अनुकूल सभी मिलायेगी तमन्ना ।

जिस परिस्थिति में खड़े उसमें भी गूढ़ हेतु रहा,
बलात्कार से अफल करे न वह आवेश से कोई;
तमन्ना जागी मन हृदय यदि सच्ची पूरी होगी वह,
कहीं भी हो वहाँ से तुम्हें मार्ग प्रेरित करेगी ही ।

तमन्नावाले जो निज जीवन कर्म-प्रारब्ध योग से,
प्राप्त संबंधों से पीठ फेरकर भागेगा न कहीं;
मिले हैं दृष्टांत विरल विरला शृंखला तोड़ भागे,
परन्तु उनके मन उर दशा क्या होगी वैसी बेला में !

नहीं था उन्हें मन जग का भान अधिक कुछ भी,
विकारी वृत्ति का तब नहीं था नाम निशान कहीं भी,
सदा उस बेला में दिल में होगा उनका भाव कैसा !
तुम्हें भी जो लगे दिल वैसा हुआ, तो तुम मुक्त हो !

परन्तु उठे निज जीवन का ख्याल जो ऊर्ध्वगामी,
फलेफूले ऐसा जीवन जीने रखो हिम्मत गहराई में;
कर देंगे प्रभु सारी सरलता जहाँ समय योग्य आये,
वहाँ तक रख धीरज पूरा भाव उनका बढ़ावो ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ७२ से ७४)

* *

ताटस्थ्य

(अनुष्टुप)

कामनाएँ सभी जो भी उसमें साक्षी रहके,
अनुमति न दो उसे जाने दो बहे आप से ।

कामनाएँ उठें तब उसमें लिप्त न होये,
हमारा रूप न वह ऐसा मान अलग हो ।

ताटस्थ्य रखते रहें प्रत्यक्ष कामना होते,
जागृति चेतना ऐसी रहे तो काम सधता ।

साक्षीभाव और पूर्ण अलिप्तत्व सभी से,
संभालना रहा; भले हो लिप्त अनेक से ।
वाणी, वर्तन व कर्म से निराग्रही होते जाँए,
स्वभाव उसके बिना वह तो रगड़ा करे पूरा ।
विचार उठते किन्तु उसके साथ साँकल,
जुड़े न हम वहाँ जी पाएँ चेतन-जीवन ।
किसी प्रकार से चित्त विक्षिप्त न होता रहे,
भूमिका ऐसी जब बने, प्रत्यक्ष सारी होगी ।
योग्य कर्तव्य औ' धर्म, अहंता निकलने से,
ताटस्थ्य दृढ़ होने से, समझ आएगा पूरा ।
अधिक विचार उस समय धर्म-कर्तव्य के गहन,
करने नहीं रहेंगे, स्फुरण ही स्वयं होंगे ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १७-१८)

* *

सर्व कर्म विषयक भाव की वृद्धि हेतु है,
भले तादात्म्य रे' तभी करना ताटस्थ्य वर्तन ।
ऐसे बिना बरते सभी में अलिप्तता,
आनेवाली न किसी ढंग से स्वयं में कभी भी ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १०७-०८)

* *

क्रान्ति प्रेरक है दु:ख ये तो सनातन,
दु:ख जीवन का पर्व, दु:ख जीवन-उत्सव ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ६१)

* *

किसी के दोष देखना हम से कभी न हो,
स्वयं के खोजते हुए लगे रहो पूर्ण बनने ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २४)

* *

तीर्थ, यात्रा, दर्शन के लाभ तथा आध्यात्मिक आश्रमों की यात्रा

दर्शन के दिन सभी को मिलने की औपचारिकता छोड़ दें । दर्शन के समय पूर्व भावनापूर्वक किसी एक प्रार्थना के भाव के साथ एकाग्रता लावें । दर्शन के समय भी ऐसी एकाग्रता के साथ ऐसी प्रार्थना भावनापूर्वक करें । हम जहाँ खड़े हों वहीं दूर से त्राटक के एकाग्र भाव से, हृहयस्थ भाव को प्रेरित कर (दर्शन विषयक) ज्ञानभक्तिपूर्वक का तादात्म्य हृदय का हृदय से हुआ करे ऐसा करें । ऐसा एकदम, अंतिम क्षणों में, नहीं होगा । हमें दर्शन के समय में वैसा करना है, ऐसा ज्ञान-भाव रखकर, दर्शन के पहले से ही (हो सके उतना अधिक दिन या समय पहले से) भावना को एकाग्र और केन्द्रित रखकर, दृढ़ करना है । उस वातावरण का सूक्ष्म भाव स्याही चूस की तरह चूसने के लिए हृदय से स्वीकारात्मक और ग्रहणात्मक बनना होता है । प्रत्यक्ष दर्शन का समय आये उसके पहले अपने मन की स्थिति ध्यान मध्यस्थ वेला में जैसी रहे वैसी करनी है । पहले से कुछ भी विचार न करें और न उद्‌भव होने दें । उस समय ऐसा करूँगा या वैसा करूँगा– ऐसा द्विधापन किसी भी प्रकार का उस विषय में न होने दें ।

दर्शन के बाद का तुरंत का समय कोई एकांत स्थान में जाकर ध्यान में बिताएँ । दर्शन पश्चात् किसी के साथ मिलने-जुलने में न

बिताएँ । दर्शन से होनेवाली असर का ऐसा रचनात्मक ज्ञानपूर्वक उपयोग आवश्यक है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६६-२६७)

* *

तीर्थयात्रा में किसी से भी संतुष्ट न हों । अधिक से अधिक समझने का चिंतन करें । हृदय में उतर सके ऐसा प्रार्थनाभाव दृढ़ करें । कितने ही लोक तीर्थ से प्राप्त फिर तीर्थ में ही रखकर आ जाते हैं, वैसा हमें नहीं करना चाहिए । तीर्थयात्रा के फलस्वरूप भक्तिभाव, शरणभाव, समर्पणभाव और भगवान में श्रद्धा विश्वास ये सब जीवंत बनने चाहिए । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३१३)

* *

(आध्यात्मिक आश्रमों की यात्रा की वेला में) हमें अपने आग्रह, मतमतांतर, रीति-रिवाज, समझ या दृष्टिबिन्दुओं के सकल भरोसे को छोड़कर मात्र जिज्ञासाभाव से संपूर्ण ज्ञानपूर्वक की नम्रता धारण करके जितना स्वीकारात्मक भाव से समझने का मंथन करेंगे, उतना समझने, जानने और अनुभव करने का विशेष लाभ होगा । वहाँ सत्संग की भावना से जीवन में साधना की भावना को दृढ़ करने और सीखने के लिए गये हैं, उस तरह लाभ लें । एकांत का अधिक सेवन करना और ध्यान करते रहें । हमारा मन, हृदय वहाँ का योग्य लाभ लेने के लिए उदार हो ऐसा रखें । कहीं कोई तुलना करने में न पड़ें । प्रत्येक आश्रम की अपनी-अपनी और अनोखी विशिष्टता होती है वैसे ही चेतन में प्रगट हुए आत्माओं के विषय में भी समझें । ऐसी तीर्थयात्रा के दिनों में जितना पारमार्थिक चिंत्वन रहा करे उतना उत्तम । ऐसा होता रहे तो ही तीर्थ जाना सार्थक होगा; बाकी तो नाहक

समय, धन और श्रम का दुर्व्यय हुआ गिना जाएगा । तीर्थ यह जीवन का सही महत्त्व प्रकट करने के लिए है । अनेक लोग जो दर्शन के लिए आये होते हैं, उन्हें दिल में उसकी पूरी गंभीरता जागी नहीं होती; तो महत्त्व और रहस्य की तो बात ही क्या ! परन्तु हमें तो अपनी तरह से उसका पूरा लाभ लेते रहना है । दूसरे सभी से अनोखे ढंग से आचरण करना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३२८-३२९)

* *

इस जमाने में परंपरागत होती यात्रा से जीवन की समझ कभी आयी हो, जाना नहीं है; क्योंकि जीवन में हृदय की ऐसी यात्रा की भावना-धारणा उगे बिना जीवन के वैसे कर्म में वैसी धारणा जन्म नहीं ले सकती । जीवन को सैरगाह की खुशी के लिए ले जाते हों वैसा ही ख्याल लोग यात्रा में रखते हैं; मात्र फिरने जाते हो ऐसा, मुझे तो लगता है; बाकी यदि सच्ची यात्रा की भावना हो तो समझ में और आचरण में अंतर पड़े बिना नहीं रह सकता । पहले के जमाने की यात्राओं में कठिनाइयाँ, विघ्न आदि बहुत अधिक सहन करने पड़ते थे; साहस, बहादुरी, धीरज, हिंमत, अभय आदि गुण विकसित करने के अनेक प्रसंग मिलते थे; इससे यात्रिओं का जीवन परिपक्व होने की संभावना रहती थी । यह भी आज नहीं रहा ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ५३-५४)

* *

तीर्थ यह **जीव** की भावना और संस्कृति का प्रतीक है । इसी से तो तीर्थ की महिमा है । फिर जागते नर (आत्मा) के सीधे संपर्क में प्रेमभाव से आना उसके जैसा तो दूसरा कोई उत्तम तीर्थ है नहीं ।

'संत ! जागते नर का सेवन करें ।'

ऐसा गोरख का एक पुराना भजन है । जागते नर की हृदयपूर्वक जीवनविकास के हेतु ज्ञानपूर्वक की आराधना हो सके, तो वह तीर्थ का उत्तम रूप माना जाएगा । पहले से जो तीर्थ माने गये हैं, उन तीर्थों का माहात्म्य भी ऐसे जागृत पुरुषों की जीवंत संस्कृति से दीप्त हैं । इसलिए स्थूल तीर्थों में जाने की अपेक्षा ऐसे प्रत्यक्ष जागते नर ये सूक्ष्म तीर्थ हैं और वहाँ भी, जीवनविकास हेतु का बोध प्राप्त करने यदि जाना हो, तो वह उत्तम है और वही सच्ची यात्रा है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७७-७८)

..... तीर्थ में गये हों, तो हृदय में उसी प्रकार की भावना को सतत बनाये रखना चाहिए । तीर्थगंगा में मनादि करणों के सारे मैल धोने का ख्याल रखें । मन में कुछ भी अन्य न रखें । उदार बनकर ही रहें । जीवन की भावना को स्वीकार करने की और उसी के अनुसार आचरण करने की तत्परता रखें । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७७)

* *

त्याग और भोग

हमारी संस्कृति में जो अनेक प्रकार के सांप्रदायिक मत फैले हुए हैं, वे त्याग और भोग उन दोनों के बीच की वे सभी शाखाएँ हैं । त्याग या भोग, दोनों प्रेमभक्तिज्ञानयोग की भूमिकावाले होने चाहिए; तभी वे शोभा देते हैं । ज्ञानभक्ति रहित त्याग, यह त्याग नहीं, पर जीवन को बलपूर्वक कुचलनेवाला और जीवन की कोमलता का हनन करनेवाला नकारात्मक तत्त्व है । हमारी संस्कृति में दमन पर अधिक भार दिया है; फलस्वरूप जीवन के प्राण उलटे दब गये हैं । संयम का स्थान होता है, दमन का नहीं । दोनों के बीच बड़ा अंतर है ।

दमन से बुद्धि, प्राणादि कुंठित बनते हैं । उसके सामने की ओर दूसरे कितने ही सांप्रदायिक पंथों ने जीवन का स्वीकार किया है, और भोगप्रधान हैं । यह भोग मूलत: प्रेमभक्तिज्ञान के योगपूर्वक की भूमिकावाला होना चाहिए; परन्तु उसकी वैसी स्थिति न रहने से वैसी संस्कृति का पतन भी हुआ । जीवन में भोग का स्थान है । जब कि ज्ञान की अवस्था में जीवन का यज्ञ संपूर्णरूप से परिपूर्ण होने के बाद जो कुछ बाकी रहे वैसे भोग को यथार्थ गिना है । जीवन में त्याग और भोग दोनों हैं । **जीव**दशा की कक्षा के भोग और ज्ञानअनुभवदशा के भोग में बहुत अंतर है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३६८-३६९)

* *

त्याग करना और त्याग भोगना— इन दोनों के भावार्थ में मूलभूत अंतर है । त्याग भोगने का जो आनंद है, वह त्याग करने के आनंद से कहीं विशेष बढ़कर है । त्याग करने का आनंद यह जीवन विकास के प्रमाण में, निचली श्रेणी का मार्ग है । त्याग भोगने का आनंद जीवनविकास की सहज अवस्था का आनंद है । त्याग भोगने में सहजपन है, जो त्याग करने के आनंद में नहीं । पहली स्थिति है नैसर्गिक; जब कि दूसरी है सहजपन को प्राप्त करने का साधन ।
('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७०)

* *

त्राटक

त्राटक का उद्देश्य हमारी आन्तरिक क्रियाओं पर नियंत्रण बढ़ाना है । हमारे विचार, भावनाएँ, मनोभावों को जहाँ तहाँ अस्तव्यस्त ढंग से

विहरने न देने का यह साधन है। इससे इन सभी का योग्य पट हम रच सकेंगे और वैसी आत्मश्रद्धा हमें त्राटक से पैदा होनी चाहिए।

त्राटक में हृदय पर अंतर्दृष्टि रखने से लीनता आती है यह सच है; पर बाह्य दृष्टि तो त्राटकबिन्दु में ही रखें। आसपास का कुछ भी नहीं दिखना चाहिए। मात्र बिन्दु ही दिखे। पलकें तब जरा भी झपकनीं नहीं चाहिए। हमें तीन घण्टे तक उसे ले जाना है। परन्तु वृत्ति पर किसी प्रकार का बलात्कार नहीं करना है। जैसे-जैसे प्रेम, रस उसमें जमते जाय वैसे-वैसे समय बढ़ाते रहें। आँख बंद हो जाय या पलक झपक जाय तो बंद कर दें। उस समय के लिए उसे पूरा हुआ जान लें। पूरा होने के बाद ठण्डे पानी से आँखों पर छींटें मारें या ठण्डे पानी में पाँचेक मिनट डुबाये रखें और उसके बाद आँखें बंदकर थोड़े समय बैठे रहें या लेट जाँय और नामस्मरण किया करें। आँख पर कपड़े का स्वच्छ मोटा पट्टा रखने से भी अधिक उपयुक्त रहेगा। आँख को आराम अधिक मिलेगा।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ५३-७२)

* *

प्रारंभ में थोड़ा भी भार आँख की पलकों को न दें। धीरे-धीरे सहज रूप से होले-होले थोड़ी आँखें खोलें और तब यदि खूब प्रेमभाव छलकता रख सकें तो उत्तम।

बिन्दु का त्राटक यह हमारी बहिर्मुख सर्व स्थूल और सूक्ष्म प्रवृत्तिओं में से एक में किस तरह एकाग्र रह सकें इसके लिए है; ज्योति का त्राटक शक्ति के आवाहन के लिए है। (ज्योति बिलकुल स्थिर, थोड़ी भी हिलनी नहीं चाहिए।) दोनों ही आवश्यक हैं।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ७२-७३)

* *

त्राटक में बैठने से पहले मन से खूब निश्चय करके बैठें कि पलके नहीं झपकनेवाली हैं । हमें अपनी संकल्पशक्ति को पैदा करके सर्वोपरि करना है । आँख झपकें तो वह त्राटक नहीं है । ज्योति त्राटक दिन में दो बार हो सकता है । बिन्दु त्राटक तीन चार घण्टे के अंतर में दो से तीन बार हो सकता है । त्राटकबिन्दु या ज्योति की ऊँचाई आँख की सीध में सामने ही आये वैसा रखें । अंदर की पुतली हिलती नहीं लगती हो पर उसकी Pitch– एकाग्र दृष्टिपात की जगह कुछ बदलती होगी । पर नजर यदि मध्यबिन्दु पर से खिसकती न हो तो हरकत नहीं । दृश्य धुँधला हो जाता है, वह तो एकटक देखते रहने से । ('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ८५, ११६)

* *

सूर्य का त्राटक छः सात मिनट ही रखें और वह भी उगते सूर्य का । किरणें बिलकुल कोमल होनी चाहिए ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. १०८)
('जीवनसंशोधन', आ. ९, पृ. ३६६)

* *

त्राटक के समय सूक्ष्म आँख और मन-हृदय में केन्द्रित होना चाहिए । चन्द्रमा के सामने भी त्राटक कर सकते हैं, पर तब क्या भाव धारण करते हैं यह महत्त्व का होगा ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ११६)

* *

त्राटक के समय जप तो हमें करते रहना है । त्राटक से आँख नहीं बिगड़तीं बल्कि आँखों का तेज बढ़ता है और दृष्टि दीर्घ होती है । ('जीवनपगरण', आ. २, पृ. १३१)

* *

त्राटक के समय जो जो विचार आयें वे चाहे कितने भी ललचानेवाले हों तब भी उनमें रुचि न लें । उसे आनुषंगिक विचार की सांकल से नहीं जोड़ना है । तब नाड़ी की धड़कने गिनें । त्राटक के समय हृदय में जितना गहरे उतर सकें उतना उत्तम । उसी को अधिक महत्त्व दें । धुन, जप, भजन के सिवाय भी उसमें भावमय हो सकें तो उत्तम । अंतर्मुखता भी आनी चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २०२)

* *

भाव में जब अधिक एकाग्रता आती है, तब आँख अपने आप स्थिर रहती है । आँख को उस समय स्थिर नहीं करनी पड़ती । इसी तरह जब हमें जीवनसाधना में सचमुच की रुचि होती है और उससे उसमें एकाग्रता आ जाती है, तब साधना करनी नहीं पड़ती; तब वह तो अपनेआप होने लगती है । एकटक देखते रहने से एकाग्रता आती है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ४८)

* *

प्रकृतिगत डगमग की वृत्ति को निश्चयात्मकता में बदलने के लिए त्राटक श्रेष्ठ साधन है । हृदय में पैदा हुआ भाव व्यवहार में भी ज्ञानपूर्वक आचरण में लाना है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १५३)

* *

सद्‌गुरु के हृदय पर त्राटक करने से उनके भाव की असर जीवन में उद्‌भव होती है सही, परन्तु वैसा होने का सही आधार हमारे अपने हृदय में उनके प्रति कितना उत्कट भाव प्रगट हुआ है उस पर है अथवा कोई पवित्र जीवंत जागे हुए पुरुष की मूर्ति या छबि पर या तो मंदिर की मूर्ति पर भी इसतरह हृदय की भावना लाकर त्राटक हो सकता है । त्राटक के

पीछे का उद्देश्य भूलना नहीं चाहिए। बाकी खाली खाली आँखें फाड़कर देखा करना उसका नाम त्राटक नहीं है। त्राटक में भाव आते ही एकाग्रता बढ़ेगी ही। ऐसी भावात्मक एकाग्रता आते ही आँख में से आँसू आते हैं कि नहीं, उसकी भी समझ नहीं होती। देह-चेतना का भान भी नहीं रहता और अंतर में अंतर की भावना में, एकाग्रता से तब मग्न हो गये होते हैं। ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३४९-३५०)

* *

दंभ

आध्यात्मिक मार्ग में दंभ यह एक ऐसा महादुर्गुण है कि जो **जीव** को इस मार्ग में कभी नहीं जाने देगा। दंभ का पर्दा चीरना ही चाहिए। साधना की सच्चाई में यह दंभ आड़े आता होता है। यह ऐसी सूक्ष्म रीत से दूध और दही, दोनों में पैर हमें रखवाता है कि जिससे भलभलों को भी वास्तविकता का पता नहीं चलता। प्रकृति की यह एक जबरदस्त पकड़रूप है। नवीनतमरूप धारण करके साधक को यह पछाड़ती है। अपने **जीव** स्वभाव का संपूर्ण स्वरूप से खुले हुए बिना या किये बिना या उससे पर हुए बिना प्रभु-चरण में आसक्ति होनेवाली नहीं है। प्रभु-भक्ति के मार्ग में दंभ यह हमारा एक बड़े से बड़ा शत्रु है। ('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. २०३)

* *

किसी **जीव** को किसी दूसरे **जीव** पर उसके व्यवहार से बहुत चिढ़ चढ़ती हो, क्रोध आया हो, तब उस तरह न बोलकर चिढ़ या क्रोध को जीवन विकासार्थ अंदर समाकर उसके प्रति स्वयं शांत वृत्ति धारण करें, मन में दबाकर रखें और उस तरह व्यक्त न हो तो उसके जीवन में दंभ है ऐसा नहीं माना जाएगा; परन्तु इसतरह शमन करना

उल्टा अच्छा माना जाएगा । इससे शायद स्वयं मन में व्याकुल हो भी सही और कितनों में ही उस विषय की विचार परम्परा भी शायद चले; तब भी चिढ़ और गुस्सा होने के कारण मिलने पर भी वह वैसा नहीं करे तो उसमें दंभ नहीं है । जीवन-साधक को ऐसी वृत्ति पहचानकर काबू में लाकर क्रमशः निर्मूल करनी है । ऐसा होने से धीरे-धीरे बाद में तो उसके मन में क्रोध की वृत्ति बिलकुल भी पैदा न हो ऐसी स्थिति उसके शमन के प्रारंभ से ही आती जाएगी । ऐसे शमन के पीछे का उद्देश्य मीठा बोलकर, मन में डंख रखकर, मौका देखकर वैर लेना नहीं है; परन्तु स्वयं की वृत्ति अठीक लगते ही उस वृत्ति को व्यक्त करके उसे वेग न देकर शमा लें, उसे काबू में लाकर अंत में निर्मूल करना है । ('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. २०७)

* *

दान

किसी को भी दान या ऐसा कुछ देने का अवसर आये तब भगवान ने दिया है और उसे ही दे रहा हूँ ऐसी जागृत भावना रखें । तब प्रशंसा मिलने पर उसके प्रति बेपरवाह रहकर वह सब श्रीभगवान के चरणों में समर्पणभाव से रखें ।

सच्ची दानवृत्ति करुणावृत्ति से उत्पन्न होती है । इस वृत्ति का भी हमें अपने लिए उपयोग करना है । दान में से उपजता भाव यह हमारा परम बल है ।

दान करने से सूक्ष्म अभिमान भी पैदा होता है । यह हमें सूक्ष्म रूप से गिराता है ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ४६, ५७)

* *

दान का मूल उद्देश्य '**सर्वभूतहितरतः**' हो जाना है । यह स्थूल दान से होना कठिन है । जागृत साधना से परिपक्व होते हुए उसके परिणाम स्वरूप उद्‌भवित भाव का सर्जन होने से, जीवन में कला का जो नया स्वरूप आता है, वह आने पर ही सर्वभूतहितरत होते जाते हैं । बाकी जगत के रूप में किये दान का फल तो कितनी ही बार अहंकार पैदा करने और बढ़ाने लगता है । कितनी ही बार ऐसे दान में मनुष्य की वृत्ति अघटितरूप से संतुष्ट हो जाती है और ऐसे ऊपरी संतोष में हम अपनेआप को छलावा देते हैं । जीवनविकास में स्थूल दान का कोई भी अर्थ नहीं, ऐसा नहीं; परन्तु दान करने से आत्मसंतोष मानकर, उसकी जाने अनजाने आत्मवंचना जो पैदा होती है वह अहितकर है और आज तो दान की प्रथा अनेक बार एक प्रकार का व्यवहार भी हो गई है। जीवनविकास की साधना से जो सर्वभूतहितरतता आती है, वही उत्तम प्रकार का दान है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७६)

* *

दिलदार के दर्शन

(गजल)

जीवन दिल-तार जोड़कर जीवन के दर्द से भारी,
जीवन-वीणा बजायी है वहाँ महफिल जमी है ।

जहाँ महफिल रंगत व्यवस्थित हुई जीवन की,
मिला पिलाने पीनेवाले हुआ क्या संगी मुहब्बत से!

हृदय-दिलदार के दर्शन जगत के गूढ़ व्यवहार से,
हमें तो कर-करके रहा क्या वह मौज में !

रसार्द्र जीवन-दिल का हरेक तार भिन्न है,
और उस तार के सुर को गजब सुननेवाला है ।

मिले आलम के चौगान में पिलाने-पीनेवाले,
फिर मर्यादा रहे क्या वहाँ ! जहाँ पिलानेवाला न्यारा ।

जीवन की राख से उसे हमने जीवित सदा रखा,
हो बंदे हम उसके जीवन में गरजेंगे खुश हो ।

हृदय-दिलदार दिलबर वह जगत में भी समाया है,
जगत ना बेवफा बने इससे कभी हमें ।

जगत परेशान कर हमें जगत परेशान करेगा निज को,
जगत बतलाएगा कैसा रचा स्वांग उसका है !

नहीं परेशान करनेवाला हमें कोई कहीं भी
सर्वत्र जहाँ और तहाँ हमारे भेद टूटते हैं ।

सितमगर जादूगर प्यारा हृदय-दिलदार दिलबर **वह**
जीवन जो साथ जोड़ता वहाँ हमें विभोर होना है।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १३६-१३७)

* *

दुःख, जीवनदाता

(अनुष्टुप)

उत्क्रांति सर्व **जीवों** की होती दुःख से जान लें,
जीवन-क्रांति में भाग दुःख का निराला भव्य क्या !

दुःख झेले बिना जन्म किसी का होता नहीं है,
दुःख आघात देकर प्रेरित करे बोध स्वयं से ।

जन्म देने पुरुषार्थ को, चेतना लाने के लिए,
मिला दुःख सद्‌भाग्य से ऊष्मा, जीवन प्रेरने ।

हताश दुःख से जो बने निर्माल्य जीवन में,
दुःख उसका चढ़ता दुःख में वे डूबा करें ।

बलपूर्वक सहने से दुःख का लाभ ना मिले,
भयानक उपजाये निराशा कैसी जीवन में !

दुःख यह कल्पना रहे मात्र मानव के मन,
दुःख उसे गिने जो ना, दुःख उसे नहीं कहीं ।

प्रेम की उस पराकाष्ठा पहुँचने क्या वियोग है !
वैसे ही दुःख को जानो विकासार्थ ही मिला वह ।

दुःख यह शक्ति है स्वयं कालिका जैसी प्रचंड वह !
मोड़ोगे जिस रीति से देगा फल वह वैसा ।

दुःख जिसे जन माने, कुछ दूसरा किसी का,
छाया आभास है यह तो, ताप से जैसे वृक्ष का ।

जन्म का साथी तो दुःख, मृत्यु साथ फिर रहा,
भलभले भले भूप उन्होंने भी दुःख तो सहा ।

दुःख से तो लगता है सच्चा विश्व-स्वरूप क्या !
दुःख से तो पाता है तत्त्व जीवन का सही ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ४३, ४५, ४६, ५५, ५६)

* *

दोषों का भान, स्वीकार और वेदना

सर्वप्रथम दोषों और दुर्गुणों का स्पष्ट दर्शन तो होना ही चाहिए; परन्तु वह भी पर्याप्त नहीं । उसे हटाने हमारे में दृढ़ निश्चय हो जाना

चाहिए । नकारात्मक बल को रचनात्मक शक्ति से ह्रास करना है । यदि ऐसा न हो तो दोषों का भान निराशा के भंवर में डुबा देगा और हम हताश हो जाएँगे ।

* *

दोषों की चिंता करने से वे दूर नहीं होते; बल्कि बढ़ते हैं । दोष और स्खलन तो होते जाएँगे । उनसे जो चेत जाँय और चेतकर चलें, उसके द्वारा हुए दोष भी उसके सद्‌गुरु हो सकते हैं । दोष अपनेआप सूझने लगेंगे तो हमें समझना है कि अब हमारे सुधरने की बारी आ गयी है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १२६)

* *

दोषों का स्वीकार उसमें से मुक्ति पाने के लिए है और नहीं कि वह मात्र स्वीकार कर बैठे रहने के लिए । दोष हमें बहुत ही खटकने और डंखने चाहिए । हमें अपनी वक्रता के दर्शन से यदि सीधा होने का न सूझे और ऐसा न हो तो वैसा दर्शन कोई विशेष मददरूप नहीं हो पाता । अपना थोड़ा सा भी दोष और दुर्गुण जब साधक को हिमालय पर्वत जितना लगे और वह बहुत खले तथा उसमें से उभरने को जब सहृदयता से, प्रमाणिकता से वह संघर्ष करता है, तब उससे हृदय की पुकार से हुई भगवान की प्रार्थना उसे मददरूप हो सकती है । मेरे उस काल के दौरान की ऐसी प्रार्थनाएँ 'हृदयपुकार' में हैं । हमारे दोष, विकृतियाँ, दुर्वृत्तियाँ यदि उत्कट प्रमाण में खटकती होंगी तो वैसी प्रार्थना करते-करते अविरत आँसू आँख में आएँगे । वैसी प्रार्थना में हमें होते दुःख की ऐसी गूँज उठेगी कि उसके प्रत्याघात से वह सब कहीं अदृश्य हो जाएगा ।

* *

अनेक भक्तों ने ''मो सम कौन कुटिल खल कामी'' ऐसा गाया है। वे क्या सचमुच ऐसे थे ? हरगिज नहीं। परन्तु उनके जीवन की **जीव**प्रकार की तिल जितनी क्षति ने भी उन्हें अत्यन्त वेदना से व्याकुल कर रखा था और उसकी पुकार उपरोक्त कड़ी में व्यक्त हुई है। हमें भी यदि हमारे दोषों की भयंकरता लग जाय तो, गहरे-गहरे खटकें तो, निवारण के बिना चैन नहीं पड़ेगी। बिच्छु या साँप को छुएँगे ? गले लटकाकर रखेंगे ? जबकि दोष, दुर्गुणों को हम अभी अपने में लटकने-टिकने देते हैं, कारण उसकी भयंकरता का भान जागा नहीं है। उसका विष व्याप्त नहीं हुआ है।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २५८)

* *

स्व-दोष निरीक्षण

(अनुष्टुप)

स्व-प्रकृति समक्ष, प्रतिपक्षी में मिल के,
'कैसे हराना चाहेगी', लक्ष्य रखें वह सोच।
कोई नहीं स्व समक्ष वे प्रत्यक्ष वहाँ बसे,
स्वभाव ही चालबाजी क्या नयी धारण करे।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ९८)

अन्य के दोष देखें तो हमें चेतना दिल से,
अन्य का गुण थोड़ा भी पहाड़ जैसा गिनो दिल से।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १६)

अहंता से जन विश्व में प्रेरित काम में सदा,
क्लेश, संताप व दुःख जीवन में इसी से पाते;

तब भी उनका मूल अन्य को मानव गिने,
'दूसरों से **यह** हुआ' कहते सुनते सुना जग में ।
सब का मूल स्वयं में, ना उसको जन देखें,
खदबद करें कैसे मानव निज जीव का ।
गोबर के कीड़ों सम ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. २०१)

(गजल)

अन्य के दोष दुर्गुण हमसे न सोचे जाँए,
हमारे दोष देखें और हमसे वे न बन जाँय ।

('प्रणाप-प्रलाप', आ. २, पृ. १)

* *

(अनुष्टुप)

निमित्त अन्य तो खाली हमारे जीवन में सही,
दूसरों का नाम वहाँ लेना सब अखरेगा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १७९)

किये कर्म की छाया ही दुःख जानना चाहिए,
दूसरों को दोष देना छोड़ देना सदा सही ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ६२)

जहाँ तक हम स्वयं संपूर्ण हुए नहीं हैं,
अन्यथा हेतु का मूल खोजना स्वयं में ही ।
कम अन्याय अन्य को होना संभव इससे,
खोजते मूल स्वयं में खोएँ हम नहीं कुछ ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १२४)

* *

ध्यान

ध्यान हमारे अंतर की खोज, समर्पण की भावना, खालीपन–निर्विचारता विकासार्थ, लयता, प्रार्थना के Mood– भावतरंगार्थ हो; ऐसे ध्यान के अनेक प्रकार हैं। इससे एक समय ऐसा हुआ और दूसरे समय ऐसा क्यों हुआ ? ऐसी स्थितिचुस्तता इसमें नहीं है। जो हो उसे देखा करें। ध्यान में एकाग्रता का भाव यह मुख्य वस्तु है। वह स्थिरता–जड़तावाली एकाग्रता नहीं पर चेतन–स्फुरणवाली होनी चाहिए।

ध्यान के समय तंद्रा यह एक बड़ा सामान्य अवरोध आता होता है। उसके आने पर सामान्यतः अपनेआप पता चल जाता है। ध्यान से कोई खास प्रकार की भावनाएँ उपजें ऐसी कोई अपेक्षा न रखें। मात्र उससे हम सतत जागृति प्राप्त करें और साधना में वेग मिले वही वर्तमान में अच्छा है। उस समय हमारे आग्रह, मंतव्य, उलझन, विचार आदि सभी ही सच्चे अर्थ में लय पा सकें तो उतने समय हमारी अंदर की चेतना का—जिसे भगवान का भाव भी कह सकें उसका—स्पर्श हो, पता हो, अनुभव हो।

ध्यान में समय की गिनती यह मुख्य माप नहीं। इतने अमुक घण्टे ध्यान लगा वह गौण है। गहराई का ख्याल रखें। उस ख्याल को भी महत्त्व नहीं देना है। ध्यान के समय जो कुछ अनुभव हो, उसे तटस्थरूप से देखा करें। ('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ३७, ४४, ४७)

* *

ध्यान में अपनेआप स्वाभाविक रूप से श्वासोच्छ्वास धीरे पड़ते जाएँगे और अंत में तो बिलकुल शांतरूप से चलेगा। उसमें

प्राणायाम के नियम स्वतः पालन होते जाएँगे– यदि ध्यान योग्य ढंग से होता होगा तो । अंत में तो श्वासोच्छ्वास बिलकुल लय होने की स्थिति होगी ।

ध्यान के समय ध्यान ही । प्रार्थना के समय प्रार्थना । जो करते हो उसके भाव को ही प्रधानरूप से पकड़े रखें । ध्यान को छोड़ने की इच्छा न हो तो जारी रखें । समय पूरा हुआ इसलिए छोड़ दिया, ऐसा न करें ।

ध्यानस्थ होने पर जप पर भार नहीं देना है, चित्त का लक्ष्य तो जब पूरी लीनता अनुभव हो, तब अंदर की जो चेतना है, उसका अनुभव करते रहें । ध्यान पूरा होने पर जो घुमरी और एकाग्रता जैसा रहता है उससे जप, धारणा का भाव गहराई से हृदयस्थ उतारें ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ५२-५३-५५)

* *

ध्यान प्रारंभ करते समय जप का आश्रय ले सकते हैं, पर उस पर झुकाव दिये बिना, फिर उसका भी आग्रह न हो । सचमुच की सर्जनात्मक शक्ति का अनुभव प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र में उतरकर सर्वांग से अंत तक न अनुभव हो, वहाँ तक हमें ध्यान की साधना जारी रखनी है । ध्यान मात्र शान्त बैठे रहने के लिए नहीं । मन को नीरवता लाने में मददरूप होता है— यद्यपि यह उसका प्रत्यक्ष लाभ है । ऐसा होने पर मन से पर का अनुभव संभव होता है । **ध्यान अर्थात् अंतर की खोज ।** ('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ६४)

* *

सरल ध्यान में मन की चालबाजी की जानकारी जानी जा सकती है । ध्यान से शक्ति, आनंद, नूतनता मिलती है तथा हमारे दृष्टिबिन्दुओं में वह अंतर लाता है, आत्मविश्वास और श्रद्धा की वृद्धि

करता है– ऐसे सारे परोक्ष लाभ भी मिलते हैं । मूल हेतु तो आत्मा की खोज है ।

ध्यान के समय आसन में परिवर्तन न करें । शरीर ठीक न हो तब सोये-सोये भी हो सकता है । सोये-सोये पालथी बांधकर भी हो सकता है । ऐसे समय में तंद्रा या निद्रा में न पड़ जाँय इसका ध्यान रखें । हो सके तो ध्यान का समय अमुक निश्चित रखें और स्थान भी । आसन की जरूरत ध्यान के प्रारंभ में ही रहती है । उसमें डूब जाने पर अमुक निश्चित आसन की आवश्यकता नहीं रहती ।

ध्यान के समय बाहर की आवाज सुनाई देती है, इसका अर्थ कि अभी एकाग्रता आई नहीं है । इसका अर्थ ऐसा भी नहीं कि ध्यान में मूढ होना या रहना है । सज्ञान मूढ़ता तो इन्द्रियों की विकसित करना है । मन की शून्यता तो क्रमशः बढ़नी ही चाहिए, और मन के अंगउपांग भी साथ में रुचि लेते हुए होने चाहिए ।

ध्यान के समय भाव जागे वह ठीक नहीं । किसी भी दौरान अव्यक्त और निराकार भाव जागे वह ठीक । जो-जो विचार आएँ उनमें रुचि न लें, कड़ी न जोड़कर उन्हें बह जाने दें ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ६४, ६८, ७०)

* *

निश्चित किया समय पूरा होने के बाद ही ध्यान छोड़ना चाहिए । अधिक मन हो तो भले अधिक बैठें, पर बीच में उठना नहीं चाहिए; अपवाद को छोड़ कर । कुछ भी यद्वातद्वा नहीं करना है । वैसे जड़ नियमानुसार भी नहीं । ध्यान में अच्छे विचार आएँ वे भी उस समय के लिए योग्य नहीं है ।

एकाग्र ध्यान के समय मन, बुद्धि, चित्त सभी का लय हो जाता है और उनका सुमेल जगता है । ध्यान के समय लक्ष्य और चित्त हृदय

में रखना ठीक है । हृदय में लक्ष्य रखकर भ्रूमध्य में चित्त (धारणा) रखें अथवा तो नाक की सीध में । दोनों में लक्ष्य तो हृदय में ही हो, इससे विचार घट जाएँगे ।

'ध्यान में अमुक-अमुक हो तो ही अच्छा' ऐसी भावना न रखें । जो कुछ हो तब मन उसमें मिल न जाय उसकी सावधानी रखें । लीन और एकाग्र होने पर गहराई में उतरते जाँय और जहाँ तक ख्याल रखा जाय वहाँ तक भगवान के भाव का ख्याल रखें; वह भी गहराई में जाने पर उसे उड़ जाने दें और तटस्थरूप से देखा करें ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ७२, ८३, ९४, १७२)

* *

ध्यान वेला या बाद में हाथपैर आदि शारीरिक अवयवों के अस्तित्व का ख्याल चला जाता है, इसका कारण यह है कि सभी एक की एक स्थिति में रहने से ऐसा होता है ।

जिस भावना को बढ़ाना हो वह भावना भी ध्यान से बढ़ सकती है । रोज नयी-नयी भावना रखने से उसमें कोई खास लाभ न होगा । वैसे ही भावना को अवरोधरूप जो कुछ हो, उसका दिव्य रूपांतर करने के लिए भी ध्यान का उपयोग हो सकता है ।

ध्यान में लीनता हो उस समय लक्ष्य खिसकने से लीनता कम न हो रही हो तब भी लक्ष्य तो हृदय में ही अब रहा करे वह तुम्हारे लिए उत्तम है । लीनता के समय चेतना की स्थिति बदलती जाती है । तब वैसी प्रत्येक कक्षा में लिप्त न होवें, नहीं तो विकास रुक जाएगा ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ९५, १२६-२७)

* *

ध्यान की एकाग्रता होने के पश्चात् किसी विचार का आक्रमण तब नहीं आएगा । विचार आने पर, वे सतह पर से चले जाएँगे; दोनों नथुनों में से हवा समान रूप से आती होगी अर्थात् श्वासोच्छ्वास सम होगा । छाती में खिंचाव भी होता है । कितनों को ही कंठ में शोष पड़ता है और जीभ सूखती जाती है तो कितनों के मुख में अमीरस भी झरता है । कभी ध्यान के अंत में सिर हलका-हलका या स्फूर्तिजनक भारी भारी लगता है ।

* *

लक्ष्य अर्थात् एक प्रकार की एकाग्र, केन्द्रित और ध्येयलक्षी उत्कट सघन सभानता और चित्त यानी उस पर ज्ञानभक्तियुक्त चेतना । लक्ष्य यानी भाव और चित्त अर्थात् उसके प्राण और शक्ति ऐसा अर्थ यहाँ करता हूँ ।

बहिर् में एकदृष्टि रह सके इसके लिए भक्ति की आवश्यकता और अंतर में वैसा होने के लिए ध्यान की आवश्यकता ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४८, ५५, ८४)

* *

ध्यान में एक प्रकार की उन्मादकारी लहरें आनी चाहिए । एक प्रकार की अलगपन की शक्ति उसमें से मिलनी चाहिए और उसे दिन के दूसरे व्यवहार में सक्रिय बनानी चाहिए ।

ध्यान में वृत्तिओं और आसक्तिओं का बल हमें मालूम पड़ता है । कितनी ही बार ध्यान के समय सूक्ष्म तत्त्व टकराते हैं । उदा. सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय को असर कर सके ऐसे नाद के सूक्ष्म तत्त्व उसे टकराते हैं । दिव्य संगीत सुनाई देता है । ऐसे समय में जागृति रखकर अपना ध्येय अलग है, ऐसा दृढ़ ख्याल रखना है । 'नादब्रह्म' स्थिति कोई सर्वोपरि नहीं है । ('जीवनपगरण', आ. २, पृ. १४४-४५, १८४)

* *

ध्यान में नाड़ी की धड़कनें घटती हैं वह अच्छा है । यह चेतनवाली स्थिति है । ध्यान की संपूर्णता में नाड़ी की धड़कनें शून्य की दशा में पहुँचती हैं । ध्यान पूरा होने के बाद यदि धड़कनें पचास हुईं, तो ध्यान के सही समय तो इससे भी कम होती हैं । ध्यान की एकाग्रता में हृदय की धड़कनें कम होती जाती हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११६, १४५)

* *

ध्यान की एकाग्रता में आंतरिक चेतना की स्फूर्ति सतेज होती जाती हैं ।

ध्यान में तदाकार होने के लिए मन-हृदय सर्व प्रकार से सरल, निर्शिंचत, निर्द्वन्द भाववाले होने चाहिए । इन सब के लिए नित्य के कर्तव्यव्यवहार में मनादि के भाव को ज्ञानपूर्वक विकसित करने चाहिए ।

* *

नाम-स्मरण

(हरिगीत)

प्रिय-नाम-सूर्य उगने से सब जीवन-अंधेरा मिटे,
ऐसी कृपा से जीवन में हमें पुष्पित-फलित करें;
धुन सवार हमें हो तुझ दिव्य प्रिय नाम की,
प्रगट होती रहे हमारे जीवन में छाया रूप तुझ प्रेम की।

संसार के कर्तव्य में, व्यवहारों के साथ में,
सारे काम में, खाते, पीते, उठते और बोलते;
जो कुछ करें, सभी के साथ सदा व्यवहार में,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में ।

('श्रीगंगाचरणे', आ. १, पृ. २७, ३१)

(मालिनी)

प्रिय स्मरण में यदि प्रेम आह्लाद जन्मे,
स्मरण प्रिय गिनो भावनावाला दिल में;
स्मरण स्मरण खाली, यदि चेतना न वहाँ है;
पर स्मरण अखंड वैसा भी कहाँ रहता है ?

स्मरण स्मरण में भी कई कई हैं फेर,
प्रिय में जैसे बढ़े प्रेम, वही याद श्रेष्ठ ।

स्मरण में स्निग्धता यदि नहीं हो, तो व्यर्थ,
स्मरण में उठे यदि प्रेम भाव तो सार्थ ।

('पुनित-प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १०७, १३५)

(तोटक)

जाप किये कुछ काम नहीं होगा,
यदि जाप में भाव न होगा;
प्रभु-प्रेम की छलक ना उछले
-हृदय में, वे जाप निरर्थक है ।

('पुनित-प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १९)

(अनुष्टुप)

खाली नाम ले तो कुछ अपना सिद्ध न होगा,
भाववृद्धि हो तो जानें फलता नाम उर में ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १२)

(भुजंगी)

हरि-नाम को चित्त में तू मढ़ ले—
हृदय में श्रेय व प्रेय दो साध ले;
और सदा प्रभु-आश्रय में लीन रहें,
स्मरण बिना तू एक घड़ी ना खोना ।

हृदय में नाम जाप की प्रेममाला-
बहावो पद में सदा गंगधारा;
समाये पूरी बुद्धि व उरभाव-
वहाँ होमना प्राण की वृत्ति सर्व ।

स्मरते स्मरते होना एक ध्यान,
स्मरते स्मरते होना एक म्यान;
स्मरते स्मरते होना हिलमिल,
स्मरते स्मरते होना **एक**मेल ।

* *

तुझ को नमन मेरा

(वसंततिलका)

सृष्टि के आद्य, प्रभु ! मध्य ही, अंत में तू,
सर्व विभूति का तत्त्व छिपा प्रभु ! तू;
सूर्य ऐसे अनेक का तेज पवित्र है तू,
ऐसे प्रभु ! हृदय से तुझ को नमन मेरा !

गोपाल है जगत-धर्म सभी का तू,
सारे विश्व में प्रभु ! अक्षरधाम है तू,
तू आद्य देव ही पुरुष पुराण है तू,
ऐसे प्रभु ! हृदय से तुझ को नमन मेरा ।

('तुजचरणे', आ. १५, पृ. २५, २९)

* *

स्मरण-साथी

(हरिगीत)

मन के विचारों में और मन की सारी वृत्तियों में,
मन-वासना में, पाप में, चित्त के सभी संस्कार में;

मन के खेल-कूद में, मन के रमण-भाव में,
तेरे नाम का प्रिय स्मरण वे साथ रहे मन-हृदय में ।

खट रस के सारे स्वाद में, मीठी मीठी सभी गंध में,
उर चेतना में, बुद्धि में, चित्त-प्रेरणा तथा प्राण में,
हमारे भाव में, भावना में, प्रेम में, रस में सभी,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में ।

हमारे शरीर से होती क्रिया में, इन्द्रियों के विषय में,
हमारे शरीर के रोम-रोम में, हृदय के खून में;
रग-रग में, नखशिख में, और शरीर के नौ द्वार में,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में ।

जीवन के सारे भंग में, जीवन के सारे रंग में,
जीवन के इन अटपटे टेढ़े सीधे सभी तार में,
मेरी भले कैसी भी हो सर्व जीवन-प्रकार में,
रसीला बुनावट वहाँ करो, प्रिय नाम तुम्हारा भाव में ।

समग्र जीवन-पट के ताने और बाने विषयक,
भीगे हो रगरग से तुझ प्रेम से रंगे हुए,
तुझ नाम के प्रिय स्मरण के ठोके सदा ठुकाये,
ऐसा प्रभु-पद हो समर्पित यह जीवन, हो तेरी कृपा ।

('श्रीगंगाचरणे', आ. १, पृ. ३०, ३१, ३२)

* *

निराशा, विषाद, साधना पथ में

जिस **जीव** के हृदय में हृदय से सच्ची भावना प्रगट होती है, उसमें कहीं निराशा का स्थान नहीं है । जिसमें निराशा व्याप्त है, उसे

जरूर जान लें कि उसमें कहीं उसके ऐसे प्रयत्न के पीछे कहीं कुछ माँग, इच्छा या वासना रही होगी । हम प्रभु पर कोई हक्क-दावा नहीं कर सकते कि इतना-इतना किया तब भी क्यों ऐसा न हुआ ? अपना धर्म करते रहना है । वे हमें कब ग्रहण कर स्वीकार लें यह काम उनका है ।

* *

निराशा भले आयी; परन्तु जो साधक सिर पर हाथ देकर तब बैठे रहता है, उसे कहीं उबरने की बारी नहीं आती । सच्चा साधक तो जिस तिस का योग्य हल निकालने हेतु संघर्ष करेगा । जब निराशा, हार, विषाद आदि की पकड़ में पड़ जाये तब हृदय में अधिक से अधिक शांत होकर दृढ़ता से स्वस्थता धारण करे । ऐसे समय में बेचैन होने से उलटा मन अधिक खराब होगा । ऐसे समय में प्रभु की मदद के लिए प्रार्थना किया करें ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३०७-३०८)

* *

वैज्ञानिक किसी तत्त्व की खोज करने को मंथन करता रहता है तो उसे सैंकड़ों बार निराश होना पड़ता है; तब भी वह धीरज, हिंमत, साहस खोता नहीं; और फिर-फिरकर उसी विषय का मनन, चिंतन करके नये-नये प्रयोग करता है और मिली निराशा से वह नयी समझ और नया ज्ञान प्राप्त करता रहता है । हम तो परम तत्त्व को प्राप्त करने निकले हैं । श्रीभगवान को अनुभव करने की साधना शुरू की है तो सैंकड़ों बार क्या, हजारों और लाखों बार निराशा और हार भले ही मिले; परन्तु साधक वैसी निराशा से, हार से निराशा में डूब नहीं जाता । वह तो फिर फिरकर अंत:करण में डुबकी मारता है और वहाँ पूरा संशोधन करता है । निराशा यह तो आगे बढ़ने के लिए उत्तम अवसर

है । जिसका ध्येय जीवनविकास के लिए है, ऐसे को हजारों और लाखों निराशाओं के बीच आशा ही बढ़ेगी । साधक की आशा तो अमर, शक्तिशाली, प्राणवंत और चेतनवंत होनी चाहिए । वह तो जिस तिस में आशा के तंतु ही बुना करता है । आशा के जोर पर तो उसकी नाव आगे बढ़ती जाती है ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ५६)

* *

निराशा - हार

(अनुष्टुप)

मानव को निराशा तो बना दे हताश; और
भग्न ऐसे होते दिल वहाँ से ही क्रांति होती ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ५३)

* *

हार में भी दिल में हाथ देखे प्रेम का ही जो,
उसे हार कहीं नहीं, जहाँ तहाँ प्रेम देखे ।
सर्व परिस्थिति में जो प्रेम को निरखा करे,
शब्द के खाली खोखे हैं 'हार' व 'जीत' उसे ।

(मालिनी)

अविरत रहकर काम करे जो अपना,
कभी भी निराशा उसे परेशान नहीं करे ।
स्मरण कर करके प्राण जो पाता है,
नयी समझ उसके उर में जन्म लेती है ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १०७)

(शिखरिणी-मंदाक्रान्ता)

सभी ओर जहाँ निज जीवन को घोर अंधेरा घेरे,
विनाश से घिरा जीवन निरख वज्र-आघात होये;
और उससे भी विषम कोई जहाँ निराशा भले हो,
परन्तु वहाँ भी क्या परम विलसती गूढ़ **उस**की कृपा।
महा तूफान में बहुत हवा की सनसनाहट हो,
महा अग्नि का प्रलय जीवन में उद्‌भवित ही क्यों न हो;
कृपा-शक्ति वहाँ अनुभव कर सकता है, प्रभु की,
गढ़ता है ऐसे कोई परम विरल स्वयं को क्या अनोखा!

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ४१)

(गजल)

किया करता रहता है जो, न उसे प्रश्न जागे कि,
-बने व आज या कल, किया करने में ही मशगूल है।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. ११५)

(भुजंगी)

बूँद-बूँद से ही तालाब भरता,
उदासीन फिर तुझे क्या होना ?
भले ही कटा होगा, पंथ थोड़ा-सा,
यद्यपि वेग उसमें से जन्मेगा ।

* *

पत्रव्यवहार, साधनरूप

मेरे हिसाब से तो पत्रलेखन हृदय को जोड़ने के लिए साधनरूप है। प्रेम की साधना का एक अंग है; प्रिय के स्मरण के उठाव हेतु

एक उत्तम अवसर है । दिल दरिया भाव जगाकर उसमें पिरोने के लिए, एकाग्र होने और दिल दरिया में यदि **उस** की कृपा हो तो कोई समुद्र जागे और प्रेम की याद से कोई **उसे** हिलाना हो तो हिलाये ऐसा-ऐसा पत्रलेखन में समाया है ।

पत्र लिखते समय हम मानो समीप हों, हमारी चेतना जाग्रतरूप से तब हमारे में ही समायी रहे, ऐसा होकर लिखें । तब एकाग्र होकर, भावशील हो जाँय तो हम शरीर से पास होकर भी जो न कर सकते हैं, वह तब हो सकने की अधिक संभावना है । पास होते हैं तब– 'यहीं ही है न !' ऐसे संतोष के भाव के कारण भावना में वेग और जोश नहीं होता, दूर की भावना में साधारणतः प्रेम और भावना का उछाल अधिक रहा करता है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ८६)

* *

किसी को भी पत्र लिखो उसे साधना का अंग गिनें । हमारे हृदय के प्रेमभाव को अधिक वेग देने के लिए हमारे प्रेमी की साकार चेतना अथवा अधिक अच्छा तो भावात्मक चेतना को हमारे सामने साधन रूप में हमें लानी है । उसकी उत्कटता बढ़ने पर प्रेमी को अपनेआप प्रत्यक्ष कराएगी । स्थान और समय कहीं दूर हो जाएँगे और मात्र भाव फैलेगा । पत्रव्यवहार यह भी भावना को प्रगट करने और तेजस्विता लाने के लिए है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ९३)

* *

पत्रलेखन यदि चेतना-सांकल से जुड़े रहकर लिखते समय लक्ष्य में भावमूर्ति को हृदय समक्ष रखकर लिखे तो दिल में भाव रहा करेगा और वह अनुभव से समझ में आएगा । पत्रव्यवहार जीवनविकास के मार्ग में प्रेरक और मददकर्ता है ।('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ५१)

परिस्थिति - प्रसंग

जो भी परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, सभी मनुष्य के अभ्युदय के लिए पूरी संभावना से भरपूर होती हैं; किसी से भी भागने की आवश्यकता नहीं है। परिस्थिति और प्रसंग तो अनेक प्रकार के आएँगे और जाएँगे, परन्तु उनमें हम कैसे रहते हैं और किस तरह जीते हैं, उस पर हमारे जीवनविकास का आधार रहा है ।

* *

जो भी परिस्थितियाँ हमें प्राप्त होती हैं या प्रसंग मिलते हैं, वे सभी किसी न किसी नयी समझ को उद्‌भव करने को मिलते हैं अथवा प्राप्त समझ को दृढ़ करने के लिए मिलते हैं; इसलिए ऐसे समय के मूल्यांकन हमें रचनात्मकता में मदद करें ऐसे मोड़ अनुसार करें और उसका उसी अनुसार उपयोग करें, उसी में हमारी योग कुशलता रही है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १९७)

* *

प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति और प्रसंग हमें आत्मा की तेजस्विता का अनुभव होने का एक मौका है । ऐसी परिस्थिति तो प्रभु की कृपालीला है, ऐसे भाव से ज्ञानभक्तिपूर्वक अपने ही कल्याणार्थ उसका स्वीकार करना है । कुछ भी बेकार नहीं है ।

प्रसंगों के सिवाय जीवन में दूसरे किससे हमारा निर्माण हो सकता है ? इसलिए प्रसंगों में गुरु विराजमान है, ऐसी सजीव भावना यदि **जीव** रखता है उन प्रसंगों से छा नहीं जाता, लज्जित भी नहीं होता, तो फिर संताप तो कैसे पाएगा ? प्रसंग तो प्रत्यक्ष निर्माण करते

हैं । प्रसंग तो अच्छे भी होते हैं और बुरे भी, परन्तु हमें तो दोनों में ही प्रभुभावना ही दृढ़ करनी है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २३१)

* *

परिस्थिति में मिल जाना, ओतप्रोत हो जाना और फिर उसके अधीन होकर जीना– ऐसा लोगों के जीवन का प्रत्यक्ष क्रम है । साधक को ऐसा जीवन जीना योग्य नहीं । उसे तो सभी प्रसंगों में से अलग होकर उनमें से विकासक प्रेरणा पाकर आगे ही आगे बढ़ते रहना है । उसका जीवन के प्रति आशावाद शक्तिप्रेरक हो जाना चाहिए । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २३१)

* *

पूजा-अर्चन-आचार

(अनुष्टुप)

पूजा, अर्चन, सेवा सारी, प्रभु पाने दिल में;
यदि ऐसा होता न हो, तो भूले हो कहीं पड़े ।

पूजा, आदर जो करें, महत्त्व उसका कुछ नहीं,
किन्तु उससे क्या पाते हैं लाभ, यही महत्त्व वहाँ ।

विधि या मान्यताओं में रहें न जकड़कर,
भाव-प्रागट्य वे सभी उपयोग के ।

मुझे महत्त्व मत दो दीजिए वह सत्य को,
सर्वश्रेष्ठ गिन **भाव** उसे योग्य महत्त्व दें ।

व्यक्ति, परम्परा से सब सत्य महत्त्व अति,
सत्य को संभाले रख वैसे भाव से जीएँ ।
आचरण हेतु ज्ञान हमारे जैसे दिल से,
विकास होता उतना जीवन सर्व निश्चय से ।
धर्म-आत्मा बंद हुआ आचार-पिंजरे में ही,
आचार - पिटारे से बाहर होकर तत्त्व जगाएँ ।
सारे आचार किये हैं उस शक्ति को जगाने,
किन्तु आचार से सारे धर्म-प्राण चले गये ।
आचार मुरदे जैसे आज तो प्रचलित हैं,
उसे जो ग्रहण करे नहीं पा सकते प्राण ।
किन्तु आचार को जो भाव-ज्ञान हृदय में होने,
स्वीकारते प्रभु वास्ते जन्मे उससे चेतना ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ३, ८३, ८५, ८६, ९५)

* *

पुरुषार्थ और कृपा

पुरुषार्थ और कृपा के झगड़े या चर्चा बेकार है । पुरुषार्थ भी है और कृपा भी है । अकेली कृपा पर झुकाव देनेवाले के लक्षण होते हैं । उसमें शरणागति, प्रेमभक्ति, अपार श्रद्धा आदि जीवंत सक्रिय हो गये होते हैं । ऐसों का जीवन तो निरा पराक्रम से भरपूर होता है । वे भले ही कृपा के बल पर भार देते हों पर वे संघर्षरत तो होते ही हैं । कृपा प्राप्त करने के लिए जो आवश्यक शर्तें निभानी पड़ती हैं, उस स्थिति को पाने के लिए भी पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता है । कृपा में माननेवाले **जीव** की अहंता प्रतिदिन निर्मूल होती जाय;

अपने किये कराये में रचे न रहे, जिस-तिस में प्रभु को ही देखे और सोचे । ऐसे उसके भी माप और लक्षण होते हैं ।

पुरुषार्थ करनेवाला **जीव** यदि हृदय की सच्ची नेक दानत से प्रेमभक्तिभाव से साधना करता होगा तो उसका अभिमान, अहंता अवश्य गलते जाएँगे । पुरुषार्थ भी किसलिए है ? मनादिकरण श्रीहरि की भावना में मिलकर उसमें घुल जाय और वह उसका यंत्र हो जाय उस हेतु से तो वह उस साधन में प्रेरित हुआ है । जो सच्चा साधक है, उसे उसका अभिमान बढ़ता जाता होगा तो क्या उसका उसे पता नहीं चलेगा ? और पता चल जाय तो क्या वह अभिमान पोषा करेगा ? साधक जैसे-जैसे साधना में आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके विवेक की आकलन शक्ति में भी सूक्ष्मता आती जाती है । साधना में आगे जाकर यदि सूक्ष्मता निम्न प्रकृति के आक्रमणों में दिखाई देती है, तो सूक्ष्मता उसके ऊर्ध्व में—करणों में भी—प्रगट होती जाती है; इससे प्रारंभ में साधक जैसे अपने अभिमान को कभी पोषेगा नहीं वैसे आगे जाने पर वही साधक ऐसी सूक्ष्मतम आक्रमण होने पर विवेकशक्ति की सहायता से उनके निवारण के लिए प्रभुकृपा से प्रयत्न करता रहेगा, यह भी अनुभव की बात है ।

कृपा को अवलंबन के रूप में जो **जीव** हृदय में हृदय से माना करता हो वैसा **जीव** क्या खाली पड़ा ही रहता होगा ? खाली मुँह से बोलना एक बात है और मानना वह दूसरी बात है । फिर मानना और उसी के अनुसार अमल में लाते हुए अनुभव में लाना वह तो फिर दूसरी ही बात है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २७१-२७३)

* *

हृदय से कृपा में माननेवाला **जीव** कभी भी जीवन में लोटता नहीं रहेगा । वह अपने मानसिक भावों में खिंचेगा भी नहीं । वह तो जिस-तिस में कृपा को पुकारता रहेगा । कृपा का ज्ञानभाव रखता है । कृपा के अवलंबन में माननेवाला **जीव** यदि ऐसा मानता हो कि उसे कुछ नहीं करना है, कृपा के योग्य भी नहीं रहना, उसका माना हुआ अवलंबन सही नहीं है यह निश्चित जानें ।

कृपा के आधार पर जो जीव पुरुषार्थ करता है, उसे अभिमान जागने का कोई डर नहीं हो सकता । 'पुरुषार्थ' और 'कृपा' एकदूसरे से जुड़े हैं । कृपा में पुरुषार्थ है, पुरुषार्थ में कृपा है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २८२-२८४)

* *

प्रारंभिक साधक के लिए प्रथम प्रचंड पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है । पुरुषार्थ होता रहे और कृपा की प्रार्थना भी करता रहे; कृपा की मदद हृदय से याचना करता रहे यह भी महत्त्वपूर्ण है । परन्तु ऐसा प्रारंभिक साधक— और वह भी ठीक-ठीक लंबे समय तक— मात्र कृपा के अवलंबन पर ही रह सके ऐसा उसमें शक्ति जागी नहीं होती है । इससे उसे स्वयं कृपा के बल को न्योता देकर, अपने से हो सके सारा पुरुषार्थ करने में समझदारी और विवेक आवश्यक है ।

('जीवनमंथन', आ. ३, पृ. २८५)

* *

अपनी निष्ठा और जोश से पुरुषार्थ के साथ सद्गुरु के आशीर्वाद और उसकी कृपा आवश्यक है, इसकी ना नहीं; परन्तु स्वयं भी कुछ भी किये बिना उसकी कृपा पर ही आधार रखा करेंगे तो वैसी कृपा मिलनी संभव नहीं । सारे करणों का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की शरण प्राप्त होने पर ही साधना सहज साधना की प्रक्रिया में बदल सकती है ।

स्वतंत्र रूप से कृपा के प्रत्यक्ष अस्तित्व और वास्तविकता है। कृपा का किसी प्रकार का ढाँचा या बंधन नहीं होता, या किसी प्रकार की शर्तों से बंधी नहीं होती; परन्तु इस बात को शुरु के साधक को जरा भी महत्त्व नहीं देना है। प्रभुकृपा से अपने सत्प्रयत्न में ही अखंड चैतन्य झुकाव वह दिया करे, वह उसके लिए श्रेयस्कर है।

* *

गुरुकृपा जैसे कुछ होगी तो साधक को प्रामाणिक सत्प्रयत्न उसे खींच लाएगा ही। फिर सही रूप में साधक या शिष्य सब प्रकार से और सब ढंग से गुरुकृपा पर आधार नहीं रख पाता। वह तो उसका खाली भ्रम भी हो सकता है।

गुरु की कृपा यह तो साधक से होते जाते पुरुषार्थ की भावना से फलित होता **भाव** है। अथवा बहुत तो वे दोनों भावना एकरूप से परस्पर जुड़ी हुई हैं।

जो अपेक्षा रखी हो या हो उसे योग्य यथार्थरूप से भूमिका हो तो ही ऐसी अपेक्षा परिणाम ला सकती है।

गुरुकृपा तो हो या न भी हो, पर हमें तो हमारा जो स्पष्ट ध्रुव हो, उसे ही संपूर्णरूप से हृदय की भावना से मजबूत पकड़ के रखना है। ('जीवनमंथन', आ. ४, पृ. ३४, ३५, ३६)

* *

पुरुषार्थ

(अनुष्टुप)

लगती हो न कहीं भी आशा – किरण एक भी,
वहाँ पुरुषार्थ छोड़ देना वह योग्य नहीं।

कर्म को दृढ़ करने मर्यादा कब आ जाती,
मालूम नहीं हो पाता चिपके रहें योग्य वहाँ ।

जैसे किसान धूप और वर्षा में तपे भीगे,
–तपश्चर्या के अंत में पाता सुंदर धान्यश्री ।

पार उतारने जो चाहा तो वह भी वैसे का वैसा,
सरलता से प्राप्त होता नहीं कभी किसी को ।

मार्ग में ठोकरें जो–जो मिलें उन्हें स्वीकारते,
सत्कारेगा प्रेमभाव से तो जन्मेगा भाव कर्म में ।

जिसने भी कुछ पाया वह सर्व को जग में,
कई अवरोध आयें, न हटने से मिला सही ।
खाली–खाली नहीं यह सारी बातें बुद्धि की,
उसमें तो खेलने हैं महा कई जंग जीवन में ।

बैठे रहने से किस तरह चलेगा कुछ ?
'सोये शेर के मुँह में भक्ष्य स्वयं नहीं आये ।'

बहती क्या हुई गंगा जब फोड़ पहाड़ कई,
विघ्न हटाने को स्वयं त्वरा से क्या तब बढ़े ।

लिया पार उतारने जिसकी निष्ठा अपार,
एक दिन जीतेगा ही वह निश्चय जानना ।

भले ही आज नहीं हो कल वह बनेगा ही,
रह के निश्चय ऐसे जीवन में लगे रहना ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ७७, ९१, १८१)

* *

आराम से न मिले राम

(अनुष्टुप)

'प्रेम-प्रवासी' के दिल आराम-शांति जो बसे,
शक्तिमान सब रीत से सर्जन करने नया हृदय में।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ७९)

* *

आराम आलसी का तामसी मृत्यु से भरा,
ऐसा आराम सर्जे क्या मोहनिद्रा से जो भरा ?

('जीवनसोपान', आ. १, पृ. ४४)

ऐसे * *

जो आराम की इच्छा करे आदर्श को पंगु करे,
आराम से ना मिले राम यदि निर्माल्य जो बने।
सड़ गया हो अन्न ('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ६३)

* *

पुरुषार्थ के अंत में शांति-आराम जो मिले,
भोग डाले वह यदि, कुछ सर्जन न होगा।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ७९)

* *

जिंदगी-ध्येय के लिए जो असंतोष जगेगा,
कैसे भी चैन न रहने दे कहीं मानवी को,
ऐसा जो हो असंतोष जानता नहीं उद्विग्नता,
ऐसा जो हो असंतोष जानता आराम को नहीं।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ६३)

* *

प्रकृति की चालबाजी, छिपे वेश में

(अनुष्टुप)

प्रकृति प्रकृति जानो न मिश्र करो दूसरा उसमें,
उसमें मिलाया यदि कुछ तो मिश्र हो जाओगे ।

कौवे को कौवा मानिए, श्वान को श्वान मानिए,
शंभुमेला करो नहीं, भिन्न भाग गिना करें ।

'प्रकृति कैसी अपनी' जानना शुद्ध रूप में,
प्रभु को वहाँ मिला के आपदा न खड़ी करें ।

प्रकृति से होते काम, इसका जोश जितना,
जानना चाहिए पूरा; इसके बिना न चले ।

'प्रकृति में मिश्रित है चैतन्यशक्ति ईश की,
जुड़े रहना है जीवन में ईश-भाव से ।'

प्रकृति के प्रवाह सभी अंतर से फेंकने की
—आती है कला जिसको, वे ऐसा भेद पाते ।

बुद्धि की कल्पना रम्य दौड़ाये कुछ न मिले,
पहचानकर प्रकृतिरूपी शक्ति दिखाना दिल से ।

अंतर से फेंकना प्रकृति के प्रवाह को,
- कर वही सके, जिसे शक्ति पैदा हुई होगी ।

तरंगों के अनुसार बर्ताव छोड़ना पड़े,
हेतु का भान व ज्ञान रीति से बर्ताव करना पड़े ।

अंतर में सूक्ष्म जोश प्रकृति से परे सही,
–लगने लगता तब अनुभव पहचानेंगे ।

चाहे जैसी भले हो हम में रही प्रकृति,
प्रकृति प्रकृति रूप दिल में परखा करें ।

मिश्रित न करें उसे ईश के भाव साथ कुछ,
बुद्धि से समझें कि वह प्रकृति प्राणवान है ।

रहा चेतनातत्त्व प्रकृति के भीतर का सब,
भले वह चेतनातत्त्व ईश के मूल का सभी;

पानी अस्वच्छ यदि हो पानी होता पर कभी,
—पीने को कोई न रखे, न पीने को वह पथ्य ।

प्रकृति प्रकृति से जीतेंगे ऐसा मान के,
अपने आपको ऐसे मिलने नहीं दो कहीं ।

प्रकृति में मिश्रित है कुछ हो ईश का भले,
बना वह प्रकृतिरूप चेतना प्रकृति रूप से ।

कुछ प्रकृति का ऐसा, शुद्ध तत्त्व न ईश का,
शायद पड़े भुलावे में उसे प्रकृति में गिनकर ।

दूध से बने छांछ, छांछ इससे न दूध है,
पड़ना नहीं इससे घोटाले में कभी दिल में ।

वृक्ष में वृक्षरूप है पानी में पानीरूप है,
पृथ्वी में पृथ्वीरूप है वैसे ही प्रकृतिरूप ।

पहले तो प्रकृति से छुटकारा लेना होगा,
बोध पूरीतरह से हृदय में लाना होगा ।

सारे ही कर्मों में भाव प्रभु के भाव को धर,
होने रूपांतर पूरा जुटे रहें चाहकर ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ७८ से ८०)

* *

प्रकृतिजन्य प्रवाह

(अनुष्टुप)

प्रवाह प्रकृतिजन्य नकारात्मक हो भले,
किन्तु इसमें से तो ज्ञान मिला हमें करता ।

बोध लेने को मिला है भूमिकारूप विश्व ये,
कर्म से जो अतिरिक्त चेतना समझें हृद से ।

जो भी कोई प्रवेशता, गुण-प्रभाव से कर्म में
गुण प्रकार भान रखें सविशेष जान लें ।

गुण का भान न चले, इष्ट धारणा हृद में,
आरपार सभी कर्म में जीवंत रखनी चाहिए ।

हमारे में रही है प्रकृति त्रिगुणात्मक,
अपने उस स्वभाव से बर्ताव कराएगी जग ।

ईश की चेतनाशक्ति प्रकृति में क्या गूढ़ रहे,
यंत्र जैसे चलाती है विश्व को मूढ़ता से वह;
स्व हृदय में किन्तु चेतनावंत जो रहता,
विवेक-शक्ति से हृदय जागृत वह रहा करे ।

सर्व प्रवृत्ति में वह तो धारणा के तंतु से,
चूकें नहीं वहाँ निरंतर पिरोकर रहें ।
इष्ट की धारणा सभी अच्छी या बुरी बात में,
रखना पड़ेगा सर्वत्र ऐसा अभ्यास भाव से ।
प्रकृतिजन्य स्वयं में प्रवाह जो उठा करें,
खरोंच आये बिना संयम से समता धरें;
प्रवाहों की गति कहाँ वह प्रेरती है ले जाने,
अटूट व समग्र देखना सदा ही रखें उसे ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १४८)

* *

मानव-प्रकृति

(अनुष्टुप)

चलना नहीं चाहिए प्रकृति के स्वभाव से,
स्वतंत्र इससे कोई शक्ति मान हृद बर्तें ।
प्रकृति प्रवाह सारे मिथ्या उन्हें नहीं गिनो,
उनमें सारे भाव रख ऊँची कर रखे कक्षा ।
प्रकृति के तीनों गुण जीवन में काम के सही,
कैसी भी हो भले कक्षा, कोई आधार चाहिए ।
आधार जितना शुद्ध दिव्य वह उतना होगा,
जागी हुई चेतना-शक्ति प्राण वह अधिक प्रेरेगी ।

* *

प्रकृति-कानून जानने से ज्ञानी कोई न हो जाता,
प्रकृति से होने पार यत्न जो, पार वह होता ।

* *

प्रकृति तो प्रभु की है, प्रभु बिना न किसी के,
–ताबे वह तो होगी ही, जानें निश्चय हृद में ।
बिना पाये प्रभु को कोई प्रकृति पार न होगा,
प्रभु को पाने से यह सिमट जाएगी हृद में ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ९६, १६०)

* *

चैतन्य शक्ति दिल की पूरी तरह जगावे,
बिना साधना के हमें यों होना संभव नहीं ।
प्रभु पर निर्भरता अधिक होनी चाहिए;
किन्तु चेतना से वह हम में होनी चाहिए ।
तामसी प्रकृतिवाले जड़ता में रहकर,
शरण में रहे स्वयं माना करे चाहकर ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १०१)

* *

प्रसंग

(शिखरिणी–मंदाक्रान्ता)

सभी छोटे बड़े जो प्रसंग निज जीवन में मिले हैं,
बेकार वे नहीं आते जरूर प्रभु का गूढ़ हेतु रहा है;
विघ्न जहाँ जहाँ आयें वहाँ प्रकृति निज की मानना,
जीत लेने उसे हृदय से होशियारी दृढ़ रखना ।
प्रभु सयाना ज्ञानी तुम से ज्यादा; श्रेय् जो है तुम्हारा,
–तुम्हें प्रेरे वहाँ, तब भी ध्यान नहीं बैठे पूरा;

स्वभाव से खींचकर जीवन निर्माण के प्रसंग गँवाते,
हो क्यों फिर बेकार का दोष उसीके सिर पर देते ?
बेकार ना कुछ व्यर्थ होता है सभी में हेतु उसका,
रहे छिपा हुआ सकल जीवन में जुड़ा हुआ वह तो ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०, ५०, ५१)

कसौटी * *

प्रसंग देते हैं प्रभु कृपा कर हमारा सत्त्व देखने,
'स्वीकारो किस तरह मन-हृदय से' परख लेनें;
कैसा भी हो सहन करें पर वहाँ से न हट जावें,
प्रभु को स्मरण करके सभी कुछ सौंपा **उसे** करें ।
तमन्नावाले को अवरोध कर कोई न कहीं ऐसा,
होने दे वह अवरोध खड़ा, क्या करे वह परीक्षा !
निर्माण वास्ते दृढ़ जीवन मिले आधि, व्याधि, उपाधि,
कर सको ऐसा तुम जीवन वहाँ इतनी कसौटी ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ५४, ७४, ७५)

* *

(अनुष्टुप)

मिलता न बेकार कुछ, सर्व में हेतु समाये,
हेतु को जानने ज्ञान-दृष्टि जागृत रखें ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०१)

* *

(शार्दूलविक्रीडित)

जो भी सारी परिस्थिति जग मिले वे भी विकासार्थ हैं,
इस तरह उपयोग शक्ति का कर तत्त्व को खोजना है ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ५४)

(अनुष्टुप)

अधूरे हम होते हैं किसी न किसी बात में,
दूजे अधूरे अन्य बात में एक समान सब में ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २४)

* *

लेना प्यारा लगता है, देना नहीं लगता है;
जो सब दिया करे, लेने का हक्क पाता है ।

साधना से भिन्न ऐसा कहीं नहीं जीने जैसा,
जीवन साधना से ना भिन्न है ऐसा जानना ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ३०, ८३)

* *

प्रार्थना

प्रार्थना यह तो जीवन का प्रत्यक्ष सहारा है। जीवन को योग्य बल, प्रेरणा, सहानुभूति, धीरज, हिंमत ऐसी ही प्रार्थना से मिल जाती है— यदि प्रार्थना की कला, साधक को प्राप्त हो तो। **जैसे शरीर साफ रखने के लिए नियमित नहाना है, वैसे अंत:करण को स्वच्छ और शुद्ध रखने के लिए प्रार्थना है।** परन्तु वह स्वयं मनोभाव और भावना से होनी चाहिए। प्रार्थना जीवन को तेजस्वी बनाती है। प्रार्थना यह कोई निर्बल भावना की अभिव्यक्ति नहीं है, परन्तु भाव को योग्य प्रकार का आकार देने का एक उत्तम साधन है। प्रार्थना के निरन्तर आर्द्र अभ्यास से कर्मों में दोष कम होते जाते हैं; इससे जीवन में सद्‌विचारों की प्रेरणा भी मिलती है। ('जीवनसोपान', आ. १, पृ. १३७)

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २७१)

* *

किसी की सेवा करना, सद् व्यवहार करना, सत्कर्म करना, सदाचारी और परोपकारी रहना और होना; ये सभी एक प्रकार की प्रार्थना की ही रीति है; परन्तु हमारे मार्ग में सबसे अधिक गहरी असर करे ऐसी प्रार्थना तो ईश्वर का ध्यान, मननचिंत्वन है । प्रार्थना के अभ्यास से मनादि करणों में शुद्धि प्राप्त होती है । जीवनविकास में प्रार्थना का महत्त्व अमाप है । प्रार्थना की हमें ऐसी गरज होनी चाहिए; उसके बिना इसमें सच्चा उठाव नहीं आ सकता । पुरुषार्थ से होने के लिए बहुत समय लगेगा और कभी तो असंभव जैसा भी लगता है, तब भी प्रार्थना के बल से वैसा-वैसा होता जाता बहुतों ने अनुभव किया है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २७२)

* *

प्रार्थना जैसा चेतनावान और बलवान दूसरा कोई साधन नहीं है । हृदय में हृदय के सच्चे भाव से आर्तनाद और आर्द्रभाव से जो **जीव** इसका आश्रय लेता है, उसे वैसी प्रार्थना कभी निराश नहीं करती; ऐसी है प्रार्थना की अंतरतम शक्ति । परन्तु **जीव** की कैसी परम लाचारी है कि उसे प्रार्थना की शरण लेने का कभी सूझता ही नहीं ! कोई **जीव** करता है तो वह कैसी निर्बल, प्राण बिना की । जब कुछ सच्ची गरज लगे, कुछ गहरा दर्द हो, बहुत ही सालने लगे, तब जो प्रार्थना होती है, उसमें भी दर्द से जो प्रार्थना होती है यानी कि जिस प्रार्थना के भाव में अंतर का दर्द व्यक्त होता है, वैसे उस समय की प्रार्थना का भाव ही कुछ और है । प्रार्थना करने से सारे काम हो सकते हैं । वह कितना सरल, सहज और उत्तम साधन है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ७१-७२)

* *

बालक को देखते उसके जैसी निर्दोषता जीवन में प्रकट हो, कोई प्रेमी सचमुच हृदय के प्रेमभाववाला देखें तो उसके जैसा निर्दोष प्रेम प्रभु के प्रति हमारे जीवन में प्रगट हो; कोई कार्यनिष्ठ, कार्यरत **जीव** को देखें तो उसके जैसी पद्धति हमारे ध्येय के प्रति हम में प्रकट हो; किसी साधु पुरुष को देखकर उनके जैसी साधना करने की तीव्र तत्परतावाली भावना और शक्ति तथा वैसा ओज हम में प्रभुकृपा से आये; कोई निर्मल भाववाली बहन या माँ देखें उनके जैसी निर्मलता हम में उद्‌भव हो; किसी नैसर्गिक सुंदर दृश्य देखते उसके जैसा प्रभु का आविर्भाव पैदा हो; वेगशील नदी को देखकर उसके जैसे उत्साह और उन्माद से सतत वेग से जैसे अपने ध्येय के प्रति बढ़ा करती है वैसा हमारे जीवन में हो; ऐसे अनेक जीवन में प्राप्त प्रसंगों और दृश्यों में ऐसे भाव जागृत रखकर प्रकट करके, हृदय में, विकसित करके, ध्येय के उद्देश्य को फलित करने के लिए उस प्रकार की हृदय से प्रार्थना करनी है, यह भी एक बहुत बड़ा साधन है। ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८७-८८)

* *

प्रार्थनाभाव से प्रवृत्तियाँ

(अनुष्टुप)

अन्न या स्थूल ऐसा जो आये त्यों उपयोग हो,
चेतना-शक्ति प्रेरित मान के ग्रहण करें ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ९)

अन्न से तो टिके प्राण, चेतना सही अन्न में,
शक्ति उत्पन्न करने जीवन में माने यह सभी ।

पानी पिघलाने हेतु हम में रही वक्रता,
पानी को लेते समय रखें ऐसी धारणा को ।

दुर्वृत्तिरूप त्याग सब मल द्वारा जाता दिखे,
होने दूर उस वक्त प्रार्थना हो हृदय से ।

सोते समय सो जाता रहा स्थूल हमारे में,
'जागते सोते रहेना' करो प्रार्थना ऐसी उस पल में ।

प्रार्थनाभाव दिल में दृढ़ सभी कर्म करें,
बिना भाव से हो काम सभी बेकार ही गिनें ।

प्रार्थना दिव्य शक्ति की सब आधार शुद्ध होने,
नित्य चाहिए करनी, भाव यत्न द्वारा उसे ।

खाओ, पीओ, सोओ, बैठो, उठो, सभी किया करें,
मानकर वही धारणा **उस**की वह सभी किया करें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १०६, ११८)

* *

भोजन-प्रार्थना

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वीकारो प्रभु अल्प अर्घ्य करें शुद्धि सारे कोषों की,
चेतावें हृद शक्ति मुझ जीवन में अहा ! चेतना भरी !

('विधि-विधान', आ. ४, पृ. ९६)

* *

प्रारब्धवाद और पुरुषार्थ

प्रारब्धवादी मानते हैं कि संसार में सभी कुछ भगवान निश्चित करके रखते हैं और प्रारब्ध या विधाता ने विश्व के लिए निश्चित योजना (कर्म के लिए) निर्माण कर ही रखी है और उसी अनुसार हुआ

करता है । ऐसी मान्यता में बहुत भ्रम रहा है । भगवान का भाव तो नित्य-नित्य नूतन रहा करता है । जीवन में कर्म का परिणाम, फल है सही, पर फिर, **जीव** में नया रचने की—नया प्रारब्ध खड़ा करने की—भी स्वतंत्र शक्ति, प्रभु ने दी है । 'कुछ नया नहीं हो सकता' यह भी गलत भ्रम है । जैसे गुरु को हम चलाएँगे और हिलाएँगे नहीं तब तक वे हिलने और चलनेवाले भी नहीं; उसी प्रकार भगवान का भाव भी निष्क्रियता से चेतनरूप हम में विद्यमान है, उसें जो काम में लेता है, उन्हें ही वह मददरूप, चेतन रूप रहा करे हैं । वह भाव हम में और हम कल्पना न कर सकें ऐसे किसी स्थान में बसता है ऐसा केवल नहीं, वह हमारे हृदय में भी है । ऐसे भाव का यदि सतत अंत:स्थ होकर उपयोग किया जाय तो अकल्पनीय परिवर्तन अवश्य आ सकता है । ऐसी सारी संभावनाएँ हैं । विश्व के विकासक्रम में जो विकास पाता जाता है वह कोई अकेला नया ही नहीं होता । वह किसी न किसी पुराने से ही रूपान्तरित हो जाता है । यद्यपि किसी भी वस्तु का विकास होते-होते उसका रूपांतर ऐसा हो जाता है कि मानो बिलकुल नया न हो ! ऐसा भी होता है; क्योंकि अंत:स्थ, हृदय का, भगवान का भाव यह कोई निश्चित नियंत्रित चक्रमाला रूप में नहीं होता । यह परम मंगलकारी शक्ति तो अनंत चेतनावाली और सतत विकासशील रहा करती होती है ।

प्रारब्ध के सिद्धान्त का विचार कर के जो पुरुषार्थ को छोड़ देने की बात करता है, वह या तो भ्रम में है या तो कायर है । हम सब कुछ करने के लिए शक्तिमान हैं । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २०७-०८)

* *

प्रारब्ध और आत्मशक्ति

(अनुष्टुप)

विगत कर्म-संस्कार प्रारब्ध भले ही गिनें,
दोष देने उसे जरा योग्य नहीं मानव को;
हमारे सर्व कर्म का परिणाम है वक्रता,
यद्यपि बांध न लेता कहीं भी हम को सदा ।

पिछली स्थिति का सच प्रत्येक कर्म को जानें,
—आये बिना नहीं रहे ऐसा परिणाम जानें ।

कारण जो रहे वे सब होने प्रत्यक्ष वहाँ मथते,
किन्तु वे कारण स्वयं पूरे न शक्तिमान हैं ।

मान लें यदि ऐसा 'कर्म से ही सब होता',
स्वतंत्र न हो पाता तो निश्चय ही कोई कभी ।

चेतना अंतर में गूढ़ विश्व की घटना में,
प्रभाव डालती होती अपना जो नहीं कभी ।

तो तो सभी पीछले कर्म और ये सभी जीवन में होते,
कर्म की चक्रमाला से पाना मुक्ति न संभव ।

मानवी किन्तु न यंत्र कर्म की घटना का,
जीवन मानवी का है कर्म से बलवान क्या !

कर्म का कानून एक सत्ताधीश स्वतंत्र जो,
कर्म पार होने ऐसे कभी न हो सकता ।

किन्तु मानव में आत्मा जैसा तत्त्व सदा बसे,
सर्वोपरि वह तो, आधीन न किसी के ।

विश्व की प्रकृति के जो बल काम आते दिखें,
ईश्वरी चेतना को वे मथेगा प्राकट्य वास्ते ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०४, १०६)

* *

'आज' और 'कल'

(अनुष्टुप)

समाविष्ट हैं भूत व भावी दोनों ही 'आज' में,
रख भविष्य का ख्याल चेते भूत से, वे जीतते ।

'आज' में संभव पूरा जन्म देने भविष्य को,
'आज' जो जीना जानता है, वही जीवन को पाये।

स्वतंत्र 'काल' से कोई मानव नहीं जी सके,
'कल' को घुमाने की संभावना 'आज' में दीखे।

आनेवाले कल के स्वप्न आज में जो खड़ा करे,
उसे भविष्य अपना भविष्य न फिर रहे ।

पिघला डालते भूत को जो आज से जीवन में,
भविष्य आज में उसका सर्व मिल जाता लगे ।

आज में कल का रूप प्रत्यक्ष जो पहचानता,
वही आनेवाला कल आज में प्रकट कर सकता।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ६९-७०)

* *

वर्तमान रहे भूत, भविष्य वर्तमान में,
तीनों ऐसे मिले हैं कि कैसे कोई जान सके ?

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १८)

आज का मूल्य जो आंके स्वयं जीवन से सही,
उसके आज से बदले क्या मूल्यांकन सभी !

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ७९)

आज अकेली आज स्वतंत्र न किसी तरह,
तब भी स्वतंत्रता हेतु प्रेरणा देती सदा ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ७८)

कल
भूत– आनेवाला कल दोनों का सुमेल आज में,
करे विवेकशक्ति से, जीवन में वह पाया करे ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ७८)

* *

प्रेम

प्रेम का साम्राज्य सारे विश्व पर आ रहा है । वह सचराचर सभी जगह है । प्रेम से ही एकदूसरे से जुड़े हुए हैं, जड़ पदार्थों में वह आकर्षण के नाम से पहचाना जाता है; जीवंत प्राणिओं में विषयवासना और उच्चतर स्वरूप में प्रेम के रूप में व्याप्त है । मनुष्य में पशुत्व के अवशेष और प्रभुत्व के बीज विद्यमान हैं ।

अपना सर्वपन और स्वार्पण के विषय में प्रेम जितना मौन रहता है, उतना ही निरभिमानी रहता है । अहंकार-मद और प्रेम इन दोनों के बीच कभी मेल नहीं खा सकता । प्रेम और मोह को भी तेजतिमिर

जैसा संबंध है । जितने अंश में मोह उतने अंश में प्रेम का अभाव । मोह अंधा है, प्रेम असंख्य आँखोंवाला है । उसमें विस्तार भी है और गहराई भी है । उसे समुद्र से अधिक व्योम की उपमा अधिक योग्य है । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १७६-१८२)

* *

प्रेम यानी ज्ञान । पूर्ण प्रेम और पूर्ण ज्ञान ये तो पर्यायवाची शब्द हो जाते हैं । अंतर शुद्धि के लिए शायद उत्तम में उत्तम साधन प्रेम की उपासना है । भगवान के आनंद-भाव का जीवन में व्यक्त होना और वह अनुभव में आना यानी कि उसी अनुसार सचराचररूप अनुभव करना, वह स्वरूप वह प्रेम । व्यक्ति के बिना ऐसे भाव का अस्तित्व संभव नहीं । इसलिए हम में भगवान के भाव का अनुभव करनेवाला और करानेवाला वही प्रेम । व्यक्ति व्यक्ति के बीच तथा व्यष्टि-समष्टि के बीज का द्वैत और अद्वैत दोनों की पहचान जो तत्त्व है, वह भी प्रेम । प्रेम में भाव है, गति है, स्थिति है और वह हृदय के एक बिन्दु में मिलता है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १६९)

* *

प्रेम की गर्मी धधकती हुई आग से भी अधिक है और उसकी शीतलता मलयानिल से भी अधिक शीतप्रद है । प्रेम का स्वरूप सौम्य भी है और रौद्र भी । दोनों स्थिति में वह कल्याणकारी है । प्रेम की पोषणकला सूक्ष्म, अति सूक्ष्म है । सर्जनकला इतनी सूक्ष्म नहीं है । इससे वह परखी जाय वैसी है । पर उसे परखने एकाग्र और केन्द्रित हुई ज्ञानभक्ति का उपयोग करना होता है । प्रेम से होता नाश यह उत्तम प्रकार के जीवन का रचनात्मक पहलू है; इसप्रकार प्रेम सर्जक है, पोषक है और विनाशक भी है । प्रेम की वर्षा, ऊष्मा, गरमी, शीतलता,

सौम्यता, रुद्रता, बल, आशा, सहानुभूति, प्रेरणा ये सभी सूक्ष्म प्रकार के आंदोलन हैं; इन सभी को पहचानने के लिए हृदय में प्रेम चाहिए । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ७९-८०)

* *

प्रेम को जूठनवाला प्रेम नहीं चल पाता, उसे तो कुछ भी जूठन कभी नहीं चलेगी । उसे तो काम आएगा हृदय का शुद्ध प्रेमभक्तिभरा पूर्ण समर्पण; इससे जरा भी कम नहीं । प्रेम रास्ते में यों ही नहीं पड़ा है । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. ११)

* *

प्रेम के व्यवहार पक्ष में संपूर्ण करुणादृष्टि ही बरसती होती है, उस करुणा के हार्द को भले ही हम न परख सकें या न समझ सकें पर इससे उसका अस्तित्व कहीं मिट नहीं जाता ।

* *

सच्चा प्रेम हक्क नहीं माँगता; प्रेम तो फना होने में अपनी फतेह समझता है । प्रेम का साम्राज्य तो हृदय पर है । प्रेम को दिखावटी भाव या मनोवृत्ति से कोई निसबत नहीं है । प्रेम में अपने को भूलकर जिस पर प्रेम है, उसके जैसा हो जाना होता है । प्रेम में माँग, आशा, अपेक्षा, बदले का कोई स्थान नहीं है । प्रेम तो स्वयं को न्योछावर करना ही जानता है । प्रेम का प्रत्यक्ष लक्षण आकर्षण है । प्रेम यानी स्वजन की गुलामी । प्रेम में तो त्याग, बलिदान और सर्वस्व का समर्पण आ जाता है । अपने अस्तित्व को मिटा देना ही उसमें रहा है । प्रेम में गैरसमझ नहीं है, बुरा लगने जैसा नहीं है, अभिमान नहीं है । प्रेम-भावात्मक प्रेम— जहाँ जहाँ प्रेम प्रकटता है, वहाँ नंदनवन प्रकटाता है; अंगार नहीं प्रकटाता । प्रेम में तप, कष्ट,

कठिनाई है; परन्तु उन सभी के सहन करने में क्लेश, झगड़ा या संताप नहीं जागता, प्रेम में कुछ भी घटने जैसा नहीं है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६३)

प्रेम के सर्जन का अंत नहीं है । वह तो सदा उन्नतगामी रहता है । उसकी दृष्टि नीची नहीं । वह दृष्टि नीची करता है, वह ऊपर उठने के लिए । प्रेम नीचे उतरता है सही, पर ऊँचा लाने के लिए । प्रेम मंथन करवाता है, पर उसके वैसे मथने में उस **जीव** को सच समझाने में संघर्ष करता है । प्रेम को समझने हेतु प्रेम में मिल जाना चाहिए । वह सदा जाग्रत है; सहज प्रयत्नशील है । प्रेम सबसे मुक्त होने पर भी सबसे अधिक बद्ध भी है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०३)

* *

प्रेम, जीवन - साधना

जीते हुए जीवित जो प्रेम के काज विश्व में,
सर्वार्पण करे भाव से वही मिश्रित प्रेम में ।
स्वीकारा नहीं जा सके व्यर्थ में प्रेम किसी से,
प्रेम की भूख कैसे बढ़े देने पर गहरी ।

* *

'प्रेम तो अंधा है' ऐसे लोगों को बोलते देखा,
किन्तु कहीं न विश्व में दर्शक प्रेम के जैसा;
अंधा प्रेम तो मोह जिसमें लोग खेल रहे,
गिनते हैं इससे स्वयं जैसा वे प्रेम को सदा ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १९४)

* *

संकलित रे' सभी में प्रेम अपने रीत से,
तब भी वह उनके जैसा किसी रीत से बनता नहीं।

* *

विश्व और सारे संबंध प्रेम पोषने को मिले,
यह देखकर जो बर्ते, जीवन में तत्त्व पाते ।
क्या सचराचर में प्रेम सूक्ष्म रहा सर्व में !
ऐसे प्रेम के साथ ही, सारे संबंध हमारे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १९५)

प्रेम से विश्व जन्म ले, पोषित विश्व प्रेम में,
ऐसी क्या प्रेम की लीला; मृत्यु पाता है प्रेम से !

* *

प्रेम की दृष्टि व वृत्ति कैसी अनंतगामिनी !
एक है तब भी सभी साथ मिल कर रहे !
घूंघट एक से एक कैसे अनंत जाति के !
सरकते ही उसके, होते दर्शन प्रेम के ।
लोहचुंबक खींचता लोहे को, वैसा प्रेम है;
—अपना तत्त्व सभी से क्या खींचता हृदय में ।
आँखमिचौनी तो प्रेम जीवन में क्या खेला करता !
खोज जो निकाले, उसे प्रेम ताली दिया करे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १९७-१९८, २००-२०४)

* *

आधीनता स्वीकारता नहीं प्रेम तो किसी की,
प्रेम किसी को ताबेदार करे नहीं ।

स्वतंत्र प्रेम ऐसा क्या बक्षे स्वतंत्रता सभी,
भ्रम में पड़ते हैं इससे सभी अज्ञान मानवी ।

संपूर्ण सात्त्विक बुद्धि प्रेम की आँख जानो
ऐसी आँख होती जिसकी, मिलती हैं दृष्टि प्रेम की।

प्रेम छिपा रहे छिपा रहे कैसे ! पता नहीं,
देखे वे ही यत्न करे उसे प्रादुर्भाव कराने ।

प्रेम को आश्वासन कोई बात कुछ नहीं,
आश्वासन अपना आरोपते तब भी मानवी ।

स्वतंत्र प्रेम की शक्ति अविच्छिन्नरूप से बसे,
कहीं भी पैठ सकता प्रेम, अगर धारणा हृदय में।

* *

स्वतंत्र रूप एक भी प्रेम का कोई भी नहीं,
अपने जैसा मानता प्रेम का रूप चित्त से ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ५४)

* *

मानव ! कोरी बुद्धि से पहचाने न प्रेम को,
भाव, ज्ञान, बिना योग प्रेम नहीं पा सकेगा ।

भक्ति बिना जरा-सा भी कोई ना हार्द पा सके,
भक्ति यहाँ अनिवार्य प्रेम को पाने संपूर्ण ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. २०६, २१९)

* *

प्रेम-समर्पण

(अनुष्टुप)

हृदय का प्रेम कहीं इच्छा अन्य की न धरे,
सर्वभाव से स्वयं का कर दे वहाँ समर्पण ।

प्रेम मात्र देना जाने, खुशी देने हेतु जो,
समर्थ प्रेम कैसा हो सर्वस्व त्यागने हेतु ।

देते प्रेम नहीं थके, कर अपने भाव से,
प्रसन्न अपने प्रिय को सदा रखना चाहे ।

सहना प्रेम के वास्ते उसे बोझ नहीं गिने,
प्रेम के भाव से धन्य वह जीवन को करे ।

प्रेमी में प्रेम का भाव जो उत्कृष्ट दिल में धरे,
कल्याण साधेगें ऐसे सर्व **जीव** का जग में ।

* *

अहैतुकी ज्ञान-भक्ति

(अनुष्टुप)

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भक्त के ये प्रकार हैं,
दूर कुछ उन सभी से उस पार जाना है ।

तीनों प्रकार के भक्त माँगे कुछ गहन ही,
नहीं प्रभु के पास से कुछ भी हमें माँगना ।

प्रेम भी माँगना नहीं, रहे उर में गहन,
स्वयं उद्‌भवकर के, **उसे** दिया करे सभी ।

श्रद्धा जो चेतनाशील रहे जीवंत दिल में,
बुद्धि ज्ञानवाली करके सभी संशय टालें ।
ज्ञानवान हुई है बुद्धि जिसकी रसात्मकता,
कहीं किसी भी बात में उसे न पड़े गुत्थी उर में ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. १५०-१५१)

* *

द्वन्द्वातीत प्रेम

(अनुष्टुप)

सर्व द्वन्द्वादि वृत्ति से पार प्रेम बसे सही,
द्वन्द्वादि वृत्ति का प्रेम योग्यता प्रेम में न वे ।
सच्चा प्रेम न परखा जाता द्वन्द्वादि वृत्ति में,
प्रेम परखने पार द्वन्द्वादि से होना पड़े ।
द्वन्द्व के चौकठ में तो प्रेम की भावना कभी,
बैठ न वे सके योग्य पूरे ढंग से भी कभी ।
प्रकृति अंतर में है काम जो चेतना करे,
कारक प्रेम की शक्ति वहाँ वे जाने हृद में ।
भूमिका-चौखट जैसे-वैसे सारे घाट धरे,
अतिरिक्तता इससे प्रेम-भाव और है ।
भले नहीं हो वैसी भूमिका, प्रेमभाव वहाँ,
-रही सर्वांतर में गूढ़ भाग वे निभाये सदा ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. २१९)

वस्तु-तत्त्व ही उसका सदाकाल रहा करे,
रूप व स्थान में फर्क जहाँ तहाँ हुआ करे !

प्रेम-संबंध किसके साथ ?

(मंदाक्रान्ता)

जिस किसी से मन दिल हो ऊर्ध्वगामी सदा रे',
जिस किसी से जगत जन की दृष्टि लुप्त होती;
जिस किसी से मनहृदय में सत्त्व भाव जागे,
उसके साथ हृदय भरा प्रेम-संबंध जोड़ो ।

जिससे प्रभु-प्रीति बढ़े भाव से आर्द्र हृदय,
जिससे समझ बढ़कर हृदय हो विशाल;
जिससे मन द्वारा जाती संकीर्ण सर्व वृत्ति,
उसके साथ हृदय भरा भाव-संबंध रखो ।

जिस किसी से निज जीवन की पहेली हल होती है,
किसी से मन में पड़ी वृत्तियाँ सभी मिलती हैं;
जिस किसी से निज जीवन के ख्याल संसारी छूटे,
उसके साथ हृदय भरा प्रेम की गाँठ बांधो ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. ३०-३१)

* *

जिस किसी से मन-हृदय में एकतान हो पाये,
जिस किसी से मन-हृदय में प्रेरणा प्राप्त हो;
जिस किसी से निज जीवन सार्थक होता लगे,
उसके साथ हृदय भरा प्रेम-संबंध रखो ।

जिस किसी से मन की सारी स्वार्थवृत्ति घटती,
जिस किसी से हृदय की भावनाओं विकसित हों;

जिस किसी से निज मन के तंतु बदले,
उसके साथ हृदयभरा प्रेम-संबंध रखो ।

जिस किसी से वे सभी से पर हो जाने को मिलता है,
जिस किसी से स्वरूप निज का अवलोकन होता है;
जिस किसी से मन मति सभी ठाम रहते सीखते,
उसके साथ हृदय भरा प्रेम-संबंध जोड़ो ।

जिस किसी से उर सरलता अपनेआप बढ़ती,
जिस किसी से मन, चित्त, मति भावना में रमा करे;
जिस किसी से प्रभुमय होने में सारा प्रेम जागता,
उसके साथ हृदय भरा प्रेम-संबंध रखो ।

* *

जिस किसी से समझ में आता 'राग-आसक्ति' वह क्या !
जिस किसी से समझ में आता 'वृत्ति-भावना' वह क्या !
जिस किसी से समझ में आता 'प्राण-प्रेरणा' वह क्या !
उसके साथ हृदय भरा प्रेम-संबंध रखो ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. ३१)

* *

गूढ़ता

(अनुष्टुप)

मानव-रूप है गूढ़, गूढ़ है मन मानव,
उस से भी मानव-शक्ति गूढ़ में गूढ़ क्या सही !

गूढ़ता की महत्ता क्या ! गूढ़ता मन खींचती,
जिसमें गूढ़ता जानी वहाँ स्वयं मन प्रेरे ।

गूढ़ता को जान सके किस तरह से जगत जन !
गूढ़ को जानने जाते, होता गूढ़ अति गूढ़ ।

जानने गूढ़ को ऐसे रीति क्या ग्रहण करनी रही !
अनादि काल से पूर्ण हल कोई नहीं कर सका ।

मानव-दिल का गूढ़ ऐसे सर्व स्वरूप में,
विचार, भावना, कर्म वहाँ तो क्या बदलेंगे !

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १९)

* *

प्रेम-पथ-निर्देश

(अनुष्टुप)

हुआ होगा प्रेम सच्चा योग्यता सभी रखेगा,
सत्य, विवेक, मर्यादा अपनेआप जगाएगा ।

प्रेम तो हमारा धर्म स्पष्ट रूप से बताएगा,
कितना अन्य में रहना, कितना निज प्रेमी में ।

मोह व कामना स्वार्थ, नहीं प्रेम के स्वरूप,
विकृत प्रेम का यह तो अंग, जानना भला !

भले पतंगा दीये के मोह-पाश में पड़ेगा,
हम जंतु नहीं वैसे, हम तो मानव रूप ।

श्रेय है हमारा कहाँ, प्रेम की सत्य भावना,
-बताये बिन न रहे, जीवन में रत यदि होंगे ।

बलिदान और त्याग अर्पण सब रीत का,
प्रेम तो माँग लेता है, निरपेक्ष प्रकार से ।

प्रेम तो यज्ञ की ज्वाला सब भस्म करवाए,
शुद्ध कंचन वह हृदय में जीवन में सब बनाएगा ।

प्रेम की भावना दिव्य कौन उसे समझेगा ?
दिल तो मानव के कैसे संकीर्ण जग में ?

प्रेमी स्वयं को महत्त्व न देगा कभी,
महत्त्व प्रेम को स्वयं दिया करेगा सदा सभी ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. ३६ से ३८)

* *

लेना प्रेम न जानता, देना सब कुछ चाहे,
अभेद से जुड़ने का प्रेम साधन-भाव है ।

* *

कराये प्रेम तो मुक्त; जैसा स्वरूप जिसका हो,
चिपके जिसके अंदर वैसी दृष्टि वृत्ति बनाता ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. ४७)

* *

प्रेरणा

(अनुष्टुप)

प्रेरणा आत्म-शक्ति की संभावना बतलाती,
कुछ आधार या मूल प्रेरणा को मिले नहीं ।

संपूर्ण सात्त्विक शुद्ध बुद्धि पूरी होती,
वैसी बुद्धि में तब सूक्ष्मता दिव्य मिलती;

वैसी बुद्धि तब भी न कोई प्रेरणा का स्वरूप है,
'आत्म-प्रभाव की छाया' प्रेरणा, जानें दिल से ।

विकास हो साधना का प्रेरणा को अनुसरें,
स्थूल व सूक्ष्म अंगों के होते तब रूपांतर ।

इन्द्रियाँ, चित्त, प्राण से हों जो अनुभव हमें,
द्वन्द्व से मुक्त उसमें होने से प्रेरणा मिले ।

स्वतंत्र प्रेरणा का है अंग दूसरे सब से,
स्वभाव आत्मा का ये है, इन्द्रिय आत्म की सही ।

उद्‌भवस्थान बुद्धि का सिर में जानें सभी,
दिल प्रेरणा का मूल उद्‌भव स्थान है वही ।

जहाँ हो चित्त निष्काम अहं निर्मूल सब होते,
संस्कार-लय पूरा जहाँ, प्रेरणा हो हृदय में ।

स्वयंभू प्रेरणा स्वयं प्रेरणा स्वयंप्रकाशी,
प्रेरणा-शक्ति से मूल पहचान ही सभी की ।

इन्द्रियाँ, बुद्धि व प्राण इन सभी की शक्ति सारी,
सूक्ष्म से सूक्ष्म वे होते प्रेरणा तत्त्व में बसे ।

साधक साधना में जैसे-जैसे गहरे जाए,
तब प्रेरणातत्त्व अंतर में उसके खिले ।

होये साधक को जब प्रेरणा के अनुभव,
साधना-आचरण में उसे खर्च किया करे ।

बिना संबंध विचार बिना किसी प्रयोजन,
उद्‌भव ख्याल होते वक्त आचरण दिल से ।
इससे लाभ होता जो कुछ आये अनुभव
जागृति रखके पूरी, आचरण नहीं चूकें ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०२-१०३)

* *

किसी धन्य बेला में दिल में जो लगता सही,
कर्म भावना प्रेरित बर्ताव से नया पाओ ।
भाव के योग्य जो कर्म होंगे तो प्रेरणा गिनें,
नहीं तो भ्रम हो जानें मिथ्या सभी प्रमाण में ।
एकांगी शुद्धता जिस में रहती केन्द्रित हृदय में,
बाह्य वृत्तियाँ आये उस पर हमला होने ।
दूसरे मानवों को तो स्वयं से वृति उठेगी,
उसे उतने गहरे स्वयं के मूल खोजने ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. ८४)

* *

'कर्म में यज्ञ व यज्ञ में बसे प्रभु' तो कहा,
कर्म का हार्द इससे प्रभु का तत्त्व जानना ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १५)

* *

आत्मनिष्ठ

(अनुष्टुप)

देखे बिना देखे स्वयं सुने बिना सुना करे,
चले बिना पैरों चले, सूंघे बिना सूंघा करे ।

चाखे वह बिना चाखे, सोचे बुद्धि के बिना ही,
प्रवृत्ति में प्रेरित हो संस्कारों के बिना करे ।
प्रेरणा से प्रवृत्ति आठों पहर हरपल,
–करे जो योग्य, संपूर्ण जाने उसे आत्मनिष्ठ ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०३)

* *

फना होना

(गजल)

जगत का सभी निश्चित अनामत रखकर जो,
प्रभुमय जो होना चाहे, सभी वे व्यर्थ मिथ्या है ।
'हमारी सारी दुनिया का हमारा ही रे' हमारा हो,
प्रभु यदि ऐसे मिलते हों, हमें तो मीठा लगे ।
तुम्हारे पाद व हाथ पूरे बांधे रखकर,
फिर तैरना सीखने की सारी इच्छा है बेकार;
तुम्हारी आँख की पट्टी से तुमने बांधना फिर चाहा,
जाने पंथ में आगे जाओगे किस तरह वहाँ ?
तुम्हारी आतुरता जिसमें, तुम्हारा प्रेम जिस में है,
सब रखे सलामत यों प्रभु को चाहना निरर्थक है,
पूरी कींमत देकर उसकी, सभी जो कुछ भी लेते हो
प्रभु को अकेले लिये बिना कींमत सभी चाहें ।
फना होने की जो हिंमत, फना होने का यदि साहस,
तुम में पूरे हों तो प्रभु पंथ में आओ जरूर ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ८०)

जगत में प्रेम हेतु फना होने फना होवें,
जीवन में ऐसा फना होने का निश्चय पैदा करें ।

फना होने में जिसे हृदय में आनंद पैदा होता है,
ऐसे आनंद से फिर जीवन में प्राण तत्त्व आता है;
समर्पण, त्याग बलिदान जीवन पथ में होने जिसे,
भावविभोर तैयारी, जीवन मिलेगा उस उसको ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ६४-६५)

* *

'सभी उसका बाकी है'

(गजल)

जीवन में सर्व कर्तव्य पसंद आये वही मात्र किये हैं,
जीवन में सर्व व्यवहार पसंद आये वही मात्र किये हैं;
जीवन में सर्व संबंध पसंद आये वही मात्र किये हैं,
था करना जो एक ही सही, वही कर्म बाकी है ।

सभी एकादशी कीं, सभी व्रतों का पालन किया,
सभी आचार-विचार पूर्ण सजगता से पालन किया;
जाकर देवालय दर्शन किये सो भी अनेक बार जाकर किये,
तब भी लगनी न लगी तो, सर्वस्व बाकी है समझें ।

जीवन मार्ग ममता का पूरा आग्रह रख पाला,
धरा जहाँ राग वहीं दे बैठे क्या प्रेम दिल का !
औ' इसमें भी क्या लगा दी कमाई जीवन की,
-न जाने वह, अभी तो जीवन कमाई सभी है बाकी ।

भले विद्वान सराहे, कवि मशहूर हो, लेखक
महान हो, हो कलाकार, भले संगीत-विशेषज्ञ;
भले चौसठ कला जानी, तब भी जीवन की सच्ची
-कला यदि जानी न तो, सभी उसका है बाकी ।

कथाएँ सुनाई हैं, प्रवचन कुछ दिये हैं,
सभी शास्त्र जानकर जगत को बोध दिया है;
परन्तु यदि जगत के सारे वृत्तों से न छूट पाये है,
धुरंधर भले गिनाते, तब भी सभी बाकी है ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १४२)

* *

बहनों के साथ व्यवहार

बहनों की ओर हमारा दृष्टिबिन्दु खूब ही भावशील (जिसमें से कठोरता और रूक्षता निकल गई हो) होना चाहिए । वैसे ही उनके लिए मान, आदर और पूज्यभाव की भावना हम में खूब विकसित होनी चाहिए । इसके बिना हमारे में रही विकार-वासना मूल से नष्ट नहीं होगी । पुरुषों ने अपने आप को सर्वोपरि मानकर जगतभर में वासना को अधिक पोषा है और स्त्रिओं को भी वैसी बना रखा है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०९)

* *

बहनों के साथ का भाव खूब निर्मल होने दें उसमें हृदय के प्रेमभाव का विकास किया करें । साधक को हृदय के भाव से नि:संकोच रूप से बहनों के साथ व्यवहार करना है । अधिकतर लोगों में एक प्रकार की फड़क और भड़क इस बात में देखी गई है । एक

प्रकार की छूत लग जाने का सूक्ष्म भय के भाव का अनुभव वे करते होते हैं । वैसा भाव होने में और सहने में जब कि तथ्य रहा है, पर असली हमारी प्राचीन संस्कृति में तो इस विषयक भाव बिलकुल अलग प्रकार का था; किन्तु संस्कृति का पतन होने से पिछले समय में ऐसे आदर्श के मार्ग में जानेवाले साधक के लिए कड़क नियम निर्दिष्ट हैं; वह भी योग्य था । फिर आज के समय में जहाँ स्वच्छंदता व्याप्त है, वहाँ विशेष योग्य भी हो । तब भी अलग रहने से अथवा तो फड़क और भड़क रखने से साधक उस वृत्ति से मुक्त हो सके ऐसा मानना वह अज्ञान है । ऐसी दूर और दूर रहने की एक प्रकार की सूक्ष्म भावना का यदि तटस्थतायुक्त पृथक्करण करेंगे, तो उसमें से जीवन से भाग जाने की, भय रखकर भाग जाने की वृत्ति दिखेगी । हमने तो जीवन का स्वीकार किया है । हमने ज्ञानभानपूर्वक जीवन में जो भी ऐसी बहनों के साथ प्रसंग आये, जो भी संयोग खड़े हुए, प्राप्त प्रवृत्ति अनुसार जिस किसी के संबंध में आना पड़ा, उससे दूर ऐसा कोई भय लेकर भाग जाने का न हो । ऐसा लिखने में किसी भी तरह असंयम सूचित नहीं किया । सर्व प्रकार के भय और संकोच से, दूसरों द्वारा या हमने उपजाये हों व बनाये हों व समझे हुए निषेधों से भी ज्ञानभक्तिपूर्वक मुक्त होना है । यह सभी पूरी जागृति से उद्देश्य तथा जीवनध्येय के ज्ञानभान के साथ हमें करना है । बहनों के अंतर-आशीर्वाद मिलें, तो वह जीवन में बहुत सहायक होता है । जीवन में शुद्ध प्रेमभाव का विकास एकाग्र और केन्द्रित हो, इसका ध्यान रखना है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. १०-११)

* *

बहनों के साथ व्यवहार विषयक 'भाई ! गहरे पानी में उतरने में सार नहीं', इसप्रकार के व्यावहारिक दुनिया की सलाह हम सुनते

हैं । बाड़ बांधकर जैसे खेतों के अनाज की रक्षा की जाती है, उसी अनुसार संसार व्यवहार की नीति को जैसे-तैसे करके बनाये रखने के लिए उपरोक्त कथन योग्य है । हमें तो याद रखना है कि जिसका कर्म में सचमुच जीवंत भाव रहता होगा, उसे किसी प्रकार के संकोच और भय की भावना नहीं हो सकती । जिसे जीवन की साधना यथायोग्य रूप से करनी है, उसे तो सर्वप्रथम अभय भावना विकसित करनी है । भय अनेक प्रकार के होते हैं । भय में अनेक प्रकार के संकोच भी रहते हैं । ('जीवनसंरशोधन', आ. १, पृ. १४०-१४१)

* *

बहनों से भय के मारे अस्पृश्यता न रखें, यह यथार्थ होने पर भी, साथ ही साथ उसके अधिक परिचय में यों ही आना हुआ तो सावधानीपूर्वक समझ-समझकर त्यागना है । अधिक आवश्यक है उसके योग्य संसर्ग द्वारा दिल में **जीव** प्रकार की वृत्तिओं से मुक्ति मिले ऐसे भाव रखने हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २७६)

* *

बहनों के साथ का संबंध और संपर्क के पीछे भाव का ज्ञान रखकर, संबंध का हेतु समझकर अगर बर्तना हो सके तो जो व्यवहार होने से किसी भी प्रकार का अनिष्ट जन्म ले संभव नहीं है । उनकी त्यागभावना, धीरज, सहिष्णुता, कोमलता, सर्वार्पणशक्ति आदि सारे गुण हमें जागृति रखकर हेतुपूर्वक रखने हैं । ऐसे सभी गुणभाव का उद्दीपन बहनों के साथ के संबंध से संभव हो सकता है ।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. १५२-१५३)

* *

बहनों के चरण में

(अनुष्टुप)

ओढ़ना पहनना स्वयं को ढाँकने मिला है,
उसमें से ममता जो छोड़ें, पहननें सभी ।

व्यवस्था तब भी सभी कला-सौंदर्य क्या भरी !
जीवन में रखने की है चेतना प्राण खर्च कर ।

प्रकृति में कहीं कुछ यद्वातद्वा नहीं है,
यद्वातद्वापन वैसा रखना नहीं है हमें ।

घरकाम दिल शक्ति जन्माने मिला गिनो,
जितना करोगे अच्छा उतनी शक्ति पाओगे ।

कला-सौंदर्य का भाव काम से जन्म ले हृद में,
प्रभुप्रीत्यर्थ जो काम होगा, चेतन पाएगा ।

मर्द का बढ़कर है काम ऐसा नहीं गिनो,
सभी का ही काम श्रेष्ठ, उसके विकासार्थ सब ।

प्रकृतिजन्य हो काम जो स्वाभाविक स्त्री का,
उस काम से उन्नति उसकी होगी जानना ।

अपनी प्रकृति से जो, भिन्न काम में झपाझपी,
-करे जो, वे बिगाड़ते काम प्रकृति का फिर ।

मुग्धताभरा सौंदर्य, मुग्ध कोमलता नर्म;
मर्द का श्रमित काम से स्त्री भी गल जाती ।

तत्त्व आकर्षनेवाला जो स्त्री में प्रकृति का रहा,
उस तत्त्व का होता नाश स्त्री के पुरुषकार्य से ।

अपना-अपना काम सभी वास्ते इष्ट, श्रेष्ठ,
स्वयं के काम में श्रेय रहा सभी का जगत में ।

न काम हल्का किसी का, ऊँचा न काम किसी का,
छोटा बड़ा नहीं कोई, सभी को एक मानना ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ११८-११९)

* *

(गजल)

रहो माँजते कैसे तुम्हारे ठाम-बर्तन सारे !
भला ! माँजना अंतर फिर भूला करते हो क्या ?

कोने-कोने से निकालो सभी कचरा पड़ा जो,
भला ! अंतर में रहा कचरा भूले हो निकालना क्यों ?

ऊँचे तिरछे और टेढ़े करो जाले सभी साफ,
हृदय पर लगे जाले फिर क्यों न करो स्वच्छ ?

शरीर को नित्य नहला कर पहनते कैसे स्वच्छ कपड़े!
हृदय नहलाने के लिए भला ! क्यों ख्याल रखों न ?

जरूर झाड़ते रहें भरा हो जो अंतर,
रहें सारा ऊँड़ेलते कुछ न संग्रह करे तिलभर ।

रहे छटपटाते कितने सारे बहाये अश्रु इसके लिए,
बहाये क्यों न अश्रु प्रभु की तमन्ना के लिए ?

खूबी यह हमारी कैसी ! अचरज यह करवाती है,
प्रभु को प्रार्थना है कि वे अंतर में हमें पहुँचाए ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. १३२-१३३)

* *

(वसंततिलका)

कल्याणदीप जीवन में प्रदीप्त कर तू,
बहना जीवनपथ ज्योतिर्मय कर तू;
मिले पथ में सभी का स्वागत कर तू,
बहना आनंद बहाती रहना सदा तू ।

* *

जो भी अनेकविध का तुझ को मिले,
गलत सच ग्रहकर विवेक से योग्य लेना;
संसार वह जीवन को विकासाने—
हो प्राप्त योग्य भूमिका प्रभु की कृपा से ।

('पुनित-प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ७४)

* *

बुद्धि

जीव कभी केवल बुद्धि से नहीं चलता । अपने मंतव्य, व्यवहार और बुद्धि अनुसार नहीं पर अपने आंतरसत्त्वानुसार बाहर के अनुभवों को ग्रहण कर निर्माण करता है । आंतरसत्त्व अर्थात् मन, प्राण, बुद्धि, भाव, पूर्व कर्म, वातावरण, निजी संयोगों का प्रभाव आदि । बुद्धि तो उसे केवल योग्य न्याययुक्त ठहराती है । बुद्धि स्वयं ही इन सभी से प्रभावित और उनमें से प्रभावित करती हुई अर्धशुद्ध है; इससे बुद्धि

पर ही आधार रखनेवाले सत्त्व से इतने ही दूर रहते हैं, जितने मंदबुद्धि और अंधश्रद्धालु । फिर ऐसे सदा संशयग्रस्त और इससे सत्त्वहीन रहना भी पूरी तरह संभव है । ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ६-७)

* *

भगवद्भाव के प्रति मुक्त होने के लिए बुद्धि की भूमिका का उपयोग करने के बदले हृदयतत्त्व का उपयोग करने से अधिक शीघ्र परिणामदायी रहता है। इसके लिए हमारी उत्कट जिज्ञासावृत्ति लगातार जागृत रहनी चाहिए। ऐसी वृत्ति का केन्द्रस्थान हमारा मन नहीं होना चाहिए वैसे ही बुद्धि भी नहीं, परन्तु वह वृत्ति हृदय की गहराई से उद्भवित् होनी चाहिए। बुद्धि की अपेक्षा हृदय इस बात में अधिक सरलता से परिणाम लाता है। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क और उसके ऊपर है; जब कि भाव का स्थान (अंत:करण का स्थान) हृदय है।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ८)

* *

मन बेकार नहीं, बुद्धि बेकार नहीं; परन्तु जो अधिक बुद्धिवाले होंगे और साथ ही जो आग्रही वृत्तिवाले होंगे तो उन्हें सत्य अपनी तरह नहीं गढ़ पाएगा।

बुद्धि में ज्ञानपूर्वक की जागृति तब आती है, जब जीवन में उद्भव होनेवाले अनेक प्रकार के प्रश्नों के हल वह तुरन्त सुझा देती है। अग्नि को छूते ही जैसे गरमी लगती है वैसे बुद्धि में उत्पन्न जागृति उस तरह काम देती होती है। बुद्धि में योग्य जागृति जीवनविकास के प्रति जब प्राप्त होती है, तब से उसकी शुद्धि होने की शुरुआत हो जाती है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १६६-१६७)

* *

मन-बुद्धि से प्राण या अहम् पर काबू नहीं ला सकते । उस प्रकार का नियंत्रण जीवंत नहीं रह पाता । मन-बुद्धि की समझ या निश्चय से प्राण पर अच्छी तरह टिक सके ऐसा जीवंत, चैतन्यमय संयम प्रकट नहीं हो पाया है । इसके लिए तो इससे पर की जो शक्ति है, उसके द्वारा ही उसे योग्य रूप से साधा जा सकता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३५२)

* *

मन जैसा सोचे वैसा समझ आये । मन सोचता है चित्त में पड़े संस्कारों के आधार पर; परन्तु फिर चेतनामय बनाने हेतु (प्रकाशित) बुद्धिरूपी चौकीदार हमें भगवान ने दिया है । ऐसी बुद्धि में शक्ति तथा तेज है । बुद्धि द्वारा किसी का भी ज्ञान जन्म ले सकता है । जीवन में जो कुछ समझ है वह बुद्धि के प्रकाश से उत्पन्न है । हमारे आधार में चेतन का कोई अत्यंत निकट का अंग हो तो वह बुद्धि है । जिस प्रकार का भाव जागे उसमें मनादिकरण डूब जाते हैं । परन्तु साधक की विवेकदृष्टि युक्त बुद्धि अपना योग्य धर्म बताये बिना नहीं रह सकती । जिस बुद्धि की विवेकदृष्टि युक्त बुद्धि अपना योग्य धर्म बताये बिना नहीं रह सकती । **जिस बुद्धि में सत-असत का संपूर्ण विवेक जागा हो, वह बुद्धि तो अंतर की आँख है ।**

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २१२-२१३)

* *

साधना के उत्तरोत्तर और उच्च क्षेत्र में एक कक्षा ऐसी आती है कि जहाँ बुद्धि देख नहीं सकती फिर भी वह वहाँ पर वह जब उपदेश देने लगती है, तब संकट पैदा होता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २८१)

बुद्धि में समता और निर्मलता प्राप्त होना यह तो बहुत ही दुष्कर है, जहाँ तक वह निर्मल न हो, अनेक प्रकार के पूर्वग्रहों से भरी है, वहाँ तक अपने 'अंतर की आवाज' को मान देने की बातें वाहियात है। फिर जो ऐसे गर्व लेते हैं कि 'हम तो अंधश्रद्धा या गड़रिये प्रवाह से नहीं चलते', वे लोग भूल जाते हैं कि जहाँ तक बुद्धि में अनेक प्रकार के मल और आवरण हैं, वहाँ तक ऐसी बुद्धि का परामर्श सदा सही नहीं हो सकता। इस प्रकार की बुद्धि का निर्णय यह सच्चा निर्णय है ऐसा पूरी तरह कभी नहीं मान सकते हैं।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ४२-४३)

* *

बुद्धि

(अनुष्टुप)

हमारे चित्त-संस्कार बुद्धि कर्मानुसारिणी,
खेलती खेल हेतु को भटकाने, घड़ी घड़ी।

पूर्वाग्रह रहे हैं संस्कार-बुद्धि में अनेक,
उससे जो जाना गया, होवे न सत्य संभव।

ऐसा जो सत्य-मिश्रित लगता, इसीसे जीवन को,
भूल विस्मृत कराये जाने जो कभी आ पड़े।

संस्कार बुद्धि जोश हेतु की शुद्धता विषयक,
करें उपयोग वहाँ घड़ी-घड़ी चेतकर।

सत्य का अंग एकाद बुद्धि से कोई जान सके,
समग्र सत्य बुद्धि से जान कोई न पा सके।

बुद्धि से समझा हुआ वह केवल दिखावटी,
कोई प्राण नहीं वहाँ आगे बढ़ने के लिए ।

तर्क-वितर्क या चर्चा शास्त्र की सारी परम्परा,
केवल बुद्धि से शुष्क साधन मापे न जाए ।

किन्तु निरुपयोगी ना ऐसा ही कुछ बुद्धि का,
बुद्धि भी न बेकार, यदि उसे सयाना रखेगा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. २७, ८२, १२२, १५१)

* *

(शिखरिणी-मंदाक्रान्ता)

न रंगे बुद्धि जहाँ तक सही रंग में वह भक्ति के,
न **मां** को आये वह मदद उपयोग में पूरी पहचानने में;
करे कोरी बुद्धि द्वारा जननी की खाली बातें, न पायें,
तलवार-धार पथ मरजीवा शूर, जो भक्त पाये ।

('श्रीगंगाचरणे', आ. १, पृ. २३)

* *

भगवान के दर्शन, अनुभव और साक्षात्कार अर्थात् क्या ?

भगवान के दर्शन अर्थात् अमुक काल्पनिक भाव यानी कि मन की कोई कल्पना नहीं । संस्कार परम्परागत दृढ़ हुई हम में इस बात की जो एक प्रकार की भावना है वह भी नहीं । शास्त्रों में वर्णित दर्शन की स्थिति भी एक प्रकार की मर्यादा है । भगवान के भाव का हमारे में प्रत्यक्ष होना उसका अर्थ यह है कि उस भाव के अंदर रहे हुए

तत्त्व–जैसे कि उसका सचराचरपन, उसकी अनंत अमर्याद शक्ति, अनेक प्रकार के गुणों और गुणों से पर की शक्ति, उसकी सविकल्पता और निर्विकल्पता आदि हम में प्रत्यक्ष अनुभवरूप में प्रकट हो, तब उसके दर्शन हुए गिनाएँगें । भगवान ने जो यह सृष्टि रची है उसके पीछे कोई गूढ़ उद्देश्य होगा ही–है; उस उद्देश्य को सिद्ध करने में प्रत्येक **जीव** जुड़ा है । हमें आत्मा की स्थिति का भान होने पर उस उद्देश्य के स्पष्ट दर्शन होते हैं और इसप्रकार हम उसके यंत्र बनते हैं । **हरपल ऐसी भागवत स्थिति में निरहंकारता और अभेदभाव से रहा करे और हरपल वैसे भागवती कार्य हुआ करें उसका नाम भगवान के दर्शन ।** ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४)

* *

श्रीभगवान के अनुभव के लिए अमुक शर्तें पूरी करनी होती हैं । उनमें से कुछ निम्नानुसार हो सकती हैं– श्रीभगवान के अस्तित्व का हृदय से ज्ञानभक्तिपूर्वक का निश्चय, 'सर्वरूप भगवान यह मेरी आत्मा है', ऐसी गहरी अंतर की ज्ञानपूर्वक की समझ, सर्वरूप भगवान ही है ऐसा हृदय में हृदय से ज्ञानभक्तिपूर्वक का स्वीकार, अपनेआप की पूरी पहचान, **उसे** स्वकर्म से संतोष देना यही उसकी पक्की समझ; ऐसा हम श्रद्धा से प्रतिदिन निश्चयात्मक बुद्धि से, हृदय से हृदय में यह सब बनाये रखें और यह सब गहराई से समझ में उतार कर उसका अनुभव किया करें, तो हम श्रीभगवान के हैं और वे हमारे हैं ऐसा तत्त्व का अनुभव होगा ही होगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ४५)

* *

साक्षात्कार यानी क्या ? यह तुम्हारा प्रश्न ठीक है ।

मनुष्य के जीवन में जो अव्यक्त ईश्वर का स्वरूप है, उसे एकाग्र और केन्द्रित साधना के भाव द्वारा प्रत्यक्ष कर, उसे क्रिया के प्रवाह स्वरूप में उसकी कृपा से बहते रखना उसका नाम साक्षात्कार । हमारे में जो अव्यक्त प्रभुमय जीवन है, उसे प्रेमभक्ति-ज्ञानपूर्वक की चेतनयुक्त जागृतिमय साधना के हर क्षण के अध्ययन द्वारा, जीवन में प्रत्यक्ष काम करते अनुभव करना यह है साक्षात्कार । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४२-३४३)

* *

हमारे में भी प्रभु की ही शक्ति कार्य कर रही है, परन्तु हमें उसका सच्चा, पूरा ज्ञानभान नहीं हो पाया है । हम तो प्रकृति की तरह और स्वभाव से जिस किसी से प्रेरित होते रहते हैं । हम **जीव**प्रकृति में हैं; जबकि साक्षात्कार पायी आत्मा तो प्रकृति की साक्षी, अनुमन्ता, भर्ता एवं भोक्ता होती है । ऐसा वह अपनी सफल प्रकार की प्रकृति में सहजभाव से अनुभव करता है । ऐसा करते-करते, होते-होते वह मात्र उतना ही है ऐसा भी नहीं । फिर वह स्वयं प्रकृति का ईश्वर भी है ऐसा भी उसके अनुभव में **उस** की कृपा से ज्ञान होता है । उस क्षण से वह अनुभव का सत्य कोई मात्र एक ही स्थान पर नहीं रहता, पर विस्तार पाकर समष्टि को स्पर्श करता है ।

साक्षात्कार प्राप्त ऐसी मुक्तात्मा की प्रकृति कोई उड़ (विलीन) नहीं जाती; वह रहती है और काम भी देती है, पर सामान्य मानव में वह (प्रकृति) शेठ बनकर व्याप्त होती है जबकि साक्षात्कार पाये

में शेठ के रूप में नहीं, पर चेतन के एक ज्ञानपूर्वक के करण रूप में प्रकृति रहती है । ('जीवनपोकार', आ. २, पृ. ३४३-३४४)

* *

भगवद्भाव जन्मे जीव को जानना

(अनुष्टुप)

प्रभु के भाव में जिसे धारणा उर बैठती,
प्रकृति के सारे उसे आएँगे खेल लक्ष्य में ।

प्रकृति पीछे का चैतन्य स्पर्श वहाँ होगा,
सभी में से प्रभुभाव हृदय स्निग्ध स्फुरेगा ।

मूल स्वरूप जिस रीति छाया पर से सूझे,
वैसे प्रकृति में से भी मूलभाव ले जाएँगे ।

प्रकृति प्रकृति तब उसे अनुभव न हो,
रूपान्तर सारा हुआ तभी दर्शन वहाँ हो ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ६८-६९)

* *

अपने में 'यमुना की गति' उल्टी हुई वह,
खुली आँख से निहार धन्य तब हृदय में होगा ।

विषय इन्द्रियों के सारे इन्द्रियों की तरह,
-नहीं आचरेगा ऐसा; वह दृष्टि लुप्त होती ।

ऐन्द्रीय विषयों में वे पिरोये हुए लगेंगे,
कर्म के कारक उसे आश्रय अपनाने पड़े ।

इन्द्रियों से सारा काम लिया वह करेगा फिर भी,
–गुलाम इन्द्रियों का न ऐसा वह होगा कभी ।

इन्द्रियाँ वश ऐसों की रहेंगी संपूर्ण सदा,
इच्छा स्वयं की जैसी हो, वैसे ही वह चलेगा ।

भिन्न दिखेंगे नहीं उसको प्रकृति व माया,
दोनों का रूप स्वयं में रहा है स्पष्ट लगेगा ।

जीतीजागती ही साधना तभी जीवन में होगी,
'भक्ति, ज्ञान और कर्म, ध्यान'—सुमेल होगा ।

सभी प्रकार के वहाँ अशांति-कारण भले,
—आते, वहाँ रहे शांति अपनेआप दिल से ।

तब वृत्ति होगी नहीं, भागने प्राप्त-कर्मों से
ऊब कुछ किसी से भी आये जरा भी न दिल में ।

प्रभु की रचना-लीला, विश्व के व्यवहार सभी,
अनुभव से जानेंगे वह लक्ष्य साधन से ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १२, १३, १४)

* *

प्रभु का प्रेम जगा हो अंतर्मुखी बनाएगा,
अंतर्दृष्टि पनपा के हृदय से आचरेगा ।

प्रत्येक परिस्थिति का हेतु-धर्म स्फुराएगा,
न बैठा रहेगा स्फुरित करके आचरण कराएगा दिल से ।

प्रभु प्रेम हृदय में समग्र व अटूट रे',
संकलित रे' वह क्या ! जैसे सुवास पुष्प पे ।

काष्ठ में अग्नि छिपा रे', तेल छिपा तिल में रे,
भाव दिल में गूढ़ जागते ही स्पर्श करे रे ।

नयी दृष्टि, नयी वृत्ति सर्व सामान्य बात में,
-हमारे दिल में जन्मे, वे भाव होते उर में ।

योग्यायोग्यपन जो भी बातों का दिल में,
—बिना विचार आता हैं उस क्षण विषय में ।

संबंधित प्रारब्ध से जहाँ-जहाँ होंगे हम,
एकसाथ सारे सभी वहाँ-वहाँ वे जुड़ेंगे ।

अकेला संलग्न नहीं, हेतु भी स्पष्ट दिखेगा,
प्रभु भाव जो उसमें हमारा रखवाएगा ।

बंधे हुए वहाँ रहें, न बंधे तब भी दिखे;
पानी में हो तुम तब भी मानो हो तैरते;
मध्य में जैसे रहते हो सर्व में तब भी पूरे,
आप भिन्न तैरे हो, ऐसा सदा लगा करे ।

प्रकृति-खेल में कैसी बसती प्रभु की लीला !
दर्शन उस क्षण में हृदय में स्वतः होते ।

सर्व के गूढ़ में कैसा लीला-सौंदर्य देखोगे !
माधुर्ययुक्त भावों में कैसे तल्लीन वहाँ होंगे ।

कुछ भी सोच-सोच के व्यवहार न हो पाता,
प्रसंग योग्य बर्ताव उनका हो ही जाएगा ।

'संभावना कितनी किस में कैसी रहा करे'
ऐसों का पता लगता स्पर्श होते ही दिल में ।

संयोग अनुसार सभी स्वयं में हुआ करेगा,
कई प्रत्याघात-आघात, निराला फिर भी रहेगा ।

सर्वज्ञता हुआ करे अनुभव हृदय से,
तब भी न जानता हो सज्ञान मूढ़ रहे ही ।

स्थान व काल का भेद वैसा भाव से न रहे,
प्रत्यक्षरूप कैसे जानेंगे सचराचर में ।

प्रत्यक्ष सूर्य जैसा प्रभाव आप में होता,
दीये जैसा निहार वह खेलता आप में पूरा ।

होते यंत्र शक्ति का, शक्ति प्रत्यक्ष वहाँ होती,
प्रवाह का मार्ग तब स्वयं ही बतलाएगी ।

तब भी शक्ति से स्वयं, भिन्न न लगे हृदय,
साथ आचरण करे, मिले एकदूसरे से ।

अपनी प्रवाह-दिशा की चिंता न उद्‌भव होती,
'आज' में 'कल' वे देखें, 'कल' में 'आज' नीरखे ।

अनेक में व्याप्त स्वयं रहता दिल तब भी,
एक का एक क्या रहे ! एक के एक भाव में ।

सर्व मेल प्रसंगों का स्वयं ऐसे में बनता,
परिस्थिति की मर्यादा ऐसा भाव से जान सके ।

अनेक मनके जैसे मालारूप भले रहें,
किन्तु वे सब में जैसे धागा रहे, वैसा भाव में ।

काल और स्थान को वैसा साधन निज के करे,
करे उनका उपयोग जैसा होना हो ।

बंधा हुआ न रहता कभी किसी बात से भी,
समझ सकें ना ऐसा पूर्ण सर्व भाव से ही ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ८३ से ८७)

सात्त्विक प्रेम भाव उर में गहरे जाते जाते,
सुंदर भावसौंदर्य शक्ति के दर्शन होते ।

जहाँ भी मुग्ध सौंदर्य जीव को लगने लगे,
जागृत भावना जान तब भाव धरो हृदे ।

('पुनित-प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ९५)

सभी बातों में जहाँ आये ऐसा अनुभव उर में,
भगवद्भाव जन्मा है जीवन में जाने सच में ।

* *

भगवान का भाव प्रत्यक्ष होने का प्रारंभिक अनुभव

भगवान का भाव जब साधक में (साधना की अमुक कक्षा में) थोड़ा सा भी जागने लगता है, तब मन, बुद्धि, इन्द्रियों हृदय द्वारा ऐसे अनेक रूप से व्यक्त होने को सहज रूप में तैयार होता है । यह भाव अत्यंत सूक्ष्म में सूक्ष्म, कोमल में कोमल और भीषण में भीषण भी है । जब वह आँख द्वारा व्यक्त होता होगा, तब जहाँ तहाँ हमें सौंदर्य के दर्शन

हुआ करेंगे । जिस तिस में भी अति सुंदरता के दर्शन होंगे और उसमें अनहद आनंद भी होगा । कई बार भयंकर डरा दे ऐसा दृश्य भी देख सकेंगे । कान द्वारा ऐसा तो मधुर संगीत और दिव्य नाद के सुर हमारे कान में टकराया करेंगे– कहीं कुछ वैसा न हो तब भी । जीभ किसी भी भोजन में से उत्तमोत्तम प्रकार के स्वाद अनुभव करेगी । चमड़ी इतनी तो कोमल कि दिल को गुदगुदी हो ऐसी सूक्ष्मरूप से मधुर लगेगी और उसमें से कोमल स्पर्श का ऐसा आनंद आएगा कि वैसा स्पर्श का ख्याल कोई भी पार्थिव चीज से न आ सके । वैसा ही दूसरी इन्द्रियों के विषय में है । सूक्ष्म भाव उसके द्वारा व्यक्त होने से और बाहर चेतनरूप वह भाव होने से व्यक्त होता भाव उस भाव को पकड़ता है और जिस इन्द्रिय द्वारा व्यक्त होता है, वह इन्द्रिय स्वभाव का प्रकृति में जो मूल है, **उस मूल के अनुसार उसका हमें अनुभव होता है ।**

इन अनुभवों में इतना तो आनंद है कि इससे अलग होने का अनुभव लगभग असंभव जैसा होता है । साधक के सही संयम की वहाँ कसौटी है । अनेक साधक वहाँ रुक जाते हैं । वे ऐसा मान लेते हैं कि अब अपना इतिकर्तव्य आ गया, क्योंकि उसे दिव्य आनंद मिलता होने से उसमें वह डूब जाता है । भगवान का जागा हुआ भाव ऐसे उस आनंद को भोगा करने से एक दिन अलोप हो जाता है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५२-१५३)

* *

भाव का महत्त्व

(गजल)

स्वजन के याद-भाव जो हृदय में शक्ति रूप में हैं,
स्वजन को मूर्ति निर्माणार्थ हृदय-आधार भाव ही है ।

स्वजन कैसे भाव में जहाँ वह भावना-रूप समाये,
शरीर दो स्थूल भले भिन्न, मिले क्या एकरसभाव से !

परस्पर तो सार्थक है जहाँ हृदय-रस-भाव एकाग्र,
पूरा केन्द्रित वह सार्थक उभय क्या एक लगते हैं !

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ८३)

* *

(अनुष्टुप)

सगुण ईश का रूप भाव प्रत्यक्ष जानोगे,
जीना है भाव के लिए प्रत्येक पल तोलोगे ।

भक्तिभाव बिना कार्य होने दे कभी न वह,
नहीं तो भाव को कर्म वृथा वह कर डाले ।

भाव को जीने के लिए कर्म का आशरा लो,
महत्त्व भाव को दें लक्ष्य रखें सभी कर्म में ।

प्रभु भाव जिस रीति जगे उसी रीति को लें,
भूमिका योग्य उस काज रचाने सब करें ।

भूमिका रचने के लिए योग्य भाव रखा करें,
भाव बिना कार्य कोई प्रभु के भला कभी होंगे ।

भाव ही भक्ति का मूल है सही, प्रत्यक्ष जानें,
ज्ञान के भाव से भाव जन्मे, तो योग्य सब होना;
भाव रखने के लिए कर्म तो करने ही हैं,
इससे सारे कर्म में भाव ज्ञान द्वारा पिरोना है ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८८, १०७)

* *

प्रभु के काम में जो भी जीवंत उर को रखे,
अभ्यास प्राणवान अति गहरा रखना पड़े ।
भावना का
पूर्ण सजग अवस्था बिना अभ्यास किसी को,
प्रभुकृपा का लाभ ऐसे ही किसी को न मिलेगा ।
भाव विकसाने गहरा जीता-जागता हृदय में,
प्राप्त गुण-सामर्थ्य खर्च करना चाहिए ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ७६-७७)

* *

(मालिनी)

हृदय में प्रगटा भाव प्रत्यक्ष कर्म में–
जरूर स्फुरित करे भान अपना सर्व;
कुछ न खिसकने दे यहाँ से वहाँ कहीं,
नदी-जल जैसे बहे मध्य, वैसे बहाये ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८८)

* *

भाव-सर्वस्व

(गजल)

जगत में भाव जिसका है, सभी कींमत पूछे उसकी,
जरूर पड़ते खरीदी कर बनाये वस्तु वह निज की ।
न जिसका भाव है कोई न उसे कोई पूछता,
जरूरी होने पर भी कुचला जाता है चरण से
स्थिर है भाव जिसका जहाँ सभी गिना जाता वही,
जगत व्यवहार क्या चले सभी गणना कर 'भाव से'!

निभते भाव की तौल में जीवन सारे भाव-सर्वस्व,
गरीब की 'भाव' पूंजी है, गरीब का सच वही सर्व ।

हृदय के 'भाव' पर मुझे भूमिका चलाने के लिए,
जगत में कहीं हो ठहरने का तो ठिकाना, 'भाव' ही है ।

कृपा से 'भाव' वही देना खुले हाथ दिया करना,
बदला जीवंत हृदय में देकर प्रभु पूरा अतुल देगा फिर से ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ३१)

* *

स्वजन-भाव

(गजल)

स्वजन का प्रेम दिल का रहे दिल में हो न्यारा,
स्वजन का चोला न है परन्तु भावमूर्ति जैसा !

स्वजन को दिल मिलने में शरीर तो स्थूल रूप है,
परन्तु तार दिल के मिलाने भाव रूप वह है ।

स्वजन तो दिल के भाव बढ़ाने दृढ़ करने को,
जीवन में जीवन के लिए प्रसादीरूप मिला है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ११७)

* *

(अनुष्टुप)

देह दो भिन्न हो किन्तु जहाँ भाव एक रहे,
इस तरह जो जीये सच्चा प्रेमी बन सके ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ३१)

* *

साधना में भूलें

इस मार्ग में हम से भूलें भी होती हैं; परन्तु वे भी अर्थसूचक ही होती हैं । भूल से कभी हताश नहीं होना है । भूल के पीछे रही प्रामाणिकता हमें नया दृष्टिबिन्दु देकर जोरदार प्रोत्साहन देती है । दूसरे प्रयोगों में एक बार भूल हुई कि बस; प्रयोग उतने वक्त के लिए बेकार हो जाएगा । जबकि इसमें तो हमारी यज्ञ की अखंडता नहीं टूटती, दिल की निश्चितता भी नहीं टूटती या न प्रसन्नता घटती है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५०-५१)

* *

जितनी जागृति विशेष उतनी भूलें अपनेआप रुकेंगी । भूल हो पर उसके विषय में कोई हायतोबा न करें । भूलों से तो उल्टी मदद मिलनी चाहिए । अपनी भूल स्वयं ही देखना सीखें । हम से होती भूलों से हमें सत्य का रास्ता मिलेगा– यदि होती भूलों का यथार्थ भान होगा तो ।

* *

मन

मन यह एक मुख्य करण है, न कि सब कुछ । वह अपनेआप नहीं पलट सकता । उसे पलटाये बिना छुटकारा भी नहीं । इसके लिए ही साधना की आवश्यकता है । उसे दिशा देने के लिए प्रेमभक्तिपूर्वक लगातार नामस्मरण, यह एक मुख्य साधन है । दूसरा साधन प्रतिदिन होते कर्मों में प्रभु की धारणा । तीसरा साधन मिलते सर्व प्रसंगों में सात्त्विक गुणों के विकास की शिक्षा मिलती है । इसतरह भिन्न-भिन्न साधनों का आश्रय लेकर मन को दिशा देनी आवश्यक है ।

मन को मारना है सही, पर इसतरह कि उसमें से सही पाक उत्पन्न हो । मन को सही तरह सजीवन करना है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ६८)

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २९)

* *

कितनी ही बार जो न करना हो अर्थात् न पसंद हो वही करते रहें । इससे भी मन के जोड़ ढीले हो सकते हैं; परन्तु वैसे कर्म के पीछे उद्देश्य का ख्याल रहना चाहिए ।

मन जैसे इन्द्रियों का सरदार है, उसके साथ ही वह स्वयं फिर दूसरे किसी का परिणाम या आधीनस्थ भी है । हमारी वृत्तिओं के भाव, संस्कार, प्रवृत्ति, वातावरण आदि अनुसार मन के भाव रहा करते हैं; और यह भी कोई सर्वसत्ताधीश नहीं । इससे भी विशेष शक्तिशाली भगवान की पराशक्ति हम में विद्यमान है ।

मन को अपना मित्र बनाना है । यह तो कितने ही खेल करेगा, बुद्धि की मदद लेकर सीधा-उलटा समझाकर हमें ऊपर जाने में कितनी ही कठिनाइयाँ लाएगा । तब हमें पता होना चाहिए कि मन की समझ वह कोई सर्वसत्य, आखिरी सत्य या सर्वश्रेष्ठ नहीं है ।

मन को शांत, नीरव करने के लिए उसे सर्वप्रकार की क्रियाओं से अलग होने की जागृति रखें । तटस्थतापूर्वक साक्षीवत् रहकर उसे निरखा करें । उसमें जो कुछ नकारात्मक उठे उसे फेंक दें, उसका इन्कार करें । मन में उठते विचारों की शृंखला न जोड़ें । उसे इस प्रकार के तप से स्थिर करना है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १७)

('जीवनसोपान', आ. १, पृ. १४९)

* *

सुखदुःख की उत्पत्ति - मन

(अनुष्टुप)

हम दुःख न विचारेंगे यदि कुछ अपना,
कोई भी कम न कर पाएगा दुःख हमारा ।

हम अपने स्वयं के निर्माता सब तरह,
स्वयं संहार कर्ता हैं स्वयं के सभी बात में;
बचानेवाला अपना स्वयं केवल हृदय,
इसके बिना कोई न आये बचाने जग में ।

हमीं से ही जन्मता है सुख व दुःख जीवन में,
स्वतंत्र सुख व दुःख हमारे बिना न कहीं ।

अपनी मान्यतानुसार सुख दुःखादि मानते,
मान्यता से फिर खाली उसे वे क्यों अपनाएँ ?

सुख-आधार दूजे में कोई खोजने जाएगा,
सुख दूसरे से उसे कभी न मिलनेवाला ।

अखंड सुख सभी रीति से स्वयं बिना न मिलें,
स्वयं में रचे गहरा, सुख वह सारा पाये ।

दुःखी करानेवाला हो कोई हमें जग में,
स्वयं दुःखी कराता है स्वयं अपने दिल से ।

स्वभाव हमारा जैसे वैसे ही होगा सभी,
स्वभावानुसार सभी अच्छा व बुरा लगता ।

जिसका स्वभाव स्वयं सर्व निहारे स्वयं में,
किसी बात में कोई भी दुःख उसे न लगता ।

स्वभाव जीवन में कैसी खड़े करतूतें करे,
होता है वश जो, उसे दुःख-दुःख सभी दिखे ।

जैसा मानेंगे स्वयं को वैसा बनेंगे जीवन में,
कैसे भी हो तब भी रहना होगा स्वस्थ हमें ।

लगाने बुरा आये यदि कोई जीवन में,
उसे न घुसने दें अपने अंदर कहीं भी ।

ऐसे अभ्यास की निष्ठा जो जीव में दृढ़ होगी,
दुःख किसी तरह भी उसे थोड़ा न सताये ।

संयोग जीव को भले अनुकूल सभी मिलें,
तब भी लगाये दुःख यदि स्वभाव न योग्य है ।

स्वभाव आधारित इससे सुखदुःखादि सभी,
सभी का आधार रहा सारा मूल स्वभाव क्या !

जो कोई स्वभाव रूपांतर प्रयत्न करे,
वह सुखी हो जिस तिस में सभी बातों में ।

ब्रह्मा भी दुःखी ऐसों को कुछ न कर सकेगा,
दुःख के पार तो ऐसा सच्चिदानंद पाएगा ।

* *

दुःख-दुःख कर स्वयं अपने को दुःखी माने,
प्रभु साक्षात् सुखी उसे बना नहीं सकेंगे ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ५१ से ५३)

जो जो भी हुआ है नहीं हो पाया दूजों से,
निमित्त हमीं हैं होने उत्पन्न वह सारे ।

हम अपना सारा जो भी भुगतते रहते,
अन्य को दोष देने पर मानव भूल में पड़े ।

दबेंगे दुःख से जो भी दुःख उन्हें दबाएगा,
–दबाकर भुलवा देता सुख के सारे प्रसंग ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ५३)

* *

माया के खेल के अंतर में प्रभु

(अनुष्टुप)

दाव गूढ़ हराने को, माया प्रपंची क्या खेले !
ऐसे खेल करे सभी, अपना काबू न जाये ।

युक्ति–प्रयुक्ति माया की कठिन सभी जानना,
किन्तु हो ध्येय केन्द्रित दिल, जरूर चेतेगा ।

रहा क्या खेल माया से ईश्वर गूढ़ विश्व में !
मूल उसके हैं सभी, प्रपंच–व्याप्त माया में ।

कर्म न उसे कोई भी, कर्म से पर वह है,
कर्म से पाने जो उसे चाहे, तो मिले नहीं ।

माया में गूढ़ छिपके जानने न दे निज को,
छिपने में मजा उसे अनोखा लगता दिखे ।

अनेक रूप लेता है, भिन्न एकदूसरे से,
परस्पर विरोधी क्या ! बुद्धिगम्य न वह कभी ।

माया–आवरण से कैसे खेल स्वयं खेला करे,
माया को भेदकर जो देखे, वही खेल नीरखे ।

उसके है प्रपंची खेल, उसके सारे प्रपंच में,
अनोखी रीति से सदा अंतर चेतना खेले ।
दिखता उलटा कैसा भयानक सा जग में,
विकास विश्व को उसमें माया कराती सही ।
ऐसे प्रपंची माया के खेल में चेतना खेले,
वेधक खोजने दृष्टि जिसकी हो तत्त्व पाये ।
असंबद्धता लगती माया से उसका क्या सब !
तब भी ऐसे सर्व में जो उसे जाने, देखें प्रभु !
नहीं माया सत असत स्वयं, माया के रूप में,
मथता जो खोजना उसे, पाता ईश-चेतना ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ९९-१००)

* *

(अनुष्टुप)

जशोदा माता को खेल कैसे विविध कृष्ण
—स्वयं बतलाते ! तब भी महत्त्व भूल जाते ।
माया के घूंघट से वह लिपटा हुआ क्या रहे !
माया का अंतर उसे देखने जो मथे, देखे ।
माया का खेल छोड़के स्वयं चुप खड़ा रहे,
सभी के खेल वे देखे स्वयं भिन्न रहे बचे ।
ऐसे सारे जीवन में खेल प्रभु के जो निहारेगा,
प्रभु प्रत्यक्ष उसके होते देर न लगेगी ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १४५)

* *

(शिखरिणी–मंदाक्रान्ता)

प्रभु–माया की पकड़ से मुक्त होना न सरल बात,
रखके माया में मन – मति कभी न हो इससे मुक्त;
फिर भी माया में जगपति छिपे; **उसे** नहीं नकारें,
रही माया में गूढ़ प्रभु की छाया को देखना सीखें ।

प्रभु बिना दूसरा कुछ भी नहीं भले विश्व देखो,
सिकंजे में **उस** के दिल हो जाता, देखोगे ऐसा सभी;
सभी तरह से स्वजन बनकर यदि दिल में धारणा तो,
सभी में उसे देख सकोगे यदि प्रभु चुने हो ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १४५–१४६)

* *

(अनुष्टुप)

विश्व की रचना खाली ऐसे ही ऐसे न होगी,
इसमें खोजता जो चाहे ईश
उसमें खोजता रे' जो ईश को, दिल से जीये ।

प्रपंची रूप माया का उसमें भी खेल ईश के,
ईश्वर वहां खेले कैसा ! स्वतः ही ज्ञात होगा वहाँ,
प्रभु स्वयं खेले कैसा अनोखी रीति से सदा !

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १४९–१५१)

* *

मांगल्य प्रेम

(शार्दूलविक्रीडित)

खेले गूढ़ रहते खेले संसार में जो स्थूल व सूक्ष्म में,
आकर्षे जीव जीव प्रेम-रस से एकात्मभाव होने;
ऐसा प्रेम-स्वरूप एक सबको जो जोड़कर रखे,
ऐसा प्रेम गहरा परस्पर आर्द्र फैलावे मंगल ।

जैसे पुरुष-प्रकृति हिलमिल विश्व हमेशा खेले,
स्पष्ट है मूल प्रकृति ही खेलती, पुरुष रहे अंतर में;
दोनों एकदूजे पर हैं तब भी आलंबन रहते,
वह आदर्श अनुभव करो जीवन में आनंद ले मंगलम् ।

ज्ञानी प्रेमश्री जिसे समझते वह प्रेम के भाव को,
साकार रूप देने जीवन में है विवाह हेतु वह;
व्यष्टि से ही समष्टि में जीवन उद्‌भवार्थ विवाह है,
-यह हेतु धर लक्ष्य मंगल तुम वर्तना जीवन में ।

जो भी सर्व परिस्थिति जग मिले सारी विकासार्थ हैं,
इसतरह उपयोग शक्ति द्वारा पाना तत्त्व वह;
न मूल्यांकन आंके जीवन के पार्थिव सभी मापों से,
इसे ईश-प्रसादी प्रेम गिनें प्रत्यक्ष वैसा जीकर ।

पाया जीवन न निरर्थकरूप में उसे ख्याल में रखें,
स्वयं को न महत्त्व दें सभी दूसरों को भी दें;
जो भी अकेलेपन जीवन जीये उसे जीवन की क्या मजा!
त्याग से जीवन-पुष्प स्वतः विकसित होके महकें ।

जो भी सर्व मिला करे जीवन में नहीं भोगे अकेले,
दूसरों को सहभागी बनाते रहें तो तुम्हें प्रेम क्या !
ऊँची संस्कृति जन्म से नहीं मिले ये तो जीने से मिले,
उन्नतगामी जीवन तुम जीकर करो मंगलम् ।

भिन्न भिन्न रूपांतर का परिणाम क्या तत्त्व प्रेम का,
साध प्रेम सके पूरा सकल आदर्श का, विवाह से;
ओजस्वी रूप प्रेम का जीवन में उद्‌भवार्थ विवाह,
ये जीवन-साधना गूढ़ और कैसी भव्य व रम्य है ।

कैसा प्रेमरूप दिव्य रसीला क्या मुग्धरूप रसीला !
गहन भेद न परखे वहाँ तब भी रसमय बनता;
लीला प्रेम करे अणु-अणु में क्या-क्या रचे खेल वहाँ,
ऐसे प्रेम द्वारा तुम उभय का हो सदा मंगलम् ।

('विधि-विधान', आ. २, पृ. ५८-५९)

* *

प्रेम की अनंतता

(अनुष्टुप)

इच्छित उतना हो तो प्रेम व्यक्त कर सको,
उस प्रेम पराकाष्ठा कोई न पहुँच पाये ।

गूढ़ता प्रेम की यही विशेषता क्या अनोखी !
होते व्यक्त पूरा होगा रूप वह अव्यक्त का ।

मर्यादा प्रेम की अंतिम दर्शाये भले तब भी,
अधूरी रहे तब भी प्रेम की भावव्यक्तता ।

मर्यादा प्रेम की कोई आंक नहीं सके जीवन में,
अनंत रूप उसका लेनदेन द्वारा बढ़े ।

पूरा संपूर्ण उसका ना भाव आये हृद में,
बेख्याली-बेहदी ये तो, देते ही बढ़ता जाए ।

('पुनित-प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ४६)

* *

मुक्तात्मा– उसके दुर्गम - गूढ़ व्यवहार

अपने सत्त्व को शीघ्र पहचान सके ऐसा आविर्भाव मुक्तात्माएँ साधारण रूप से होने नहीं देतीं । इससे प्रारंभिक साधक, जिज्ञासु तथा आध्यात्मिक पथ से अनजान ऐसे जीव को आकुलता और उलझन होती है । जिसमें कितनों की श्रद्धा डिग जाती है या उठ जाती है । अपने संकुचित, विकृत और क्षुल्लक मानस से माप और तौल से संतों को मापने जाँये तब उनके कुछ व्यवहार अगम्य और कभी-कभी तो निंद्य भी लगते हैं । उनके ऐसे कार्यों का गूढ़ किन्तु कल्याणकारी हेतु उन सभी के समक्ष खोलकर उन्हें समझाने में आये, तो भी वे उन हेतुओं की कदर नहीं कर पाते । उनके मन में ऐसा होता है कि जान बूझकर संत क्यों इसतरह व्यवहार करते होंगे ?

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १६२)

* *

सर्वप्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि मुक्त आत्मा का यद्यपि कि सामान्य मनुष्य जैसा हलन-चलन लगता है, परन्तु वह है उसकी प्रकृति का स्वामी, आत्मनिष्ठ । जब कि सामान्य मनुष्य तो प्रकृति का दास है, गुणों से प्रेरित हो उसकी सारी क्रिया होती है इसलिए दोनों की बहिर् क्रियाएँ प्रत्यक्ष समानता के पीछे मूलरूप,

नींव का तात्त्विक अंतर रहता है । साधारणरूप से समाज में ऐसी समझ व्याप्त है कि मुक्त अर्थात् सामान्य मनुष्य से कुछ बिलकुल भिन्न प्रकार का मनुष्य कि जिसकी क्रियाएँ भी सामान्य मनुष्य से भिन्न ही हों । पर यह समझ योग्य नहीं है । **जीवनमुक्त अवस्था में प्रकृति, इन्द्रियाँ, गुण, भावना, मनोभाव नष्ट हो जाते हैं ऐसा नहीं होता । शरीर है वहाँ तक यह सब हुआ करेगा, पर ये इन सभी के स्वामी बन चुके हैं ।** वे आचरित करते हैं मालिक के रूप में; जड़ यंत्रवत् उनका आचरण नहीं होता । उनके कार्यक्षेत्र प्रकृति के वश नहीं होते इतना ही । वैसे कार्यक्षेत्र में जब वे सभी प्रेरित होते हैं, तब उन्हें उनके ज्ञान हेतु की जीवंत सज्ञात धारणा रहा करती है ।

मुक्त-आत्मा के लिए कर्म आवश्यक नहीं होते । वह कर्म करता है सही, पर वह प्रभु प्रेरित होता है, इसलिए प्रभु के आदेश की समझ कहो या आत्मा का सहज ज्ञान या कोई अकल ऐसे सहज हेतु से कहो, इस तरह उसका वैसे कार्यों में प्रेरित होते हुए जाना होता है । वह अमुक ही कार्य में प्रेरित होगा, अमुक ही कार्य करेगा ऐसा भी नहीं । वह पूर्ण गृहस्थाश्रमी हो सकता है, वैसे ही सहज रूप से संन्यासी भी हो, देशसेवक भी हो और आंतरराष्ट्रीय सेवक भी हो । वह जैसे अपनी प्रजा का होता है वैसे समष्टि का भी होता है– उसमें समदृष्टि हृदय से ही सहज होती है । उसे कुछ वैसा या ऐसा होना नहीं है । वहाँ विचार भी नहीं और संकल्प भी नहीं । जैसी-जैसी उसे जीवन में परिस्थिति मिला करती हो वैसे वहन करता रहता है । वह राज्यों का संचालन, शासन करनेवाला राजा भी हो सकता है और अदना में अदना दास, सेवक भी हो सकता है । अत्यन्त प्रवृत्तिशील और समस्त संसार में भ्रमण करनेवाला भी हो सकता है और निवृत्तिपरायण बनकर संसार के एक एकांत कोने में बैठे रहनेवाला

भी हो सकता है । उसकी कोई एक दृष्टि, वृत्ति और भाव नहीं होता । वह फिरता भी हो सकता है स्थिर भी और दोनों में से एक भी न हो और दोनों साथ में भी हो सकता है । वह एक कार्य करते-करते अनेक कर्म में व्याप्त रहा करता है और कुछ भी नहीं करता होता, तब भी वे सही सच्चे भाव में सहजरूप से प्रवृत्त रहा करता है; उसे कहीं भी प्रवेश नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे प्रत्येक में सहज स्वभावरूप हैं । वह जैसे एक हैं वैसे अनंत भी हो सकता हैं और तब भी संपूर्ण शून्य भी हो सकता है । वह कर्म है, कर्म के अंतर में है, कर्म के आदि में है और वह कर्म ही उसमें है । वह काल है और काल उसमें है और उससे भी वह पर है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २०५)

* *

जीवनमुक्त द्वन्द्व से परे होने पर भी उसे हर्ष, शोक, भावना आदि नहीं होते ऐसा नहीं है । ऐसी सभी वृत्तियाँ उद्‌भवित होने पर वह उनका भोग नहीं होता, पर वहाँ वह किस तरह, कहाँ कितनी मात्रा में पिरोना इन सब का ज्ञान रहा करता है । जहाँ तक शरीर है, समाज में है, वहाँ तक प्रारब्ध कर्मानुसार कर्म भोगना हो उसमें या आदेशकार्य हो उसमें या समष्टिरूप कार्य हों उनमें, स्वयं ही उसका स्वामी है, जन्मदाता है और भोक्ता भी है; और तब भी फिर वह कहीं भिन्न है । वह भावयुक्त रहकर वहाँ व्याप्त होता है । उसे स्वयं ऐहिक दृष्टि से कुछ विकास पाना बाकी नहीं रहता, परन्तु परब्रह्म भाव में तो विकास सहज रूप से वह प्राप्त करता रहता है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २०५-२०६)

* *

साधारणतः समाज की अलग-अलग समझ जीवनमुक्त विषयक कुछ इसप्रकार है कि उसे अपने जीवन की आवश्यकताएँ कम से कम कर डाली हों; दलितों और गरीबों के लिए उसे अत्यन्त 'दया' हो और उनके लिए सेवाकार्य भी करता हो; समस्त मानव समुदाय के लिए दया का सागर ही हो और मानवजात के उद्धार के लिए ही वह यत्नशील हो; वह मौन रखता हो या कम से कम बोलता हो; उसका चेहरा शांत, गंभीर हो और उसके समीप पहुँचते ही उसकी भव्यता अथवा साधुता की छाप पड़े ऐसा हो; आदि आदि। यदि वह खिलखिलाकर हँसता मालूम पड़ा कि कोई साधारण प्रवृत्ति में डूब गया दिखा, सांसारिक विषयों में रुचि धारण कर रहा हो और इससे 'क्षुल्लक' विषय में खुलकर बातें करता लगे तो, बस खलास। वह कितना भी महान हो तब भी लोगों की नजर में तो वह बहुत हुआ तो अपनी भारी शक्ति और बुद्धि से उन पर प्रभाव और सत्ता पर बैठानेवाला और अपनी ओर सभी को आकर्षिक करने पर भी अंत में तो वह भी 'सांसारिक' अर्थात् पार्थिव भूमिका में विहरनेवाला ही लगेगा।

लोगों में ऐसी समझ होती है उसमें उनका भी क्या दोष ? जीवनमुक्त की विशिष्टता कोई स्थूल आँखों से दीखे ऐसे स्थूल नेत्र में नहीं, पर मन या हृदय के सूक्ष्म प्रदेश में रही है और उसे देखने के लिए तो सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। उसके ललाट पर कोई 'लेबल' चिट्ठी चिपकाई नहीं होती या ऐसी कोई बाह्य निशानी या चिह्न नहीं होता कि उसे उसके सही स्वरूप में जान सकें। किसी को भी ठीक से जानना या उसका हार्द पहचानना आवश्यक रहता है, आदर-भक्तिपूर्ण, भावुक, सप्रेम, अध्ययनपूर्ण अनुशीलन, परिशीलन की।

मुक्तात्मा में मनुष्य की दया नहीं पर दिव्य अनुकंपा भरी पड़ी है। वह निष्ठुर नहीं, दयाहीन नहीं। संसार के दुःख-संघर्ष और

उल्कापातों के बीच भी वह निश्चल रहते हुए लगता है, उसका कारण यह है कि उसे अनुभव है कि वस्तुमात्र अपनी स्वयं की नियति का अनुसरण करती है और इससे वस्तुमात्र की उत्क्रांति बाह्य की दखलगिरी बिना– अपनेआप– होने देना वह योग्य समझता है। इससे वह निश्चेष्ट भी रहता है या दिखता है। फिर उसकी मात्र सूक्ष्म और मूक अनुकंपा दूसरों की भागदौड़ और उत्पाती प्रवृत्तियाँ से कहीं अधिक असरकारक और सक्रिय है। उसका उसे अकेले को ही अनुभव है। काल से होते परिवर्तन उसे अस्वस्थ नहीं कर पाते, क्योंकि वह कालचक्र की गति को परखता है। इसतरह जब वह काल को परखता है, तब वह उसके कारण खोजने नहीं बैठता। विसंवादी घटनाओं में भी वह संवाद देख सकता है, अनुभव कर सकता है।

उसे 'मैं' जैसा कुछ नहीं, इसीसे उसे किसी में राग नहीं है। विधि की कृतियाँ उसे हिला नहीं सकतीं। वह किसी प्रकार की योजना नहीं करता। उसके विचार-वर्तन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं, इससे नैतिक सिद्धान्तों या आलंबन की उसे आवश्यकता नहीं रहती। उसे कुछ भूलने जैसा भी नहीं और याद रखने जैसा भी नहीं। प्रकृति और पुरुष का वह एकीकरण है। वह किसी का मालिक नहीं और सभी का मालिक है। वह किसी का अनुकरण नहीं करता, क्योंकि अनुकरण से समयोचित आचरण नहीं होता। उसकी दूसरे किसी के साथ तुलना नहीं हो सकती, ऐसा वह अनुपमेय और अनोखा है। वह अत्यन्त गतिमान होने पर भी– या उस कारण से ही– खूब स्थिर है, उस लट्टू की तरह है।

संक्षेप में, वह मानव व्यक्ति होने पर भी मानव व्यक्ति नहीं है, परन्तु वह जो विरोधाभासी गुणों का वर्णन हम प्रभु के विषय में करते हैं, वह परम तत्त्व का शरीरधारी आविर्भाव है।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ३२३ से ३३२)

मुक्तात्मा का कानून अंतर का होता है । उसके नियम होते हैं सही और नहीं भी होते; इससे वहाँ मात्र केवल अज्ञान जैसा स्वच्छंद व्याप्त है, ऐसा मानने की भूल में पड़ना नहीं है । उसे तो सब कुछ दीये जैसा स्पष्ट दिखता है, इससे उसे स्थान, काल, मर्यादा की समझ रहती है और प्रत्येक के उदय, स्थिति और लय के भाव की भी सहजरूप निमित्त होने में– प्रगट हो, जैसे दर्पण में कुछ सामने आता दिखता है वैसे । इसलिए वह मानो चलता फिरता न हो वैसा व्यवहार करता है । उसके पेट का पानी भी नहीं हिलता और हिलता हो तो इतना वेगवान होता है कि उसकी भावना, मनोभाव उस समय की– किसी भी मनुष्य की संवेदना, भावना के साथ तुलना नहीं कर सकते । वह इन किसी में से भी चलित नहीं होता और चलित होता हैं तो उसकी सहज-गति में; यानी उसकी स्वयंभू गति में चलित होता जाता है । वह कभी निराश नहीं होता । उस तरह दिखाई अथवा हमें लगे, पर उसकी भूमिका तो बिलकुल शांत प्रकार की होती है; तटस्थ रहने की प्राणवान कला उसे प्राप्त होती है, इसलिए उसमें तो आनंद सदा व्याप्त होता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १९-२०)

* *

मुक्तावस्था प्राप्त होने के बाद ऐसी आत्मा में आमने-सामने लगते ऐसे गुणों का प्राकट्य होते हुए वह अनुभव कर सकता है; जैसे कि कृपा और अकृपा, दयालुता और कठोरता, परवाह और बेपरवाही, गुण और अवगुण; इस प्रकार वह स्वयं कोई भी संसारी **जीव** की अपेक्षा, प्रेम-भावना गुण में सर्व से श्रेष्ठ होते जाय और इसके साथ ही साथ, अप्रेम के प्रदेश में भी रहता हुआ स्वयं को अनुभव कर

सकता है । ऐसे का भी कोई निश्चित कक्षा या माप नहीं रह पाता है । ऐसा किसी चौखट में भी नहीं रह पाता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १२५-१२६)

* *

मुक्तावस्था यानी स्वच्छंदता नहीं । हमारी मानुषी Whims—मन के तुक्के या तरंगों—अनुसार उसमें चलना नहीं होता । पर्याप्त खर्च करते होने पर भी, वैभवविलास भोगता हुआ भी, या घर-घर घूमता और भीख माँगते होने पर भी पत्नी बच्चे होने पर भी वह व्यापार करता होने पर भी, संक्षेप में किसी भी क्षेत्र में होते हुए भी वह मुक्त हो सकता है । मुक्तावस्था में स्वैराचार या विहार नहीं है वैसे ही उसमें कोई बंधन भी नहीं है । उसमें ऐसे ही व्यवहार हो ऐसा भी नहीं क्योंकि मुक्त को ऐसे कोई विधिनिषेध भी नहीं हैं । सामान्य रूप से वह जो करता होता है, वह हमारी समझ में नहीं आएगा अथवा न भी आये क्योंकि उसकी समझ और हमारी समझ में अंतर होता है ।

* *

जीव जब चेतन में निष्ठा प्राप्त करता है, तब उसमें रहा पुरुष जाग्रत बन जाता है । पुरुष के आधार द्वारा ही उसकी अनुमति से फिर प्रकृति सभी काम करती होती है । पुरुष निष्क्रिय है सही और बिलकुल पीछे रहता है, परन्तु चेतन की दशा में वह सभान और पूरी तरह जाग्रत बन जाता है । उसमें उस समय साक्षीपन, भर्तापन तथा समता, ताटस्थ्य आदि गुण जीवित हो जाते हैं, इतना ही नहीं परन्तु उसी तरह काम करते हो गये होते हैं; इसलिए प्रकृति और उसके तीन गुण और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में जैसे क्रियाशील होती हैं

उसके साथ वे ओतप्रोत नहीं होतीं, परन्तु साक्षीरूप में रहती हैं । अपनी संमति की मुहर कहाँ दें और कहाँ नहीं दें, उसे उसका ज्ञान मिला होता है ।

* *

मुक्त दशा को प्राप्त आत्माएँ हमारे विषय में कभी गैरसमझ नहीं करतीं । हमीं उनके विषय में गैरसमझ रखते हैं । जो कोई गैरसमझ करें ऐसे हों तो उन्हें जीवनमुक्त का लेबल नहीं लगा सकते । हम द्वन्द्व की भूमिका पर खड़े हैं और वे जो सच्चे संत हों तो उनमें द्वन्द्व होने पर भी द्वन्द्व की भूमिका में वे खड़े नहीं हैं । हमारी समझ-माप, कक्षा और बहुत हुआ तो नैतिक पैमाने पर अवलंबित होते है । भेद में अभेद अभी हम अनुभव नहीं कर पाये हैं । संसार तो अभेद में भेद देखता है, जबकि उन लोगों का वैसा कुछ नहीं होता; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि वे लोग अनैतिक हैं । वे जीवन की परम आदर्श स्थिति में पहुँचने के लिए जीवन की वैसी स्थितिओं से गुजर चुके होते हैं; जैसे नाव में बैठकर नदी पार करने के बाद नाव को साथ रखने की जरा भी जरूरत नहीं होती, उसी तरह वैसे लोग साधन का भार गले लगाकर नहीं फिरते । वैसे लोगों को हमारे माप, समझ, गिनती या कल्पना से मापना यही हमारा अज्ञान है । संत हमें कभी गैरसमझ नहीं करते । वे तो भूलों हुओं के लिए जितने हैं उतने किसी के लिए भी नहीं—यदि हम सचमुच उनका हृदय से आतुर रखते हों तो ।

('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १२०-१२१)

* *

जीवनमुक्त होने पर उन्हें कर्म नहीं होते हैं, ऐसा नहीं है । जैसे ब्रह्म निष्क्रिय होने पर फिर क्रियावान भी है, वैसे जीवनमुक्त कर्म

करते होने से उसमें निष्क्रिय रहने उस प्रकार की शक्ति, ज्ञान, भाववाला वह प्रकट हुआ होता है; इसलिए उसे कर्म नहीं ऐसा भले कहें ।

आत्यंतिक अनुभव कहाँ जाकर विराम लेगा ऐसा निश्चयात्मक रूप में नहीं कह सकते । उस कारण से भी ज्ञानयुक्त चेतनाप्रेरक, तटस्थता की अत्यन्त जरूरत रहती है । उसको (मुक्त को) भाव, वृत्ति, विचार, भावना आदि नहीं होते ऐसा तो नहीं, पर वह उसे आने देता है । यह तो जिस तिस के निमित्त संपर्क से वैसा-वैसा उद्‌भव होता है और उसके ज्ञानपूर्वक उपयोग करने की कला ऐसों वैसों को प्राप्त हुई होती है । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १७०-१७१)

* *

मुक्तावस्था प्राप्त होते ही एक ऐसी अवस्था बनी रहती है कि जिसमें प्राकृतिक इच्छा, आशा, कामना, अहम् आदि उत्पन्न हुए बिना, स्वयं एकाग्र और केन्द्रितता प्रभुभाव में सतत निरन्तर डूबा रहता है । उन्हें श्रीभगवान जो कुछ अनुभव करायें, उसे स्वीकार कर उसका रस भोगने की आंतरिक कला उसके हृदय में जागी होती है । उसमें स्थूल प्राण का कोई भी भाग सक्रिय नहीं होता है । स्थूल-प्राण, सूक्ष्म-प्राण और कारण-प्राण से भी साधना होते होते उस तीन प्रकार की अपेक्षा एक ऐसे प्रकार के प्राण का जन्म होता है कि जिससे वह फिर सर्व जो कुछ भी भोग के सामर्थ्य की संपूर्ण शक्ति और सर्व प्रकार के मूल का रस ग्रहण कर, स्वीकर कर, उसका भोग करने की शक्ति उसमें प्रगट होती हुई वह अनुभव कर सकता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३१)

* *

कोई ज्ञानी या अनुभवी भगवान के प्रेमी भक्त जगत के साथ व्यवहार में तो जगत के सामान्य मानव जैसा ही लगा करेगा । उसकी द्वन्द्वादिक वृत्ति जैसे कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि उसके मूल स्वरूप में उसमें नहीं होंगे; परन्तु उस प्रकार की रूपान्तरित भावना उसके जीवन में प्रगट हुई होती है सही । पहले जैसे **जीव**-दशा की प्रकृति की वृत्तियाँ उस समय दूसरे **जीवों** के उपभोग में, उपयोग में आती थीं, वैसे अब उस वृत्ति की वह रूपान्तरित हुई भावना भागवत हेतु अर्थ दूसरे **जीव** के जीवन के प्रति उपयोग में व्याप्त है । विष, जहर यों तो प्राणनाशक है; परन्तु उचित तरह से रूपान्तरित हुआ जहर दवा के रूप में बहुत ही प्राणवान और जीवन बचानेवाला होता है । उसी तरह **जीव** प्रकार की वृत्तिओं का रूपान्तरित हुआ स्वरूप उपयोग में आ सकता है; परन्तु दूसरे मनुष्यों को उसके विषय में कुछ भी पता नहीं चलता है । सभी मनुष्य उनको उचित तरह से समझ सकें यह भी संभव नहीं है । ऐसों को समझनेवाले मात्र गिनेचुने होंगे । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६९-२७०)

* *

ऐसे (ज्ञानी) तो किसी परम अंतिम सत्य द्वारा अपने जीवन को नियत करते होते हैं । ऐसे उच्च जीवन की सच्ची असर पाने के लिए या उसे समझने के लिए स्थूल प्रमाण नहीं हो सकता । यह तो ऐसों के जीवन में जिज्ञासाभाव से प्रेमभक्ति से जो डूबना चाहता हो और अपनी प्रकृति के स्तरों को समझ समझकर, मंथन कर-करके समर्पित होकर पलटना चाहता हो, ऐसे किसी **जीव** को उसमें कुछ समझ पड़ेगी । बाकी को तो उसकी कोई समझ पड़ेगी नहीं, उसे जान लें ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७३)

* *

ऐसा होता है सही, कि जिसकी आशा, इच्छा निर्मूल हो गई है और अहम् से मुक्त हुआ है वैसी मुक्त आत्मा और जिसकी अभी आशा, इच्छा, वासना, अहम् आदि व्याप्त हैं वे दोनों एक ही बाह्य परिस्थिति, प्रसंग में से गुजरते होते हैं, तब कोई तीसरे को तो उनकी आंतरिक परिस्थिति में कोई अंतर न लगे। परन्तु उन दोनों के प्रसंग, स्थिति एक ही होने पर दिल में दिल से जो भाव जगता है, स्फुरित होता है, उस प्रसंग का जो Reaction—अंतर की प्रतिकृति—उनके सत्त्व में जागता है उसमें आसमान-जमीन का अंतर होता है।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १९५)

* *

मुक्त का अंतरंग स्वभाव

(अनुष्टुप)

अकर्म कर्म में उसे कर्म में अकर्म लगेगा,
निराग्रही निरासक्त ऐसा सर्व व्याप्त होगा।

सारे आनंद के भाव उनमें बढ़ा करेंगे,
प्रत्येक में फिर वैसे समाधान रूप रहेंगे।

उपाधि सारी उपाधि ना उसे लगे हृद में,
प्रसन्नता की मात्रा वो उसकी कम न होगी।

जिस प्रवृत्ति में पैठे चाहे कैसी ही भले हो,
तब भी यह आनंद उसका समान होगा।

भले कितना अधिक काम हो तो भी भार क्या,
ऐसा लगे तब ना वह लीन भाव में रहे।

आड़ा या उलटा कहीं उसको लगता नहीं,
यथार्थता ज्ञानभाव से कर्म में उत्पन्न हो ।

प्रेरित होये भले ही प्रकृति गुण-भाव से,
कारक मूल-भाव पहचाने जाय जरूर ।

उसे उस समय कोई यत्न न करने पड़े,
नदी के बहाव जैसे भाव वह बहा करे ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ६८ से ७०)

* *

गुलाम

वाहक वह प्रभु का, स्वयं का शेठ तब भी,
भाव प्रत्यक्ष ऐसा ही पहचानता हो सदा ।

डिगा नहीं सके कोई ऐसे को किसी बात से,
पहचानने में हेतु रहे ऐसा निराग्रही !

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १४)

* *

स्वयं से ही सब किया करेगा वह सभी,
कर्म वैसे में ज्ञान का, जागृति रखते सभी ।

हेतु का ख्याल दिल में सजग जीवन्त रखे,
भूलता ना कभी **उसे** जो भी कर्म है सर्व में ।

स्वयं की जात को भिन्न जो सर्व कर्म से गिने,
न कुछ छूने दे वह नि:स्पृही ऐसा आचरे ।

तदाकार तभी ऐसे सभी के साथ रहता,
सहानुभूति रख समभाव उर में रखे ।

तब भी वे किसी के पीछे खिसटता नहीं कुछ,
खिसटता लगता हो, वहाँ हेतु हो गहरा ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २०)

* *

किस स्वभाव से किये अन्य के कर्म तो होंगे,
बताये बिना न रहे, यदि दे लक्ष्य बात को ।
कर्म की गूढ़ता उसे लगेगी न, तब पूरी,
अनजाना वह रहे ऐसा कुछ न बोलता ।
कर्म-निर्माण की वेला कर्म के परिणाम में,
वो ही ना जानता ऐसा वर्तन जग में रखे ।
उसे न मानना पड़े 'यह' या 'वह' कुछ भी,
'यह' या 'वह' न भिन्न; परिवर्तन मात्र ही ।
दूजे का रूप जैसा हो उसके साथ एकता,
सहानुभूति रखके बर्ताव करे सदा ही ।
कहीं उल्टा, कहीं सीधा, कहीं तो टेढ़ा बर्तेगा,
ऐसों के सारे कर्मों में हेतु रहा करे न्यारा ।
सभी को एक रीत से वे दिखे एकरूप ना,
किसे विकृत रूप औ' किसी को सीधा दिखे वहाँ।
उसे जो मापने जाय, ऐसी कसौटी जो करे,
देर-सबेर गिरे नीचे, हाथ मलते वे रहें ।
उसको तो कुछ ना है स्वयं में ही खेला करे,
सभी बाह्यांतर वह प्रतिबिम्ब सम देखे ।
दो आँखें रख स्वयं में तीसरे से खेल नीरखे,
उसे खोना न कहीं भी, न प्राप्ति-आशा ही रखे ।

सभी संबंधों के साथ वर्तन हो भिन्न-भिन्न,
नैसर्गिकरूप ऐसा स्वयं जैसा होता व्याप्त;
तब भी उसका उल्टा, ऐसा सरल वर्तन,
जैसी जिसकी हो वृत्ति, उसे वह वैसा लगे ।

ठिकाना न किसी बात का ठिकाना सारी बात में,
विरोधाभासी गुणों का ऐसा मेल लगता है ।

बंधा हुआ और मुक्त, रागी-विरागी लगेगा,
तब भी ऐसा तो न, उसका भाव है विराट ।

भावना भिन्न-भिन्न ही जैसा बर्ताव बच्चे का,
स्वाभाविकता उसकी उच्छृंखलता लगती ।

उसकी वृत्ति ना एक, एक-सी लगती भले,
व्यस्त रहे यहाँ वहाँ, विचरे भाव से सर्व ।

एक ओर बहे कभी, दूसरी ओर स्थिर ही,
तीसरी ओर भिन्न दिखे, भिन्न तब भी नहीं ।

लक्षण क्षेत्र व दिशा वहाँ न एकदेशीय,
ऐसों को मानव-माप से माप कैसे करें रे ?

मानव-बुद्धि में तो उसकी प्रवृत्ति ना ठसे,
ऐसी प्रवृत्ति, निवृत्ति दो में भेद न है कहीं ।

कर्तव्य है ना उसके, कोई कर्तव्य एक क्या,
जहाँ कुछ नहीं करे, वहाँ तो भी करे अति ।

उसकी वाणी में कुछ भेद भिन्न-भिन्न रहें,
उसमें से मर्म कोई पूरा खेल न पाएगा ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १५, १८, ३५, ४१, ४२, ४३)

* *

पक्षपात न कहीं है उसे किसी बात में भी,
जो पक्षपात मानता उसी के उर में बसे ।

यहाँ आइने समक्ष जो भी थोड़ा खड़ा रहे,
प्रतिबिम्ब फिर भी नहीं निरखे ऐसा वहाँ जाए;
परवाह छाया संग आइने को कुछ भी ना ।

हुआ वहाँ करे जो भी उसके आसपास क्या,
उनमें स्वयं ही वह आकर लुप्त होता है ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ४३)

* *

हृद निश्चिंतता उसकी बाधित न हो कभी,
स्वयं का भाव योग्य रहे वह लीन आप में ।

एक जैसा न रहे तब भी एक होते जाए,
उसकी एकता ऐसी दुष्कर परखाएँ ना ।

जो जैसा हो उसके साथ तादात्म्य वैसा रखे,
उसका स्वभाव ना एक, वृत्तिवाला अनेक ।

किसी को कुछ कहे इससे वे ऐसा न जानें,
निराला रहे सबसे स्वयं में बहता रहे ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ४३, ८९, ११३)

* *

मोह

योग्य जीवन का भान जगाने नया मोह दे,
कैसा वह जकड़ रखे ! छूटने न दे अरे !
मोह जीवन का धर्म सूझने नहीं दे सही,
वही के वही विचारों के भंवर में घुमाये ।
शुभ संस्कार पाये हैं ऐसा मानव हो भले,
किन्तु मोह पाश में जकड़ा रहता कौन-से ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ४१)

* *

स्वयं बंधे रहना व दूजे को बांधे रखना,
प्रेम तो नाम न इसका; मोह है अति यह !
प्रेम व मोह के बीच भेद कैसा अनंत है !
मोह व प्रेम ना एक भिन्न-भिन्न स्वरूप वे !
मोह-स्पर्श जादू से मानव त्याग सारा करे,
ऐसे त्याग से भला जीव को कुछ भी न मिले ।
मोह से त्याग जो होगा उल्टा जीव को अधिक,
बांधकर करता क्या ! 'त्याग' को 'त्याग' न गिने।
प्रेम की मिट्टी का देह मोह को जानता सही !
बनाये अंधी भींत यह तो जीवन को अरे !
मोह तो मात्र बांधे हैं पट्टी आँख पर पूरी,
बहता जाय कैसे लोक मोह के बहाव में !

ऐसे को कोई जो आये सत्य दिल से सुझाने,
ये मोह-प्रभाव वहाँ उसे सत्य ना लगे ।

शक्ति होने पर, हो शक्ति क्या हर ले सभी !
हर ले बुद्धि की सान, अद्‌भुत मोह की गति ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ४१, ४२, १६०, १६२)

* *

युद्ध की अनिवार्यता

सारा जीवन-समग्र विश्व युद्ध से ही जीवंत रहता है, इतना ही नहीं, परन्तु युद्ध से उसका निर्माण होता है और युद्ध से उसका विकास होता है । युद्ध के कारण उसकी पुरानी विचारधारा, पुरानी परम्परा, पुराने माप, पुराने मूल्यांकन, पुरानी आदतें और दूसरी ऐसी अनेक प्रकार की धारणाएँ, मान्यताएँ और जीवन की रीति- इन सभी को कठोर आघात लगता है; फलस्वरूप कई नये तत्त्वों को—जिस जीवन में प्रवेश करने के लिए आवश्यक होता है उसे—प्रवेश करने की भूमिका भी युद्ध से ही रचता है ।

युद्ध के प्रकार अनेक है । वे स्थूल और सूक्ष्म भी हो सकते हैं । प्रत्येक भूमिका में युद्ध के स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रहेंगे । युद्ध की स्थिति में आये बिना मानवमन में कभी भी मंथन नहीं जगता और मंथन बिना गहराई में सोचने की तकलीफ भी नहीं लेता । युद्ध सलामत दशा को देशाटन देकर साधक को जीवनविकास आवश्यक ऐसी नयी-नयी परिस्थितियों में रख देता है ।

युद्ध यानी मात्र स्थूल हिंसा ऐसा कुछ नहीं । युद्ध से केवल खंडन ही नहीं होता, मंडन भी होता है । मनुष्य की बुद्धि के क्षेत्र में भी अलग प्रकार के युद्ध जागते हैं । भिन्न कामना, आशा, लालसा और वासना में भी युद्ध जागा करते हैं । एक इच्छा जागी तो उसके

सामने दूसरी इच्छा का संघर्ष खड़ा होता है। मनुष्य चाहे या न चाहे तब भी ऐसे युद्धों में उसे घिसटना ही पड़ता है; और अनेक प्रकार के द्वन्द्वों के युद्ध द्वारा सृष्टि में भगवान का दिव्य सूक्ष्म उद्देश्य पूरा होता जाता है।

मनुष्य को अपने स्वजन जैसा मानकर लिये मंतव्य, समझ, आदत, आग्रह, अभिप्राय, पसंद-नापसंद, रुचि-अरुचि वैसी ही प्राण की कामनाएँ, लालसाएँ, वासनाएँ और पड़े संस्कार—ऐसे सभी स्वजनों को मारने-संहार करने—उसका मन तैयार नहीं होता। मनुष्य के जीवनकाल में एक परिस्थिति उत्पन्न होते जो स्वधर्म लगता है, वही 'स्वधर्म' दूसरी परिस्थिति में अधर्म या परधर्म भी लगने लगता है।

अपने शरीर को ही मनुष्य **जीव**रूप ही मानता है, उसका वह रागी बन जाता है, उसके जैसा वह हो जाता है, उसे भी छोड़ना पड़ता है, तब वासना उसे छोड़ती नहीं; वहाँ भी उसके कर्म में तो युद्ध ही लिखा है। इसप्रकार आदि से लेकर अंत तक मनुष्य के जीवन में उत्तरोत्तर युद्ध के आकार और प्रकार बदलते रहते हैं। लगातार युद्ध में उसे घिसटना ही होता है। ('जीवनसंग्राम', आ. ५, पृ. १ से ३६)

* *

युद्ध, अनिवार्य

(अनुष्टुप)

युद्ध तो है अनिवार्य, युद्ध जीवन में सभी;
युद्ध को जो नकारता, नकारे तत्त्व जीवन का।

विश्व में भी जीव जो भी युद्ध दिया करे सही,
बिना युद्ध कभी जीव किसी में भी न विकसे।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १८१)

वस्तु पाने वास्ते मस्ती उद्‌भव करनी पड़े,
युद्ध-मस्ती के बिना कोई नहीं वस्तु पा सके।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. ७७)

ध्येय को पाने के लिए रखे जो आशा जीने में,
जिंदगी को गढ़े ऐसे, ढेला तो मानवी दूजे।

जीवन ध्येय के मार्ग युद्ध में जो खप जाए,
स्वयं को धन्य माने ये; ऐसे **भाव** झेल सके।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. ७७)

* *

(झूलणा)

शूरवीर वही जो अकेला लड़ेगा,
मंथन से विष वहाँ हो निकलता,
पूरा पचा जाओगे विष ऐसा अति,
तभी वह तत्त्व अमृत मिल पाता।

मथना जीवन-आनंद प्रकटार्थ,
ऐसा गिनकर जो युद्ध खेले,
मृत्यु उसे क्या कर सके वहाँ भला ?
मृत्यु निगल जाये वहाँ स्वयं।

युद्ध अनिवार्य है जीवन के पथ में,
सहना वे सभी के भाग आये,
पर संघर्ष करे जीतेगा वह सही,
अंतिम विजय-वरमाला पहने।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ५३)

विवाह–भावना का उद्देश्य यानी युग्मभावना

दो **जीवों** का जुड़ना, अहेतुक रूप से कभी भी होना संभव नहीं । इन दो **जीवों** के संबंध अनेक जन्म-जन्मांतरों में किसी न किसी तरह—एक या दूसरे रूप में—चलते रहते हैं । एक बार दिल में विवाह से जुड़े दो **जीवों** के संबंध कभी छूट नहीं सकते ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ६४)

* *

विवाहभावना मात्र केवल भोगविलास के लिए नहीं । यह तो तपश्चर्या के लिए है । समाज, देश, पितृ, ऋषिओं का ऋण अदा करने के लिए उत्तम साधन है । हृदय से शुद्ध सात्त्विक भावना लाकर आत्मा के स्वरूप में एक दूसरे को पहचानकर जो जगत के चरण में एकाद बुद्ध भगवान, ईशु, शंकराचार्य या ज्ञानदेव की भेंट रखेंगे, उसी ने जगत की बड़ी सेवा की है गिनी जाएगी । विवाह ऐसी प्रजोत्पत्ति के लिए है । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ६५)

* *

दो **जीवों** के विवाह संबंध से वे **जीव** समाज के जीवन के साथ हिस्सा ले रहे हैं । मानवसंबंध और भावना यह विवाहजीवन से आती हुई स्थिति पर से बंधते जाते हैं ।

विवाह की उत्तम भावना का विच्छेद होना कभी संभव नहीं है । उसके पीछे कर्म संबंध निहित है ।('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ६६,६८)

* *

विवाह संबंध एक पवित्र भावना है । यह भावना यानी पुरुष-प्रकृति का हृदय से सुमेल रखकर परम चेतन को जानना, समझना और अनुभव करना । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ७२)

* *

हमारे यहाँ विवाह का आदर्श हृदय-हृदय से मिलन और एक होना है; परन्तु वह स्थूल ढंग से न हो, 'मिलन' अर्थात् बंधन में पड़ना ऐसा अर्थ वहाँ नहीं है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १११)

* *

सामान्य मनुष्य के लिए विवाह आवश्यक वस्तु है । उस मर्यादा की भी आवश्यकता है । जैसे-जैसे उसमें भावना का तत्त्व बढ़ता जाय वैसे-वैसे विवाह भावना ऊर्ध्व होती जाती है । हमें तो पार्थिव तत्त्व से पर होना है, वह उसकी अवगणना कर, उसके प्रति तिरस्कार रखकर नहीं हो सकता । ऐसा करने से उसके मूल पलटनेवाले नहीं हैं । यह तो उसका रूपान्तर करने से हो सकता है । हृदय से हृदय की एकता हो और उसमें से भावना प्रगट हो और उस भावना से हमारे जीवन में दृष्टि, वृत्ति और भाव ऊर्ध्वगामी हों, इसी तरह साधना में विवाहजीवन का उपयोग है । इससे दूसरी तरह साधना में उसका स्थान नहीं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११२)

* *

स्वयं के साथ जुड़े **जीव** की यदि कोई **जीव** अवगणना करता है, तो समाज की भी उसके द्वारा अवगणना हो रही है । भले ही ये दो **जीव** एक समान कक्षा के न हों; इससे क्या हो गया ? क्या दोनों में से उच्चप्रकार के **जीव** ने अपनी हार मान ली ? ऐसा करने पर यह अधिक से अधिक कमजोर होता जाता है । कमजोरी का सामना कमजोरी बढ़ाकर नहीं, पर अधिक सबल होकर करना है । **जीव** को यदि जीवनविकास करना हो तो प्रत्येक परिस्थिति पर जीत प्राप्त करनी है और उसमें से जीवंत शक्ति पैदा करनी चाहिए । ऐसी विवाह

भावना का विच्छेद होना कभी संभव नहीं है । इसके पीछे तो कर्म संबंध विद्यमान है ।

प्रत्येक **जीव शिव** हो सकता है, ऐसा दृढ़ आत्मविश्वास हम में जागने दें । ऐसा **शिवत्व** यदि जीव में न हो तो **जीव** कोटि में वह अवतरित ही न हुआ होता । कोई **जीव** कब **शिव** हो सकेगा उसकी समयमर्यादा नहीं गिनी जा सकती; परन्तु इससे वे **जीव** अपना **जीव**स्वभाव बदल नहीं सकता ऐसा मान लेना यह यथार्थ नहीं है । इस अवधि का किसे पता ? कल भी बदले । अजामिल, गीध, व्यास, वाल्मीकि, सूरदास (बिल्वमंगल) आदि प्रत्यक्ष प्रकृति के पीछे कोई गूढ़ अगम्य दैवी संस्कार पड़े ही रहते हैं । वे संस्कार किसी **जीव** में कब उत्पन्न होंगे या फूट पड़ेंगे वह कौन कह सकता है ? इससे किसी भी **जीव** की **जीव** प्रकृति के ख्याल में आना निरर्थक है, इतना ही नहीं पर साधना के लिए भावना के विकास में वह बाधक है । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ६८-६९)

* *

पति-पत्नी के संबंध भी अंततः किसलिए हैं ? उसका अंतिम उद्देश्य क्या है ? व्यष्टि से समष्टि में आयी तन्मय तदाकार हो एक जीवंत चेतना-प्रवाहरूप होने के लिए विवाह-संबंध है । जीवन में सुषुप्त हो रही वासनाएँ संपूर्णरूप से दिव्य रूपांतर हो जाय, दिव्य चेतनाशक्ति में परिणाम आये, उस हेतु के लिए विवाहसंबंध है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ८४)

* *

नवदंपति को

(शार्दूलविक्रीडित)

आज एक बने तुम जीवन में 'पत्नी' 'पति' भाव से,
यात्रा जीवन के हर पथ के बारे में अति प्रेम से;
यह विश्व समस्त एक होने, इस काज संसार है,
इस हेतु द्वारा ज्ञान, भान जीवंत रख जीव जीये ।

सच्चे प्रेम द्वारा हो उदय वहाँ टूटें दिवालें सभी,
पाओ जीवन-एकता; सकल में देखे उस भाव से;
सद्‌भाव से जीवित जीवन का आनंद कोई और है,
ऐसा जीवन बिताते जगत में, धन्य **जीव** हैं सही !

यह प्राणापर्ण होना सहज है, किन्तु पूरे भाव से,
हृदय-मन परस्पर जीये इस दुष्कर कर्म से;
सर्व अंतर के पट हट जाए एकात्म भाव होने,
—यह तो केवल साधना द्वारा होता; यों जीना दुष्कर ।

सामान्य पथ सर्व जग-जन चला करें उसी में ही,
क्या पुरुषार्थ रहा महा ? रस क्या उस जीव को भला ?
मौलिकता न हो उस जीवन को मिथ्या है जीया जानो,
जिसमें है बलिदान, यज्ञ-तप है, वही जीया भला ।

दोनों एकदूजे के लिए जीव को होमें उसी में भला,
दोनों एकदूजे के साथ रह पथ में बढ़ें तेजी से;
दोनों एकदूजे हेतु हृदय में रखें एकात्मभाव,
ऐसी जो कुछ कमायी हो, अर्पण प्रभुपादश्री करें ।

दोनों जीवन ध्येय में रत हो उस पंथ में जीने को,
—सहने का कुछ आये, तप गिन उसे स्वीकारे सदा,
कोई किसी से ना ऊँचा-नीचा है, जो-जो प्राप्त वह,
स्वयं के विकास हेतु मिले हैं, यों समझें जीवन में ।
जो भी सभी हुआ करे, जीवन का जो हेतु वहाँ देखें,
तो मिथ्या वह न जाये, पर नवीन जीवन ही पायें;
जहाँ जहाँ विघ्न, कृपा वहीं प्रभु की मान, सदा जीवें,
अपनेआप हुआ करे जीवन का कल्याण हो भला !

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १०० से १०२)

जो भी सर्व हुआ करे, प्रभु के हाथ को वहाँ नीरखे,
वह सारे प्रेरणात्मक होंगे और जीव में बढ़ेंगे;
मिलाप होना परस्पर जग दो व्यक्ति का व्यर्थ नहीं,
'ये तो सर्व विकास-योग्य रचना' यह जानें **कृपा** ही ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १०० से १०२)

बहनों के प्रति भाव

(अनुष्टुप)

आदर-भक्ति भाव माता, बहन प्रति गहरा,
—जगाये रखें उर में आर्त व आर्द्र प्रेम से;
स्त्रियाँ तो विश्व की माता; तुच्छतापात्र वे नहीं;
तुच्छकाम से हमारी हानि अवश्य ही होगी ।
मानव ने बनाकर अपनी लालसा द्वारा,
—उसे भोग, गुलामी व विश्व में न्योता दे डाला ।
जहाँ तक मनुष्य में पवित्र भाव गहन,
-जागे न स्त्रिओं के प्रति, मानव पशु वहाँ भी ।

विश्व का क्षेत्र तो स्त्रियाँ; उसमें भावना रही,
—ऊँचे चढ़ाता है, सेवा करे अमूल्य विश्व की ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १८८)

* *

लक्ष्मी (धन) विषयक दृष्टि

धन की गिनती नहीं करनी है । जितना इस मार्ग में अच्छा है, उतना ही अच्छा उसका अयोग्यरूप से उपयोग, व्यवहार न हो यह देखना है । धन के संग्रह की भावना का कभी विचार भी न आने दें । यदि ऐसा हो कि, 'ऐसा हो तो धन पास रखने का क्या काम होगा तो उसका विचार आएगा नहीं ?' पर यह विचार ठीक नहीं है। जैसे शरीर, इन्द्रियाँ आदि हमारे में निहित तत्त्व विकसाने की भूमिका के लिए मिले हैं और उस भूमिका के लिए आवश्यक और वास्तविक है, उसी तरह धन की ओर हमारी दृष्टि होनी चाहिए । फिर जैसे किसी को स्वाद का भान ही न हो और फीका जैसे खाये इसमें कोई महत्ता नहीं, पर जिसे स्वाद की परख हो तब भी यदि ऐसा प्रसंग आ जाय तो उसमें यथार्थता है, उसी तरह धन के प्रति हमें देखना है । पैसा न हो और स्वयं अपने को भिखारी समझे इसमें क्या आश्चर्य ? परन्तु पास में पैसे हों, तब भी अपने को भिखारी समझे और ऐसा आचरण रखा करे, तो लाभ अवश्य होगा । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ४)

* *

धनवान लोगों के पैसों ने जगत में अधिक अनर्थ किया है । लापरवाह लोग आज इस शक्ति का संग्रह करके बैठे हैं । इसके सदुपयोग की कला वे नहीं जानते । वे तो भोग-विलास में डूबे रहते हैं । धन यह तो एक समर्थ शक्ति है । उसका पास होना गलत नहीं

है । उसके प्रति हमारी विचार शक्ति, उसे दिव्य हथियार, साधन रूप में उपयोग करने की कला, उसके उपयोग की ज्ञानपूर्वक की समझ हम हृदय से पूरा समझ नहीं पाये हैं । इसीसे सभी उलझनें खड़ी होती हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३०)

* *

कांचन के प्रति श्रीरामकृष्ण परमहंस की जो नफरत थी वैसा भाव और वैसा ही स्वरूप लक्ष्मी के प्रति दृष्टि, अनासक्ति प्रत्येक सत्पुरुष में होनी चाहिए ऐसा कुछ नहीं है, इतना ही नहीं कथा में से उठ जाने के बदले पूरी तरह ठंडे कलेजे से अपने महल को जलने देने की जनक राजा जैसी, उसी स्वरूप में, अनासक्ति व्यक्त होनी चाहिए, ऐसा ही आग्रह या समझ नहीं रखी जा सकती । समयानुसार सभी का ढंग अलग होगा । अनासक्ति व्यक्त होने के प्रकार अमुक ही हों और अमुक ही ढंग से व्यक्त हों तो ही सही और बाकी गलत ऐसी मान्यता या समझ यथार्थ नहीं है । धन का परिग्रह न करके, दूसरों को सौंपकर या दान में खर्च करके अकिंचन होने के बदले उसका अत्यन्त व्यवस्थित हिसाब रखकर धन का उचित उपयोग साधना के विकासार्थ और प्रभु के हेतु अर्थ समर्पणभाव से हो ऐसी ज्ञानयुक्त जागृति रखकर भी साधक धन के प्रति संपूर्ण अनासक्ति रख सकता है या बना सकता है । ('जीवन संशोधन', आ. १, पृ. २४१)

* *

जीवन क्या धनवान को ही मिला होगा ? जिस जीवन में भावना की कदर नहीं, भावना का मूल्य नहीं, भावना का मर्म जो जीवन में नहीं समझता, उसका जीवन किस काम का ? यदि **जीव** को जीवन की समझ और दृष्टि ही न हो तो पैसों के संग्रह का उपयोग ही क्या ? जीवनविकास के अर्थ तो इन सभी का हेतु और उपयोग

है । यदि इससे जीवन निर्माण न हो और उल्टा जकड़ता हुआ लग रहा हो तो उन पैसों का क्या करना ? ऐसे पैसे हमारे अति प्यारे स्वजन के शव जैसे हैं । पैसों का इसतरह और इतना सारा महत्त्व जीवन में विकृति लाता है । जीवनसंस्कृति की तेजस्विता घटने से परिणाम तो फिर ऐसा ही आएगा न ? ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३१)

* *

वातावरण की असर

हमारे आसपास एक दो नहीं पर अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न वातावरण छाये हुए होते हैं । इनकी जानकारी सामान्य **जीव** को नहीं होती । **जीव** को वातावरण हिला देता है और उसके बल पर एक या दूसरे प्रकार से उसका निर्माण होता है । साधक का कर्तव्य है अनिष्ट सूक्ष्म वातावरण से उभरना होता है और इसके लिए एक रास्ता कोई भी पारमार्थिक, यानी कि प्रभु के, सतत विचार में या ऐसे भाव के साथ किसी कार्य में लगातार लगा रहना । मन को सतत सात्त्विक ढंग से प्रवृत्तिशील रखने से हम पर दूसरे वातावरण की असर नहीं होती । 'सात्त्विक ढंग से प्रवृत्तिशील' यानी ऐसी प्रवृत्ति जिससे मन में आसक्त न हो, वह प्रवृत्ति स्थूल कार्य की हो तो उसमें भी सतत भगवद्भाव रहना चाहिए और वह भी समर्पण भाव से ।

आधार के करणों में मन सबसे अधिक सूक्ष्म करण होने से उसे वातावरण तुरन्त स्पर्श करता है और हिला सकता है । इन्द्रिय स्पर्श से उद्भव होते स्थूल वातावरण में मन टकराता है, उससे भी सूक्ष्म वातावरण में तो वह अधिक टकराता है । सत्संग और दुर्जनसंग इन दोनों के कारण मन पर के आघात के झटके अधिक असरकारक होने से अनुक्रम से मन को वह अधिक लाभ या हानि पहुँचाते हैं । मन

इन्द्रियों से अधिक शक्तिशाली है । कितने भी उग्र संयम से सभी इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में से खींच लिया हो, तब भी मन से उन-उन इन्द्रियों के विषय सेवन का विचार होने से उस संयम से खड़ा किया वातावरण कहीं निरर्थक या मिथ्या हो जाता है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २१६-२१७)

* *

जीवनविकास के मार्ग में गुणों की विशुद्धि जितनी आवश्यक है, इससे शायद अनेकगुना अधिक विशुद्धि ऐसे वातावरण की साधक के लिए है । अपने साथी के प्रति अश्रद्धा या असद्भाव मन में या ऐसी किसी प्रकार की भाव लहरी न हो, यह देखने का काम उसके लिए अधिक आवश्यक हो जाता है । ऐसी दृष्टि और शुद्धि अच्छे वातावरण से रच सकते हैं । **अच्छा वातावरण खड़ा करने के लिए खराब का सामना करने की अपेक्षा अच्छे बल को बढ़ाने का प्रयत्न करना यह अधिक सरल उपाय है ।** बलवान आत्मा स्वयं में वातावरण रचती है । ऐसी आत्मा को दूसरा वातावरण असर नहीं कर पाता ।

कितने ही खराब वातावरण की असर के नीचे हम हों पर प्रभुकृपा से यदि कोई धन्य क्षणों में शुभ, अच्छे संस्कार की लहर हमें स्पर्श कर जाए और हम उसे पकड़ लें ऐसी कला हस्तगत हो जाए, तो हम अपने में नया जीवन ला सकते हैं । असद् वातावरण में पड़े होने पर भी कोई संस्कार के बल पर हम यदि सत्संग में जाँय तो लाभ होना पर्याप्त संभव है । कुछ समय के लिए पुराना वातावरण हमारे सामने रहेगा और उसका गुंजन और असर हम पर रहा करेगा; परन्तु यदि वे, दूसरे, सद्वातावरण का खिंचाव अधिक होगा और यदि हम ने हृदय के भावभरे स्मरण के साथ पुराने

वातावरण से दिल को हटाने का निश्चित किया होगा, तो नये सद्‌वातावरण को जमते देर नहीं लगेगी ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २३२, २३४-२३५)

* *

वाणी का संयम

वाणी पर जाग्रत काबू साधक को लाना होता है। वाणी द्वारा बेकार जाती शक्ति का उपयोग नामस्मरण में करना है। वाणी या वचन की भी शक्ति होती है। यदि स्थूल धन को हम किसी तरह बेकार नहीं जाने देते, तो वाणीधन को कैसे बेकार जाने दे सकते हैं ? वचन में तो दरिद्रता ही शोभा देती है। वाणी उच्चारण में कंजूस होना है।

किसी को बिन माँगे शिक्षा या बोध के वचन न कहें । बिना चाहे कहीं सिर न मारें । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २३)

* *

कम से कम बोलने में अधिक लाभ है । हेतूपूर्वक की मधुर वाणी और वह भी ज्ञानपूर्वक की सद्‌भावनायुक्त, जब उच्चरित होती है, तब वैसी वाणी में प्राणतत्त्व प्रकट होता है । वाणी कितनों को ही जन्म देती है, कितनों की रक्षा करती है और करवाती है; कितनों को मृत्यु लाती है । **वाणी यह जैसे समर्थ शक्तिरूप है, वैसे ही उसका— वाणी का—अव्यक्त स्वरूप अंतर्मुखता वह मौन है ।**

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २३, २४)

* *

हृदय से आती वाणी यानी पश्यंति वाणी, गले से आती वाणी यह मध्यमा और जीभ से बोली जाती वह वैखरी और इन सभी से

जो भी वाणी परे हैं वह परा वाणी । हम सभी तो अभी वैखरी वाणी की दशा में हैं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १७२)

* *

जितना कम से कम बोलें उतना उत्तम है । सप्ताह में एक दो दिन मौन रखें तो उत्तम । मौन लेना बलपूर्वक न हो ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९७)

* *

साधक बातों के रस में बहा करे वह इष्ट नहीं है । बातों का रस विषैला है । **कहाँ, कितना, क्या और कैसे बोलना उसका सूक्ष्म विवेक रखना चाहिए ।** ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९८)

* *

विघ्न - कठिनाइयाँ

हमारी कठिनाइयाँ हमें वेग देनेवाली होनी चाहिए । कठिनाइयाँ छिपे वेश में आशीर्वाद समान हैं । जैसे बाड़ कूदनी होती है, तब जरा पीछे दौड़कर कूदना रहता है वैसी ही पीछे हठ हमारी गति को जोश देता है अथवा शरत के घोड़ों को तैयार करने बीच-बीच में अवरोध hurdles - लकड़ी की बाड़ - रखी जाती है । प्रत्येक विघ्न प्रभु हमारे हित के लिए अथवा तो हमें स्पष्ट भान कराने, सचेतन बनाने या हम कहाँ हैं और किस दिशा में जा रहे थे, उसे बताने के लिए भेजते हैं । साधक ऐसे विघ्नों से, कठिनाइयों से जो हेतु और अर्थ निकालते हैं, उस पर से तो उसकी कक्षा या वृत्ति पहचानी जाती है । फिर विघ्न के पार होने से परम प्रभु की कृपालु दृष्टि के दर्शन होते हैं और उसमें अधिक से अधिक विश्वास-श्रद्धा दृढ़ होती जाती है; यह कोई जैसा तैसा लाभ नहीं । इस दृष्टि से देखने पर विघ्न ये विघ्न

नहीं लगते और नहीं रहते, उल्टे श्रेयस्कर हैं ऐसा अनुभव होता है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३३)

* *

विघ्न

(अनुष्टुप)

विघ्न किसे नहीं मिला ? बताओ एक जग में;
पाएगा विघ्न से लाभ विघ्न का सत्कार करें ।

विघ्न से जीवन को कभी दब जाना नहीं कहीं,
प्रेम से सामना वहाँ जो कर पाएगा नया ।

जीवनध्येय अपनी दृष्टि में नित्य जो रखे,
—ध्येय पाने के लिए जो लड़े विघ्न से वे जीये ।

* *

विचार

मनुष्य जैसे विचारों को सोचता है, वैसे विचारों का आंदोलन, लहर, स्वाभाविक ढंग से ही आसपास के वातावरण में फैलता है । ऐसी लहरों का दीर्घकाल टिकना या दूर तक जाना और गाढ़ी व हलकी असर पैदा कर वह उसके पीछे की संकल्पशक्ति पर आधारित है ।

विचार भी एक आंतरिक कर्म है । जैसे स्थूल कर्म के संस्कार निश्चित हैं, वैसे ही आंतरिक सूक्ष्म कर्मों के यानी कि विचारों के संस्कार भी निश्चित हैं । इससे जैसे स्थूल कर्म की योग्यता की देखभाल **जीव** रखे, वैसे सूक्ष्म कर्मों की यानी कि विचारों की योग्यता की भी संभाल साधक को अवश्य जागृतिपूर्वक रखनी होती है ।

विचार तो हमारा निर्माण करते हैं । हमारा स्थूल आचरण मात्र अच्छा हो यह पर्याप्त नहीं ।

जो कुछ विचार हमें आयें उनका योग्य हल लाकर फिर खाली या शांत रहकर जाग्रत प्रयत्न करना और मन में कूड़ाखाना न बनाएँ । विचारों का ढेर न करें, उसके भंवर में न डूब जाँए ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ११, २३)

* *

कर्म के संस्कारों के कारण जो भी विचार आएँ उनकी कड़ी हमें जोड़नी नहीं है । विचारों की शृंखला को न जोड़ें, तभी उसका जोर एवं असर घटा सकते हैं । साधना में एक महत्त्व की क्रिया है । विचार परम्परा को सफलता से रोकने की क्रिया करते रहेंगे, उतने अंश में चित्त के संस्कारों की असर अपनेआप मिट जाएगी । उसके बाद ही हम कोरी स्लेट हो सकेंगे ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १११)

* *

हम दूसरों के विषय में असद् विचार करते हैं तो हम अपने में तो उसके बीज बोते ही हैं, पर सामनेवाले में भी वैसी भावना को जन्म देते हैं ।

विचारों का भी समर्पण कर देना है । विचार न आएँ यह उत्तम है; पर किसी तामस या जड़तामूलक प्रवृत्तिवाले को विचार न आएँ, तो वह भी अच्छा नहीं । जिसमें रजस प्रवृत्ति है, उसमें तो विचार होंगे ही । सत्त्वगुणप्रधान प्रकृतिवाले के विचारों में स्थिरता होगी, डोलना नहीं होगा, यद्वातद्वापन नहीं होगा । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १८७)

* *

नयी परिस्थिति की छाया एक बार समझ में आ जाय तो फिर से उसके बारे में कोई सोचना नहीं है । विचार न तो उस परिस्थिति के विषय में करना है और न तो उसके आगेपीछे की घटना या संजोग के विषय में । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १९८)

* *

नामस्मरण का जितना अधिक झुकाव प्रतिदिन की प्रत्येक गतिविधि पर देते रहेंगे, उतनी मात्रा में विचारों और उसका बल घट जाना संभव होगा । यह प्रयोग आचरण में लाना है ।

* *

विवेकशक्ति

प्रभु हमारे पास से जिस प्रकार के दिव्य जीवन की अपेक्षा रखते हैं, वैसा जीवन प्राप्त करने के लिए विवेकशक्ति अनिवार्य है । बुद्धि की इस शक्ति का योग्य ढंग से विकसित हुआ हो और उसका सदुपयोग करने की ज्ञानपूर्वक की आदत हो गई हो तो इससे सत्य की सूझ आती जाती है; तथा किन बातों को कितना महत्त्व देना चाहिए उसकी भी समझ आती है । ऐसी समझ के बिना यथायोग्य जीवन असंभव है ।

जीव चतुर है, होशियार है, पर उसमें सयानापन-ज्ञान न भी हो । सच्चे ज्ञान का एक मुख्य लक्षण विवेक है । विवेक बिना का ज्ञान असंभव है । विवेक बिना का भाव हानिकारक है । विवेकशक्ति न हो तो जीवन का कोई उद्देश्य, कोई कारण या ध्येय नहीं रहता ।

विवेकयुक्त मनोदशा और आचरण के लिए जो तटस्थता की आवश्यकता है, वह तटस्थता अनासक्ति के बिना असंभव है । **तटस्थता और अनासक्ति लगभग पर्यायवाची शब्द हैं, तब भी उसमें भेद है । तटस्थता एक तरफ से अनासक्ति का परिणाम भी गिन सकते हैं ।**

मनुष्य में अंतर्गत रहे परमात्मातत्त्व का पूर्ण आविष्कार होने में भाव का आचरण अवरोधकर्ता है, पर शायद विशेष अवरोध तो बुद्धि का आवरण करता है । बुद्धि की पकड़ भावना की पकड़ से अधिक मजबूत, आग्रही और दीर्घकाल पर्यंत टिकनेवाली होती है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १४३ से १४७)

* *

साधक के मन में उठते अनेक प्रकार के बुद्धि, मन, भावना, प्राणतत्त्व आदि बल उसे परस्पर विरुद्ध दिशा में घसीट कर ले जाने को मथेंगे, तब उसकी समतोलता की रक्षक यह विवेकशक्ति ही है । उसके लिए तो वह अंधे की लकड़ी समान हो जाती है । दंभ और आत्मवंचना करनेवाले **जीव** में यह शक्ति विकसित नहीं हो सकती । प्रत्येक विचार, भाव, मनोभाव, वर्तन आदि का सत्य जैसी कठोरता और न्याय जैसे निर्दय निष्पक्षपात से निरीक्षण करनेवाला सूक्ष्मदर्शक यंत्र की गरज विवेकशक्ति पूरी करती है । जीवन की महान पहेली समय में नहीं, परन्तु प्रतिदिन छोटे-छोटे प्रसंगों में भी इस शक्ति का उपयोग अति उपयुक्त जीवन जीने के लिए करना है । ऐसा होने पर इस गुण के कारण हम में होते रूपान्तर में सहायता मिलती रहती है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १४८-१४९)

* *

विश्व में अलिप्त विश्वेश्वर

(अनुष्टुप)

शरीर हमारा लूला भले साधन पंगु ही,
किन्तु कैसा जरूरी वे धर्म पाने को गहरा !

विश्व इस ढंग से जानें ईश का शरीर है,
क्या अव्यक्त रहे नाथ छिपा अंदर सभी में !

संकलित है स्वयं तब भी उस रचना में,
और उससे भी भिन्न स्वयं फिर रहे कहीं ।

विश्व में ज्ञान रखा कृपा कर विश्वेश्वर ने,
किन्तु बुद्धि खिली न इससे वे पा न पाते ।

वायु आकाश का कैसा गूढ़ संबंध होता है !
वायु के गुण दोषों का स्पर्श आकाश को नहीं ।

वायु से निरा भिन्न हो ऐसा आकाश तो रहे,
वायु जहाँ नहीं वहाँ आकाश विद्यमान है ।

प्रभु ऐसा रहे विश्व में तब भी अलिप्त है,
तब भी संबंध पास का गाढ़ व गूढ़ वहाँ ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १३८, १४९)

* *

स्वरूप प्रेम का व्यक्त विश्व की लीला सारी ही,
नचाये प्रेम सभी को अगम्य किसी ढंग से !

एक स्वयं रहा कैसा तब वे रूप **अनंत,**
उपजाया करे सभी अंतर से जड़कर ।

गूढ़ अनंतता जैसी क्या रही बीज एक में !
'अनंत' 'एक' इकट्ठा क्या रहे स्निग्ध प्रेम में !

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ९१)

* *

वैराग्य और संन्यस्त

वैराग्य अर्थात् संसार व्यवहार के प्रति उदासीनता अथवा बेपरवाह ऐसी समझ सही नहीं है । जिस समय, जो धर्म कर्तव्य हो, उसका योग्य रचनात्मकभाव से स्वीकार कर, उसका पालन करने में सही वैराग्य का कभी विरोध नहीं हो सकता । उदासीनता विषयक भी गैरसमझ व्याप्त है । यदि जरा भी आंतरसत्त्व की रसवृत्ति को हानि पहुँचा सके वैसा हो, उसके प्रति ज्ञानपूर्वक की जाग्रत उदासीनता सहजरूप से हुआ करे वह उदासीनता रचनात्मक जीवन की विकासक गिनी जाएगी ।

सच्चे वैराग्य की भावदशा में समता, शांति, धीरज, ताटस्थ्य आदि सात्त्विक गुण व्याप्त होते हैं । परिग्रह या अपरिग्रह एक में भी वैसी भावना दशावाले अटकते नहीं हैं । जिस तिस को उसकी यथार्थता स्वीकारने वह तत्पर रहता है । जहाँ परिग्रह की योग्य आवश्यकता हो, उसे उपयोग भाव से ज्ञानपूर्वक स्वीकारने में उसे आपत्ति नहीं होती । उपयोग के अर्थ में आवश्यक न हो तो उसे खाली परिग्रह करने का शौक भी उसे नहीं होता । जहाँ भी आत्मसमर्पण की प्रकट रूप से आवश्यकता खड़ी होती है वहाँ-वहाँ वैसा करने को उद्यत रहता है और आवश्यकता बिना खाली-खाली त्याग करने को वह उतावला भी नहीं होता । वैराग्य की सच्ची भावना में तो जिस-तिस में सहजपन बना रहता है; उसमें किसी विधि निषेध का स्थान नहीं होता, कहीं किसी से ढीला पड़ने का नहीं है या भाग खड़े नहीं होना है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७ से ३९)

* *

वैराग्य की प्रणालिका के संस्कार में संसार असार व मिथ्या है ऐसी भावना जो व्याप्त है, वह योग्य नहीं है । संसार जिसे सीखना है, उसके लिए प्रत्यक्ष गुरु है, वह मिथ्या नहीं हो सकता ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २०२)

* *

वैराग्य और जीवन को प्राप्त हुए धर्म कर्तव्य का कहीं विरोध नहीं है ।

जिस तरह का निम्न जीवन हम जी रहे होते हैं उसमें से उपरामवृत्ति जागे, उसके प्रति अरुचि जागे तो ऐसे प्रकार के भाव का एक प्रकार का वैराग्य गिन सकते हैं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २९८)

* *

शास्त्रों में वर्णित संन्यस्त का धर्म और संप्रति साधारणरूप से आचरित संन्यासी का धर्म, इन दोनों के प्रकार में आसमान-जमीन का अंतर है । **गीता का संन्यास उस वृत्ति का संन्यास है ।** गीता का धर्म प्राप्त परिस्थिति और प्राप्त धर्म से भागने की स्पष्ट ना है । उसे वह कायरता मानते हैं । जिससे ऊबकर, त्राहित हो भागे, वह धर्म के हृदय को प्राप्त नहीं कर पाता । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३६७)

* *

हमें किसी भी बात में आसक्ति न रहे, राग न रहे, मन किसी बात में चिपका न रहे, प्राण किसी की कामना न करे, उसका नाम वैराग्य । वैराग्य अर्थात् श्रीभगवान के चरणकमल में हृदय के संपूर्णभाव से आसक्ति ।

सकल कर्म करने पर उसमें पूरीतरह संन्यासवृत्ति अर्थात् सर्वकर्म का पूरा संन्यास । व्युत्पत्ति अनुसार तो उसका अर्थ ऐसा होता है कि

'अच्छी तरह संपूर्ण रूप से, योग्य तरह 'डिपोजिट' करना अथवा रख देना'; उसका सीधा सादा अर्थ तो यह है कि **सारे कर्म भगवान को समर्पण करते रहना, उसका नाम संन्यास ।** पीढ़ी का मुनीम लाखों कमाये और लाखों खोये उन सभी का हवाला तो वह पीढ़ी को सौंप देता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३०, ४२)

* *

वृत्तियाँ

वृत्ति अर्थात् गति । यदि हमें सच्ची वृत्ति—किसी भी प्रकार की हो—जगी होगी तो वह गति करवाएगी ही । ऐसी गति जागे तो समझना कि वृत्ति जागी है । बाकी तो मात्र सामान्य लहरी–वृत्ति की लहर–आकर चली गयी ऐसा जानें ।

प्रभु ने हमें अनेक प्रकार की वृत्तियाँ बक्षी हैं । उन सभी का दिव्य उद्देश्य है । वृत्ति के पीछे ज्ञानपूर्वक उद्देश्य यदि मनुष्य जान सके तो प्रकृति की वह एक बड़ी भेंट है, ऐसा उसे ज्ञान होगा ।

हमारी वृत्तिओं को, हमें केन्द्रित करना होता है । यदि वे बिखरी दशा में व्याप्त होंगी तो उनका बल घट जाएगा । वे स्वयं ही हमें मददरूप हों वैसा अंत में उसका नियमन होना चाहिए । हमें उसके नचाने से नाचना छोड़ देना होगा ।

* *

हमारी सर्व वृत्तिओं का जीवन में समन्वय करना पड़ेगा । भले ही वे सभी वृत्तियाँ यहाँ से वहाँ स्वच्छंद रूप से व्याप्त हों, तब भी यदि एकाद कोई ऐसी भावना में खूब दृढ़ता और उसकी उत्कटता में जमते जाएँगे, तो अपनेआप दूसरी वृत्तिओं का जोश नरम पड़ जाएगा । जब हम अत्यन्त क्रोधित होते हैं, तब दूसरी वृत्तियाँ शांत हो गई होती हैं और

क्रोध की वृत्ति ही आगे रहकर हम पर अधिकार कर लेती है; अथवा तो कोई भारी उलझन झंझट में उसे हल करने के लिए खूब एकाग्र हुए होते हैं, तब भी एक ही वृत्ति अग्र रहती है। इसलिए यदि हमें दूसरी वृत्तिओं को कम करना हो, उनका स्वच्छंदीपन मिटाना होगा तो साधक को उसके ध्येय की भावना में खूब उत्कटभाव से लगे रहना चाहिए। उसके बिना ध्येय की प्राप्ति होनी संभव नहीं है। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०१)

* *

वृत्ति का उपयोग

(अनुष्टुप)

वृत्ति से घिरता है जो वृत्ति से कैसे उबरे ?
वैसे को बिना वृत्ति अन्य वह कैसे सूझे ?

वृत्ति के मोड़ में वैसी तो लहरी उठे !
स्वयं वहाँ खुश कैसा उससे परखा जाये ।

उठती सर्व वृत्तियाँ 'स्वयं कैसे' बतलाये,
इससे जिस वृत्ति को पूरी बैठे संभाले, वे जीये।

वृत्ति से जो लहराए वे सिकुड़ेगा वृत्ति से,
वृत्ति को शक्ति मान जो काम ले, जरूर जीये।

बने वृत्ति द्वारा दास वृत्ति के बहाव में जो,
डुबाये वृत्ति, उसे तो ऊँचा उसे न आने दे ।

वृत्ति से तेज खो जाता, जीवन-नूर वृत्ति क्या !
वृत्ति से पैदा करे, वही सच्चा तेज अपना ।

संभाल लें वृत्ति को वृत्ति से जाँय न उड़,
वृत्ति को काम में लें लाभ पूरा पाना ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १२५-१२६)

* *

(मंदाक्रान्ता)

वृत्तियाँ तो कितनी ही उठतीं भोर में ओस जैसी !
उसके बिन्दु प्रथम किरण से लुप्त होते दीखे ।

* *

वृत्तियाँ जो मन में होतीं उनको निहारा करें,
कहाँ कहाँ उनका उल्टासीधा वहाँ परख लें;
जहाँ जहाँ टेढ़ी गति न जाय उसके पीछे ही,
इसतरह नीरखते, काम लो उसके साथ ।

* *

मीनारे लाखों जगजन चुने वृत्तियाँ लूली सी वे;
सामने आये तब चकनाचूर हो मीनारें पड़ती ।

('पुनितप्रेमगाथा', आ. २, पृ. १४४, १४८)

* *

व्यक्त- अव्यक्त

(झूलणा)

व्यक्त-अव्यक्त का भेद वाणी के, सत्य हकीकतरूप वे न भिन्न,
भेद-अभेद के भाव में फेर है, तत्त्वरूप कोई फेर वहाँ ना ।

सच्चिदानंद की जो स्थिति में रहें, व्यक्त उन्हें कह वे सकते,
उससे पार की जो अनुभव-दशा, व्यक्त किसी से न हो सके ।

मन और इन्द्रियाँ, चित्त व प्राण से, हृदय-आधार से ज्ञात हो,
व्यक्त उसे समझें व्यक्त सारे भाव से, हृदय के भाव से ज्ञात हो ।
चित्त के क्षेत्र की सीमा में, भावना का घनीभूत होना यही है,
कल्पनातीत है **भाव** रस वह, कल्पना चित्त-व्यापार का भाग है ।
व्यक्त उससे सही ! चित्त से पर बसे, जानना **व्यक्त** तो **भावरस** वह,
व्यक्त का रूप वह है कहीं ना कभी, भाव क्या अकेले तत्त्वरूप से ।
वह मनेन्द्रिय परे, चित्त वृत्ति परे, मनोभाव भावना से परे है,
व्यक्त वे भाव अनुभव आएगी, लक्ष्य से अलख में जा सकेगा ।
वृत्ति तो लहर है, भावना रूप में, फेरकर भरो प्राण उसमें,
चेतनारूप वह स्वयं होगा तदा, चेतना को करो शक्तिरूप ।
शक्ति का हृदय वह व्यक्त का भाव है, वहाँ सभी खेल व तमाशे करे,
कल्पनातीत तब भी कल्पनागम्य है, इससे वह पकड़ में आ सके ।
जो हुआ स्थिर प्रज्ञा विषयक भक्त वह, व्यक्त सारे भाव के प्रदेश में,
जो गुणातीत की है दशा का वर्णन वह अव्यक्त से जरा कुछ प्रवेशे ।
ब्रह्म, परब्रह्म, परमात्म भाव से हृदय में व्यक्त भाव में वह रहा है,
परम पुरुषोत्तम की जो दशा पाएगा, वह अव्यक्त में जाएगा भाव पर होकर।
सूक्ष्म से भी यह सत्य सूक्ष्म वह भेद है व्यक्त अव्यक्त के कोई जाने,
मूर्ख अज्ञानी के यत्न वहाँ व्यर्थ हैं ना कुछ वहाँ चलती रंक की ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १५४ से १५६)

* *

व्यष्टि में समष्टि का हल

जीवन की साधना यह कोई जीवन से भिन्न नहीं है । समग्र जीवन जीने के किसी एक काल से जैसे भिन्न नहीं किया जा सकता

अथवा तो जीवन के किसी एक पहलू या जीवन के किसी एक Mood—(भावभरी विवशता)—भावतरंग को उसके समग्ररूप से बिलकुल अलग नहीं कर सकते, वैसे साधना को भी समझना है । 'जगत के साथ हमें क्या लेनादेना है ? जगत जगत से देख लेगा ।' ऐसी मान्यता भ्रमयुक्त है । प्रत्येक व्यक्ति जगत के साथ जुड़ा है ही, कोई किसी से वास्तविक रूप से भिन्न नहीं हो सकता— यद्यपि जहाँ तक जीवन की साधना से एक प्रकार की समाधान वृत्ति न आयी हो, वहाँ तक हम साधनार्थ एकांत में या एकाग्रता में या एकाकीपन में भले तन्मय रहा करें वह समझ में आये ऐसा है; (तब भी उस समय जो परिस्थिति है, उसे नकारा तो नहीं जा सकता) संसार हम से अलग है ऐसी कल्पना करना, मानना या समझना वह भी योग्य नहीं है । हम संसार में हैं और संसार में से एक हैं, वह भी ख्याल में रहना चाहिए । संसार के अनेक प्रश्न और समस्याएँ अपना हल चाहते हैं । उनका हल लाने को हम अधीर न हों; स्वस्थता, धीरज रखें; पर कभी उनकी उपेक्षा तो करें ही नहीं । हमारे स्वयं के ही जीवन में अनेक प्रकार के प्रश्न और समस्याएँ बिना हल किये रहीं हैं । जितने प्रमाण में ज्ञानभक्तियोगपूर्वक उनका निराकरण हम कर सकेंगे उतने प्रमाण में जगत के प्रश्नों को हल करने की चाबी हमें मिलती रहेगी; यानी कि संसार के प्रश्न भी उतने प्रमाण में हल होते हुए समझना है । जो अपने ही जीवन को पूरा समझ नहीं सका, समग्ररूप से अनुभव नहीं कर सका, वैसा **जीव** संसार की समस्याओं का हल कभी भी नहीं कर सकेगा । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २८७-२८८)

* *

शक्ति के खिलौने

(शिखरिणी - मंदाक्रांता)

घड़ता है, जो निज जीवन में दुःख को शीर्ष उठाये,
घड़ता है, जो-जो परिजनों के कारण यज्ञ करेगा;
घड़ता है, जो निज जीवन को प्रेमभाव से समर्पण करे,
घड़ता है, जो-जो निज जीवन को भेंट मान ही वर्ते ।

घड़ता है, जो भी निज जीवन में उच्च आदर्श रखे,
घड़ता है, जो भी निज जीवन को लक्ष्यवेधी बनाये;
घड़ता है, जो भी निज जीवन हेतु के लिए जीता है,
घड़ता है, जो भी सतत निज का भाव उसमें रखे ।

सेवा जन जिसे अन्य जन की मानते उस में भी,
-कितने राग-द्वेष वहाँ हो रहे कौन जान पाये ?
महत्त्वाकांक्षाएँ निज हृदय की शुद्धता से भरी हैं,
-पड़े सेवा में निज जीवन के तत्त्व का श्रेय पाएगा ।

सही सेवार्थी वही जो निज मन सदा हल करता,
थर कैसे कैसे मन में भरे, सदा जिन्हें वो निहारे;
निहारने से ऐसा कुछ नहीं मिले खाली जो निहारे,
घड़ेगा ऐसा जो विरल विरला युद्ध उन साथ छेड़ें ।

नहीं सेवा स्वयं निज पट में एकदेशीय कहीं भी,
विविध तरह के लक्षण क्षेत्र, दिशा रहे सेवा में;
सही सेवा- ये तो निज जीवन को सर्वतोमुखी रखे,
रुंध ना डाले कोई निज जीवन को एक ओर अन्तर से ।

करे सेवा स्वयं अन्य जन की उसे ही जो सत्य माने,
होती सेवा कैसी निज जीवन की उसे न वह जाँचे;
वरण किया है जिसने निज जीवन में सत्य को ही,
वहाँ वह सत्य अपने जीवन में सर्व अंग जाँचे ।

करते हैं सेवा जो निज जीवन में मात्र सेवा वास्ते,
नहीं कोई इच्छा अन्य भी कोई एक सेवा बिना वहाँ;
कभी जो उस सेवा को भी न करे सर्व अंगी विकास,
रही वहाँ कभी कोई भी उसे जान लेना ही चाहिए ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ३९-४०)

* *

(मंदाक्रांता)

'स्वयं जो भी कुछ करता है वही मात्र सच है',
उस बिना अन्य कुछ भी जो सत्य की खामीवाला;
'स्वयं बिना भ्रमित मति के जो अन्य चलनेवाले,
सेवाभावी कितने ही देखे मान्यता ऐसे वाले ।

जिसने सच्चा निज जीवन का कार्य ऊर्ध्वगामी-
माना उसमें निज जीवन का सब कुछ समर्पण किया;
रास आवे कोई भी भले ही क्षेत्र वह हो कोई भी,
सेवा ऐसा जगत की अपने ढंग से करता ।

जिससे कई जगत पर के सर्व सामान्य ऐसे,
जो जो निज जीवन में कितने ही सामर्थ्य पाये;
शक्ति गूढ़, सकल को जो खेल खिला रही जहाँ,
उस शक्ति के सारे खिलौने हैं हम तो बेचारे ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ४१)

* *

शरीर का महत्त्व

शरीर तो हमारा बड़ा रक्षणकर्ता है । हमारे आसपास के वायुमंडल में वासना से भरे सूक्ष्म तत्त्व इतने अधिक हैं कि यदि हमें भगवान ने शरीर न दिया होता तो वे सभी हमारे में प्रवेशकर हमें अपना एक निपट हथियार बनाकर अपनी वासनाएँ तृप्तकर हमारा अधःपतन कराते हैं । हमार शरीर पार्थिव तत्त्व का है, घन है; जब कि वे अनिष्ट तत्त्व वायुरूपप्रवाही, बदलते आकारवाले हैं । हमारे शरीर के स्थूल तत्त्व के साथ टकराकर निष्फल होकर वापस आते हैं । हमें काम या क्रोध की जोरदार वासना होती है, तब उसे रोककर शरीर हमारा रक्षणहार हो जाता है; यदि ऐसा न होता तो कौन जाने हम अपना ही कितना नुकसान कर डालते । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४४)

* *

साधना की संभावना शरीर, मानवदेह को आभारी है, इसलिए तो खुद देव भी मानवदेह की इच्छा करते हैं । मुक्ति मानवदेह में ही संभव है ।

* *

शरीर को जानबूझकर कष्ट नहीं देना होता वैसे ही उसका लालनपालन भी नहीं करना होता । मध्यम मार्ग अच्छा ।

* *

मानवदेह

(अनुष्टुप)

शरीर मानव का जो मिला वह प्रभु की कृपा,
मनुष्यदेह को तो कोई गँवाओ ना कभी बेकार ।

जीवन मानव का श्रेष्ठ सभी योनि में,
जीवन मानव बिना नहीं किसी जीवन में ।

मानवदेह सद्‌भाग्य से मिला चेते हृदय जिससे,
गहरा ख्याल रखे कृपाकर जीयें दिल से ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ६)

'मानव जिंदगी कैसी प्रभु की भेंट !' जान के,
उसे सर्जित कर सार्थ वह करें पद से ।

जीवन साधने हेतु कर्म जैसे महत्त्व का,
आत्मा की साधना हेतु जरूरी वैसा शरीर ।

('कर्मगाथा', आ. ३, पृ. १५७, १६२)

प्रेम की साधना दिव्य मानव ही कर सके,
दूसरी कोई योनि में न संभावना वह दीखे ।

दुर्लभ मानव जन्म इससे जग में गिना,
कृपा से ऐसा है प्राप्त; उसे क्या रौंद डालना ?

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ४७)

सर्व प्रतिकृतिओं में मानव की प्रतिकृति,
सब तरह सर्व श्रेष्ठ जाने प्रभु की कृति ।

लांघ के सारी मर्यादा अमर्यादा विषयक,
अमूल्य मनुष्य देह होगा धन्य प्रवेश से ।

है हमने प्रभु का प्रेम लेने को जन्म लिया,
कोई हेतु नहीं जीवन का ही उसके बिना;

निष्ठा जिसे संपूर्णतः ऐसी बैठी हृदय में,
मानव जन्म की क्या वे यथार्थता पहचाने !

मात्र मानव देह से सब विकास होने की
-संभावनाएँ भरी हैं धन्यता है इससे इसकी क्या !

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०१, १०३)

* *

श्रेष्ठ मानव-योनि एवं प्रभुकृपा

(अनुष्टुप)

सर्व योनि में विश्व की सर्व मानव-योनि श्रेष्ठ है,
इसके बिना संभावना ईश को पाने की अन्य नहीं ।

जीवन मानव का इतना दिव्य पवित्र हा !
बेचारा मानव किन्तु यह जाने महत्त्व ना ।

रुढ़िगत मनुष्य जीये निर्माल्य जीवन कैसे,
खुले हाथ प्रभु ने तो दे रखा है मनुष्य को ।

क्या कृपालु प्रसादी ये मिली मनुष्य जीवन में !
किन्तु पामरता में कैसे सड़ा करे मनुष्य तो ।

तब भी प्रभु दयालु जगाते हैं मनुष्य को,
आघात कई देकर पथ दिखाता जीव को ।

मनुष्य को गहराई से प्रभु चेताया करें,
गूढ़ युक्ति-प्रयुक्ति से कल्पना में जो न चढ़े ।

भयंकर युद्ध प्रेरित, भयंकर रोग देकर,
भयंकर काल पैदा करके, उसे जगाया करे ।

बलपूर्वक गहन मंथन, प्रेरित कर दुःख के,
भाव जगायें रखें मानव गहन उर में ।

श्रद्धा जगाने उर में, मनुष्य उर में आशा,
करतूतें प्रभु कई ऐसी-ऐसी किया करें ।

प्रभु का हेतु, पैदा न होता मनुष्य दिल में,
धकेल दे प्रभु को, तब भी प्रभु कृपा करें ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १४६-१४७)

* *

शरणभाव

शरण यानी गुलामी नहीं । ऐसा विचार वह अज्ञान है । ज्ञानपूर्वक पूर्णरूप से जो अधीन होना स्वीकार करता है, उसे अनेक प्रकार के लाभ सहज मिलते हैं । मन की आदतों को बदलने में शरणागति बड़ी मदद करती है । मन के आग्रह भी छूटते हैं । अपनी समझ, गिनती, माप, सुख, अहंकार, बुद्धि– ये सभी, यदि सच्ची तरह शरणागति लें अर्थात् अधीन होना स्वीकार लें तो, स्वयं ही गल जाएँगें और इस स्थिति से यदि हम गुजर पाएँगें तो हमें जो आध्यात्मिक लाभ होगा उसकी गणना तो सारी दुनिया की समग्र मिलकत से भी नहीं हो सकती । अधीन होने में तो जीवनविकास है । आत्मा का सुख शरण में गये बिना मिलना संभव कभी नहीं है ।

ऐसी शरणागति अचानक व अपनेआप साधक को कभी नहीं मिलती । उसके लिए प्रयत्नपूर्वक प्रयास करना पड़ता है । इसका प्रशिक्षण संसारव्यवहारक्षेत्र में बुजुर्गों के कहानुसार रहने में मिलता है । यदि वहाँ हमने अधीन रहने की आदत ज्ञानयुक्त होकर की होगी

तो फिर आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कार्यसाधक हुए बिना नहीं रहेगा । बड़ों के अधीन जो रह सकता है, उसे गुरु का आज्ञापालन सहजता से संभव होता है । ऐसा अधीन होनेपन में जो करना है वह स्वयं के विकासार्थ, जीवनयज्ञार्थ और नहीं कि किसी को खुश करने । फिर यदि शरण में जाने की भावना रखने में और वैसे व्यवहार में दुःखी दिल से ऊबकर, विवश हो कर, या निराश, दुःखी होकर वैसा करे तो हम तो उल्टे कुचलाया करेंगे; हलके फूल जैसे नहीं रह सकेंगे । दूसरों का कहा करने में कितनी मात्रा में उल्लास, उमंग टिकता है और उत्कटतावाली मनोभावना से और किस हेतु से वे करते हैं ऐसा देखना होगा । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ४२-४३)

* *

मेंहदी को अच्छी तरह कठोर पत्थर पर पीस-पीसकर जब एकदम नरम लोंदे जैसी हो जाती है, तब वह चरणस्पर्श और रंग लाने के योग्य होती है । पारा अग्नि में पूरी तरह परिपक्व होते उसकी भस्म बड़ी गुणकारी होती है । सोना भट्ठी में खूब ताप में भस्म होते ही उसका गुण शरीर में शक्ति लावेनाला होता है; इसीतरह जिस साधक को जीवनसाधना करनी है, उसे तो शरणागति की भावना लाने अपनेआप के अहम् को दूरकर मिट्टी के लोंदे जैसा हो आकार पाने योग्य स्थिति प्राप्त करने के लिए स्वयं के मान लिये स्वतंत्रता के गलत ख्याल को निकालकर पूर्ण अधीनता में लाना होगा । तभी उसका सही सत्त्व प्रकाशित हो उठेगा और स्वयं परिपक्व होकर फिर दूसरे के उपयोग में सच्ची तरह से आने के लायक हो गया होगा ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २२९-२३०)

* *

श्रेष्ठ खलासी के भरोसे

(गजल)

बहने दो, बहने दो, पवन को पूरे जोर से बहने दो,
हृदय स्नेह के भाव-पवन को जोर से बहने दो ।

सारे बंधन खोलकर खोल दो सारे पालों को,
छोड़ दो नाव को झुकाकर खलासी के भरोसे ।

भले हो तूफानी समुद्र भले हवा जोर से चलती,
भले टकराती हो नौका, हमें तब भी नहीं चिंता ।

हमारा जो खलासी है समुद्र सारे तराएगा,
समुद्रों का भी राजा है, इससे तो हम निश्चिंत ।

होगा निश्चय गहरा ऐसा हृदय जिसका हुआ होगा,
कहीं न वह अटकेगा, नहीं व कहीं अवरुद्ध होगा ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १७३)

* *

सच्चा शरणभाव

(वसंततिलका)

विद्या नहीं, बल नहीं, नहीं पैसे हिम्मत,
ऐसे ढले-शरण की प्रभु ! लाज रख ।

जानबूझकर जड़ रहें बल सारे छोड़,
-स्वयं पूरा हृदय वह निर्बल होकर,

–जो आशरा प्रभु का सभी बात में ले,
उसे प्रभु कभी कहीं भी छोड़ न दें ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १४८)

* *

शंका

यदि कोई शंका हो अवश्य लिखना । उसे मन में रखने से लाभ नहीं होगा । इस मार्ग में उल्टा नुकसान होगा । शंका का बुद्धि से निवारण संभव हो तो कर लेना अच्छा । मन में उलटी समझ भरी पड़ी हो, तब तक वह सच्ची समझ पैदा नहीं होने दे । शंका की वृत्ति सत्य को पकड़ने के लिए है, जानने के लिए, अनुभव के लिए है और वह साधक की प्रकृति में ठीक-ठीक लम्बे समय तक टिकी रहती है । उस वृत्ति में ऐसे तो कुछ भी गलत नहीं है । परन्तु उसका अतिरेक होते नुकसान भी हो सकता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३३-२३४)

* *

शंका का बीज तो साधना की ऊँची स्थिति में रहे हुए साधक के मन में भी टिका रहता है । उसे पोषण मिले ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए । संशय उठे तब साधक को पूरी तटस्थता जाग्रत रखनी है । संदेह के विषय का बारीकी से अध्ययन करना है, उसका मूल पकड़ में आये तो पकड़े । इससे प्रेरित हो निर्णय न लें । ऐसे विचार की परम्परा न जागा करे उसकी सावधानी रखें वह भी उत्तम । शंका और संशय के कारण यदि उस प्रकार के विचार जागा करें, तो उसे आधार दिया गया गिना जाएगा और इससे उसका जीवन भी लम्बा होगा । शंका और संशय का जोश, वेग एवं गति कम हो वैसा हमें व्यवहार करना है ।

अनेक बार शंका हमें कुछ सच बतलाने के लिए भी होती है। उस समय शांति, समता, तटस्थता आदि बने रहे तो उसमें उलझेंगे नहीं, शंका के विषय के दोनों तरफ का विचार समतुला से तटस्थभाव से कर सकते हैं—यदि तटस्थता रह सके और ऐसी तब शक्ति हो तो। ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३५, २३६, २७०)

* *

शंका-समाधान

(अनुष्टुप)

शंका जो मन में जागे उसका तौल पर्याप्त,
-चारों ओर का गहरा साधक को करना होगा।

जैसा ख्याल उठे उसके जैसा जीवन में,
-उसके स्वार्थरूप कुछ रहा क्या ? उसे विचारें।

यदि ना वैसा मिले उसमें तो बुद्धि की वक्रता,
उलटा वह दिखाती है, मानना ऐसा वहाँ।

शंका उठने मात्र से हेतु किस काम वहाँ ?
चाहिए सोचना पूरा उस समय हृद से।

किस प्रकार का विश्व में मानव ऐसा करे ?
बुद्धि काम लगाकर तौलना सभी तरफ से।

ऐसे प्रपंचवर्ती के लक्षण जीवन में कभी,
परखे बिना न रहे किसी न किसी ढंग से।

पूर्वजीवन की छाया ऐसों की कैसी है सारी,
उससे भी तौल तो पूरा उसका आ सके सही।

मानने से कहीं क्या दूजा होना संभव होता है,
न मानें तब भी उसमें तथ्य न मान बैठें ।

सारग्रही होने के लिए खुल्ला पूरा रहते जाना,
सात्त्विक नम्रता दिल से मान, प्रेम रखना ।

झुकाये एक ओर का पल्ला जो रखना चाहें,
सत्य ओर झुका वह रहा तो भी भले रहे ।

सत्य की संभावना सत्य के पास भले रहे,
सत्य को पाने सबसे पहले संघर्ष हम करें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १२१-१२३-१२४-१२५-१२७)

* *

समर्पण

साधनामार्ग में समर्पण एक उत्तम प्रकार का सरल, सहज साधन है । प्रत्येक कर्म, विचार, वृत्ति, मनोभाव, भावना, भाव, प्राण का आवेश, आवेग, कामना, आशा-तृष्णा, लोलुपता, अहम् और बुद्धि के जड़ आग्रह, मन के पसंद-नापसंद और समझ आदि की साधक को इसप्रकार की जागृति रख रखकर श्रीभगवान के चरणों में प्रेमभक्तिपूर्वक समर्पण करते जाना है । ऐसा समर्पण कोई एकदम नहीं हो जाता है । यह तो धीरे-धीरे क्रमशः होता जाएगा—साधक यदि उस विषय की जागृत कड़ी निगरानी रखे तो । प्रारंभ में तो स्वयं अपने ही समर्पण का अभ्यास विकसित करते रहना है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १८३)

* *

समर्पण की भावना का स्थूल अर्थ हमें छोड़ना चाहिए । समर्पण की भावना का विस्तृत अर्थ तो यह है कि जो कुछ भी है सभी भगवान

का है । वह सभी इस तरह, उसके भावनावाले जीवन में और ऐसे जीवन को अधिक से अधिक दिव्य जीवन में लाने के लिए और उन सभी का ज्ञानभक्तिपूर्वक का उपयोग वैसी भावना, दृष्टि और आचरण से हुआ करे और फिर वह सभी समर्पित करे उसका नाम समर्पण । स्थूल (धन आदि) सब दे देने के बाद फिर भी हम से, समर्पण भाव से व्यवहार न हो तो ऐसा स्थूल दिया हुआ निरर्थक कहा जाएगा । मात्र स्थूल समर्पण का कोई अर्थ नहीं है । स्थूल का समर्पण सूक्ष्मता लाने के लिए है । वैसे ही परम्परा से भी कोई समर्पण नहीं होना चाहिए । समर्पण के पीछे रहा भाव, जाग्रत रहना चाहिए ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४०-३४१)

* *

इस प्रकार होनेवाले कर्म भी, अधूरे होते हुए भी, अयोग्य होने पर भी, भक्तिपूर्वक, प्रभु को उन सभी को अच्छे व बुरे को समर्पित किया करें । ऐसे लम्बे समय के सद्‌भाव से रखा सज्ञान अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जाएगा वैसे-वैसे अहंभाव गलता जाएगा ।

स्थूल अर्पण की अपेक्षा सूक्ष्म का अर्पण होना बहुत ही कठिन है । भले ही स्थूल और सूक्ष्म का समर्पण प्रभु को करेंगे, पर सच्चा और अधिक उपयोगी और आवश्यक समर्पण तो मनादिकरणों के प्राकृतिक धर्मों का है । मन के संकल्प-विकल्प, प्राण प्राकृतिक धर्म— आशा, इच्छा, तृष्णा, लोलुपता, काम, मद, मोह आदि का बुद्धि की दलील और तर्कवितर्क, अहम् के मैं पन और चित्त के संस्कार के प्रकार का— ऐसा सभी का यदि ज्ञानभक्तियुक्त समर्पण होता है, ऐसे समर्पण से जीवन का सच्चा और ठोस विकास होता है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८८)

* *

समर्पण

(अनुष्टुप)

जिसे प्रेम से समर्पण करते पूरे हृदय में,
भाव, आनंद उसका वह समर्पण योग्य है ।

बलपूर्वक समर्पित, समर्पित गिने नहीं,
ऐसे समर्पण से फलित जीवन न कभी ।

कर्म भी करने हैं सर्व प्रभु-भाव के लिए,
दूजा ख्याल कभी वहाँ न पैठ कोई जाये ।

ऐसा कर्म कोई दूजा जो भी अन्य करते हों,
उसके लिए ही सर्व समर्पित सब करो ।

बुद्धि से मात्र कहना या मन से वैसा बोलना,
-काम नहीं देगा योग्य, ऐसा अर्पण हमारा;
समर्पण में भावना हृदय की गहरी हो,
तदाकार हैं वहाँ अर्पित चाहकर योग्य सही ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८०, २१४)

* *

समर्पण की कसौटी, अर्पण बाद कुछ उर में,
आगे-पीछे उसके विचार न जन्म लेंगे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १२९)

* *

(शार्दूलविक्रीडित)

सच एक ही वह समर्पण हुआ, जिस द्वारा जीवन में,
शक्ति उद्‌भव अनुभव हो, यह इसका माप हृदय में;
जीवनसाधना पथ में जिसने झुकाया सही,
उसके आवरण होते अलग, जागती अनुभूति है ।

जो भी सब किया करे तमाम वे अपने लिए करे,
स्वयं का ही विकास-भाव रख वह जो भी कर्म करे;
वह जो जो करता रहे प्रभु-पद पर भाव से समर्पित करे,
ऐसे यज्ञ समर्पण में रस हो, यह जीना सत्य है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १००, १०१)

* *

समर्पणयज्ञ, जाने-अनजाने भी

समर्पणयज्ञ इस जगत में जाने-अनजाने सतत चलता ही रहता है । एक पल भी यह रुकता नहीं है । एकदूसरे के लिए कष्ट उठाये बिना यह संसार निभ नहीं सकता । प्रत्येक मनुष्य का जीवन यज्ञरूप चलता रहता है; मात्र संबंधित **जीव** को उसका चैतन्य ज्ञानभान नहीं होता । प्रत्येक से प्रकृति जबरन त्याग करवाती है । प्रत्येक मानव एकदूसरे के साथ जकड़ा, जुड़ा होने से कोई भी किसी से भिन्न नहीं है; परन्तु यह सब होता है अज्ञान, अंधकारदशा में । हमें अच्छा या बुरा जो कुछ हो उसके पीछे जीवनविकास की भावना रखनी है । समर्पणयज्ञ से उत्कट मंथन जगे यह बात सच है, परन्तु गंदलापन न जागे । गंदलापन जगता है वह तो अज्ञानभरी स्थिति में से । हेतुपूर्वक का समर्पणयज्ञ हमारे अंदर के करणों को उनके प्रकृतिधर्म से मुक्ति

दिलाता है, जब कि **जीव** प्रकार का **त्याग** या देना हमें अधिक जकड़ता है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ९९)

* *

समर्पण होते जाने का यदि मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव ही है और विश्वजीवन का एक अंग है, तो फिर हमें अपने संसार यज्ञ में जो होमना है, उसमें ज्ञानभक्तिपूर्वक तटस्थता, समता, धीरज, शांति, सहनशीलता, हार्दिक उदारता, अपार प्रेमभाव और त्याग-समर्पण की भावना यदि बनाया करें तो वैसी तपस्या के भाव से ज्ञानपूर्वक यदि हम होम करेंगे, तो इससे जीवन उन्नत होता जाएगा, यह निश्चित जानें । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८०)

* *

त्याग-यज्ञ-समर्पण, प्रकृतिजन्य

(अनुष्टुप)

जीवन में नित्य ही नित्य त्याग-यज्ञ-समर्पण,
स्वभाव, प्रकृति द्वारा, क्या कर दें सारे जीव !
विकास प्रकृतिजन्य ऐसा सब का हुआ करे,
विकास प्रकृतिजन्य से तो न ज्ञान उद्‌भव होता ।

भावना, ज्ञान है जिसके त्याग-यज्ञ-समर्पण से,
हेतु जीवन का उसमें लगे वह बदलता है ।

जीवन देते रहें त्याग-यज्ञ-समर्पण से,
भावना ज्ञान से युक्त, तो रूपांतर पाओगे ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १०३)

* *

मानव मोह पाश से त्याग भारी कर सके,
ऐसे तो त्याग से विश्व चला सारा करे सही ।

गुण ये प्रकृतिजन्य कराये त्याग सर्व को,
ऐसे तो जीवन मानव का त्याग से टिके ।

अनेकों ने प्राण दिये प्रेम मोह में पड़के,
बेकार न जाय वह, उस प्रकृति में व्याप्त ।

विकास प्रकृति का हुआ ही करे त्याग से,
अज्ञानताभरा त्याग किन्तु क्या प्राण प्रेरेंगे ?

('जीवनपगले', आ. २, पृ. ९९)

* *

दीखते जड़ में गूढ़ चेतनाशक्ति, प्रकृति,
-फेरबदल कर वह विकास करवाती ।

किन्तु अज्ञानवर्ती सारा विकास हुआ करे,
वे जाने-अनजाने प्रकृतिवश वहाँ रहे ।

('कर्मगाथा', आ. ३, पृ. १६०)

* *

सद्‌भाव की शिक्षा

संसारव्यवहार आचरण में अनेक उत्तम गुणों की शिक्षा प्राप्त होने का अवसर हमें मिलता है– मात्र हमारे मुख, दृष्टि व वृत्ति का उसके प्रति झुकाव ज्ञानपूर्वक होना चाहिए । सद्‌भाव की शिक्षा हमें इस क्षेत्र में विपुल प्रमाण में मिल सकती है, क्योंकि अनेक जनों के

मिलने-जुलने के अनेक भिन्न प्रसंग वहाँ आ मिलते हैं । ऐसे समय में वाणी हमारे हृदय के भाव का प्रतीक बन जाती है । उच्चरित वाणी से सद्‌भाव का प्रशिक्षण के प्रति साधक का कितना और किस प्रकार का आंतरिक लक्ष्य रहा है, वह सहज ही समझ सकेंगे । सद्‌भाव लाने की आवश्यकता यदि साधक के दिल में बैठ गई हो, तो उसके मुख से कभी दूसरों के विषय में नकारात्मक उच्चरित नहीं होगा । जैसे-जैसे इस शिक्षा की शुरुआत होगी, वैसे-वैसे उस तरह थोड़ा आचरण होते इस अभ्यास के प्रति महत्त्व का झुकाव उस **जीव** का जरूर बढ़ता जाएगा; क्योंकि वैसे ज्ञानात्मक सद्‌भाव पालने से हमें मन में प्रसन्नता, शांति, सरलता, आनंद आदि की भूमिका चैतन्य रूप में रहा करती है । ऐसे अभ्यास से घर्षण, संघर्ष, गैरसमझ, क्लेश, संताप आदि नहीं आते और वे सभी **जीवों** की शुभेच्छा, सहानुभूति, प्रेमभाव हमारे प्रति सहजरूप से बढ़ा करता है और ऐसे ज्ञानपूर्वक के चैतन्य अभ्यास से हम एक ऐसे सजीवन चेतनवंत सर्जनात्मक वातावरण खुद अपने में—और बाहर के वातावरण में भी—लाते रहते हैं कि जो वातावरण हमारे आधार का कवच बन जाता है और ढाल भी ।

जब हम सुन रहे हों, बोल रहे हों, सोच रहे हों, व्यवहार में संपर्क कर रहे हों– यह सब होता हो उस समय से पहले और उस समय हमें बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है । **जीव**कक्षा के नकारात्मकता का जीवन में निर्माण नहीं होने देना ऐसा अडिग निश्चय यदि **जीव** ने किया है, वैसा **जीव** कुछ भी जरा भी नकारात्मक आविर्भाव से अंतर में या बाह्य रूप में होते एकदम चौंक उठेगा । ऐसे नकारात्मक तरंगों का विस्तार करने का कार्य उसका नहीं होगा । जगत

में धारणा से भी अधिक प्रमाण में ऐसे नकारात्मक तरंगें व्याप्त होती हैं । फलस्वरूप संसार में क्लेश, संघर्ष, झगड़े, बदला आदि व्याप्त रहते हैं । इन सब से साधक उभरने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि वह तो अभेद की उपासना करने को प्रवृत्त हुआ है न ? और यह अभेद उपासना की नींव सद्‌भाव—सबके प्रति सद्‌भाव— है । सद्‌भाव का बीज न हो तो भाव कहाँ से होगा ? और भाव नहीं वहाँ अभेद कैसा ? ('कर्मपोकार', आ. ४, पृ. १९, २०, २१)

* *

हमें कितने भी असह्य अन्याय हुए हों, गंदी गाली खानी पड़ी हों, धुत्कारा गया हो, धक्का दिया गया हो, कितना ही अधिक हमारा अहित किसी से हुआ हो तब भी, ऐसे संयोगों में भी, साधक को यदि सद्‌भाव और समता जीवन विकासार्थ बनी रहती हो तो संसार व्यवहार के साधारण प्रसंगों के समय तो कितना अधिक विशेष प्रमाण में सद्‌भाव बनाये रखना है ! हम से किसी का भी नकारात्मक— फिर भले न व यथार्थ और सच्चा हो तब भी—सोचेगा नहीं, बोलेगा नहीं, सुन नहीं सकेगा । ऐसा सोचना, बोलना, सुनना हमारे लिए ही हानिकारक है, क्योंकि एक तो वैसे संस्कार हम अपने में लाएँगे और स्थूल रूप से भी जगत में हमारा अहित होगा ।

* *

सुरक्षित स्थिति

सुरक्षित स्थिति यानी स्थितिचुस्तता और वह स्थितिचुस्तता जहाँ जैसे हो उसमें ही संतोष और फलस्वरूप विकास में अवरोध और अंत में पतन । इससे कोई भी कहीं—बाह्य या आंतरिक रूप से—

सुरक्षित स्थिति हो जाय तो उसे उलटाते रहना साधक के लिए बहुत आवश्यक है । सुरक्षित स्थिति में जिस **जीव** को पड़े रहना रुचता है, वह कभी साधना नहीं कर सकता । सुरक्षित स्थिति जहाँ खोजने की वृत्ति हुई कि वह **जीव**पन में घिसटता जाएगा ।

जहाँ कोई भी सीढ़ी में संतोष लिया तो उसमें पतन का मूल समझें । यह नियम व्यष्टि और समष्टि उभय को एकसमान लागू होता है । प्रत्येक स्थिति हमारी अपूर्णता की सूचन होने से उसका जीवंत स्पष्ट भान हमें रहे तथा एक प्रकार का दैवी असंतोष की प्रचंड ज्वाला अंतर में सतत प्रज्वलित रहने के साथ खूब धीरज भी चाहिए ।

प्रत्येक परिस्थिति चल है । अचल तो एक सनातन प्रभु ही है । मन को जहाँ सुरक्षा का भाव लगे, वहाँ तुरन्त उसका प्रचंड सामना कर वैसे मन के प्रवाह को रोकना चाहिए । **सुरक्षित रहने की आदत पड़ने से तमस का जोर हम पर चढ़ बैठेगा ।**

एक स्थिति में जो सत्य लगे और पकड़े रहें तो इससे ऊपर का सत्य बाकी रह जाएगा और अधूरा या एक ही ओर के सत्य को चिपके रहना न हो इसलिए भी किसी में भी सुरक्षा न रखें ।

सुरक्षित स्थिति रहने से एक प्रकार का जड़ संतोष हमें रहेगा और उसी कारण से उसी स्थिति में कोई अज्ञात– Unknown स्थिति में कूदने का साहस, हिंमत, बल, जोश, उत्साह आदि ऐसा कुछ भी हम में नहीं आ सकता । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ८०-८१)

* *

'साधु तो चलता भला' ऐसा कहा जाता है उसमें 'चलता' का स्थूल अर्थ न करके सूक्ष्म अर्थ करें और वह सूक्ष्म अर्थ अधिक योग्य है अर्थात् सतत विकास साधा करें यह साधक का धर्म है । सुरक्षा खत्म होने से मंथन तो होगा ही; परन्तु उसके बिना अमृत भी प्राप्त न होगा । साधक के लिए मंथन आवश्यक है– केवल अपने अंदर ही नहीं बाह्य संयोंगों के साथ भी मंथन होता है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ८२)

* *

अमुक दशा आते ही साधक अपने में स्वयं का मरण और जीवन समझ सकने की भूमिका में आ जाय, तब उसके प्रति भी उसका लक्ष्य न रहने से, प्रत्येक स्थिति में बदलाव होता जाता है, ऐसा समझ कर कहीं भी उसे सुरक्षा भोगनी नहीं है; और उसे एक में से दूसरे में और दूसरी अवस्था में से तीसरी में ऐसे ही बढ़ते रहना है । कहीं भी उलझना नहीं है । ऐसे जाते-जाते और सभी के प्रति तटस्थ रहने से हम भाव की उत्तरोत्तर उत्तम कक्षा में आते जाते हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३५)

* *

सुरक्षा और बदलाव

(अनुष्टुप)

आज की स्थिति में माने पूरी जो कोई सुरक्षा,
–उसका विकास न हो, वहीं का वहीं वह रहे ।
किसी मूल्यांकन में जरा भी बंध जाना नहीं,
सत्य तो पर सर्व से, वहाँ भी रहें निराग्रही ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ७१, १५३)

* *

(शिखरिणी - मंदाक्रान्ता)

समाया उद्देश्य अणु में भी किसी न किसी ढंग से,
-होता रहे व्यक्त कुछ न कुछ नये बदलाव से ही;
दिखे जो जो विश्व में परिणित हुआ लगे रे' सदा से ही,
न ऐसी की ऐसी स्थिति में पड़ा रहता कोई कभी भी ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १)

* *

(अनुष्टुप)

बदलाव बिना पाये कोई विकास न पाता,
सराहे जो बदलाव को ज्ञान-भाव से, बढ़ता;
बदलाव होते रहते सभी नित्य जीवन में,
किन्तु वहाँ ज्ञान का हेतु जो रखे वही पाये ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०)

* *

फरक जहाँ तहाँ होता विश्व में दीखता है,
अनादि काल से ये तो, विश्व एक रूप न रहता ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १९)

* *

संघर्षण की आवश्यकता

(झूलणा)

काष्ट चंदन का वह घिसता जाता,
मधुर सुवास प्रकटाता जाता ।

मिट्टी के बर्तन आवाँ के,
अग्नि के ताप से पक्व होते;
हृदय मंथन और घर्षणों के बिना,
मानव का न कभी निर्माण ।
जीवन में ऐसे तो मौके बहुत आये,
मानव मूर्ख क्या खो बैठता !
('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ४४)

* *

सहन करने की साधना

(अनुष्टुप)

सब सहन करने में उस प्रभु का ज्ञान-भाव से,
जीने की पराकाष्ठा आएगी स्वयं द्वारा ही ।
सहे बिना निर्माण नहीं कहीं कोई विश्व में,
निर्माण की तमन्ना यदि, तो सहो प्रेम से सब ।
('जीवनपगले', आ. १, पृ. ५०)

* *

(मालिनी)

हृदय हृदय जागे प्रेम का भाव पूरा,
कुछ भी सहने में सहना न लगे वहाँ ।

(शिखरिणी - मंदाक्रान्ता)

न हो सहने का जो कहीं भी कुछ, सर्व तो मीठा लगे,
सहे पृष्ठ भाग्य से कुछ जन में मूल मिठास रहती;
थोड़ी सी हवा से उड़ जाता दीखे जैसे रुई आक का,
सहे बिना सारा त्यम मधुर हो, तो भी कोरा बेकार ।

किसे जगत में सहना न पड़ा ? एक तो बतलाओ,
सहना उमंग से पैदा होता यदि भावना रखी हो;
जग में जहाँ-जहाँ देखो कुछ भी होता न सहे बिना,
सहने का ये तो जगत-जीव आदि का कानून है ।

रुचते हैं जो कर्म सहन करना कठिन ना लगे,
होता सहना वहाँ नजर में आता जरा भी न लगे;
सहने का हेतु समझ से रहे जिसको लक्ष्य पूरा,
सहने में ऐसा जीवन विकसे ऐसा धन्य सहना ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ४८, ५४)

* *

(अनुष्टुप)

'सहना' प्रेम की ये तो अमोल भव्य भेंट है,
उसे जो कोई नकारे प्रेमी नहीं बन सके वह ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. ३६)

* *

सत्संग का स्पर्श

मन में कोई भी वृत्ति उठाते ही वह स्थगित या स्थितिचुस्त नहीं रह सकती । **वृत्ति यानी गति ।** तो फिर सद्‌भाव या सद्‌वस्तु के प्रति की वृत्ति या भावना स्थगित कैसे रह सकती है ? पर ऊपर की दोनों प्रकार की वृत्तिओं में फरक है । एक तो है प्रकृति से जन्मी वृत्ति । दूसरी वृत्ति (सद्‌भाव या सद्‌वस्तु के प्रति) भी यदि मात्र वैसे ही हो और गुणात्मक भूमिका पर से होती जाएगी और वह भी एकमात्र वृत्ति की नजर से—तो उसमें से **जीव** को तात्कालिक

तत्त्वलाभ नहीं हो सकता । सत्संग आदि भावना से क्रियात्मक शक्ति का प्रवाह न जन्म ले सके तो मानव को सोचना पड़ेगा । छिछली बुद्धि द्वारा सत्संग की प्रवृत्ति में **जीव** जो रुचि लेता है, उसका कारण उसके अंतर का सूक्ष्म अनुराग उस भाव के प्रति रहा है वह है; पर उस सूक्ष्म अनुराग को जीवन में और जीवन के सर्व क्षेत्र में सर्वव्यापी, सर्वभक्षी चेतनात्मक स्वरूप में बनाने की कला हस्तगत करने का सद्‌भाग्य तो जिसे सही जीवन की धधकती भूख लगी है ऐसे ही पा सकते हैं । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ५८-५९)

* *

सद्‌भाव की भूमिका होनी यह एक वस्तु है और उसे जीवन का परिणाम या परिपाक में काम करते देखना वह दूसरी बात है ।

तो यह सत्संग की भावना सच्ची है या झूठी ? यदि यह सच्ची हो तो दोष हमारा या सत्संग का ?

जैसे चाँदी पर सोने का पानी चढ़ता है, पर उपयोग में आते ही वह चमक चली जाती है, इसीतरह सत्संग का रंग लगता है, पर फिर से संसार में पड़कर मानव उसका सेवन-चिंत्वन भावना के स्वरूप में चालु नहीं रख पाता । फलस्वरूप, आये या चढ़े भाव का स्पर्श बिलकुल मंद होता जाता है और वह मानव खाली का खाली रह गया हो ऐसा लगता है ।

तो क्या सत्संग का स्पर्श भी मंद पड़ जाता है ? क्या वह ठोस वस्तु नहीं ? उत्तर यह है कि संस्कार पड़ना यह एक बात है और वे संस्कार उसके जीवन में सक्रिय हो रहें यह दूसरी बात है । सत्संग का स्पर्श—यानी कि उसके जीवन में परिवर्तनकारी असर—यह कोई एक ओर के बल का परिणाम नहीं हो सकता; सामनेवाले **जीव** को स्वयं का बल भी दिखना चाहिए । सत्संग के स्पर्श का मूल्य उसके

मन जीवन के दूसरे सभी क्षेत्रों से हजार गुना अधिक अमूल्य होना चाहिए । तो स्पर्श की असर प्रत्यक्ष सही समय में हो सकेगी ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ५९ से ६१)

* *

सत्संग की भावना **जीव** को कैसे और किस प्रकार की रखनी है, इस विषय का सत्संगिओं की परम्परा का गतानुगतिक का जो भाव है, वह जीवनविकास में अधिक काम में नहीं आ सकता । सत्संग के सेवन की भावना समाज में जो है, वह एक अच्छी वस्तु है, परन्तु जो **जीव** सत्संग की भावना को रखने के साथ ही संसार की चक्रमाला में ही सतत विचार किया करें तो ऐसा किया गया सत्संग अंतर में मात्र उस प्रकार के संस्काररूप में ही पड़ा रहता है ।

('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १५३)

* *

संत-समागम

संतों को मात्र जानने से या उनके साथ मात्र औपचारिक ढंग से रहने से **जीव** को कुछ भी ठोस हांसिल नहीं हो पाता । उनके साथ के समागम के समय उनके प्रति हमारा मन, बुद्धि, प्राण, चित्त, अहम् और हृदय किस तरह की जीवंत भावनावाले होते हैं, उस पर उनके समागम के लाभ का ठोस परिणाम रहता है ।

संतात्मा का परिचय यदि भावना या धारणा से, हृदय की प्रेम-भक्ति से हुआ करे तो जीवन के सारे क्षेत्रों में कर्मों में से **जीव**प्रकार के रागद्वेष, मान, ममता, लोभ, मोह, कीर्ति, अहंकार आदि घटते जाते हुए हमें लगेंगे और तभी ऐसा समागम काम का है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ५१-५२)

संतसमागम वेला में संत के हृदय-प्रदेश पर और कभी उनके नयनकमल में साधक से अपनी भावना स्थिर रखने का हो और उस समय मन की प्रार्थना हुआ करे कि, **''हे प्रभु ! दीनानाथ ! दीनबंधु ! कृपालु भगवान ! कृपा करो ! हमें जाग्रत, चेतना दो और रागद्वेष से दूर हों, निर्मूल होने हृदय में चेतनात्मक जागृति प्रेरित करें । हम अंध हैं, इस लिए देखने हेतु अंतर की आँख दो ।'' ऐसी प्रार्थना करते रहने से उसे अवश्य लाभ होगा ।**

जिन जिन उच्च आत्माओं का सत्संग हो या मिलें उनमें साधक को अपने सद्गुरु की भावना-धारणा मनहृदय से दृढ़ करनी चाहिए । वैसा व्यक्ति यह तो सद्गुरु की ही जीवंत प्रेरणा का परिपक्व परिणाम या फल है ऐसा दृढ़ीकरण करे, जिससे उसका रहस्य और महत्त्व भी ज्ञात होने लगेगा । ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ९२-९३)

* *

संतसमागम कभी बेकार नहीं जा सकता । जैसे जीवन के दूसरे संस्कार—संसारव्यवहार क्षेत्र में हुए कर्मों के संस्कार—प्रत्येक के चित्त में पड़े ही रहा करते हैं, वैसे संतपुरुष के साथ संपर्क के संस्कार भी समागम करनेवाले **जीव** के चित्त में जरूर पड़ेंगे और ऐसे संस्कारों का उदय कभी तो अवश्य होगा । परन्तु उस **जीव** की वर्तमान स्थिति के कर्मप्रारब्ध के उदय-वर्तमान संस्कारों का जोर बहुत होता है और वह उसमें अज्ञानता से खिंचता रहता है, इसलिए संत के जीवन के साथ पड़े संस्कार ऐसे के ऐसे उसके चित्त में पड़े रहते हैं । पर यदि हम जीवंत पुरुषार्थ करने लगें तो उस संत के पड़े हुए संस्कार हमें अवश्य प्रेरक तत्त्वरूप में मदद करेंगे । कर्म-प्रारब्ध के बहाव में कितना भी बहता **जीव** भी संत-समागम से जरूर कुछ न कुछ पाएगा ही ।

वर्तमान जीवन में **जीव** एक ओर से कर्म-प्रारब्ध के कारण घिसटते रहने से, नये रागद्वेषात्मक **जीव** प्रकार के संस्कार दृढ़ होते जाएँगे और वैसे संसारी संस्कारों का जोर उस संतसमागम के नये संस्कारों पर पानी फेरकर उसे दबा देने का प्रयत्न भी करें ऐसा संभव है । परन्तु संत-समागम के संस्कार नये होने पर भी उसके बल में और शक्ति में वे संस्कार से अधिक बलवान होते हैं । फिर ऐसी **जीवात्मा** भी किसी संत-मुक्तात्मा के संपर्क में आई हो तो वह भी उसके योगानुयोग कर्म का परिणाम है । इसलिए किसी न किसी गूढ़ रूप में भी उस समागम की थोड़ी बहुत योग्यता तो उसने प्राप्त की है । इसप्रकार पूर्व के अनुकूल संस्कारों के परिणाम से यदि उसे संत समागम का फल मिला तो यह समागम उसे विशेष फलदायी भी हो सकता है । ऐसा **जीव** भले ही प्रत्यक्ष रूप में पुरानी रुढ़ि में चला करता हो तब भी उसके मन की गहराई के स्तर में धुंधली-धुंधली भी, थोड़ी बहुत भी, हलचल ऐसे संपर्क के कारण हुआ करेगी । फिर जैसे पुराने संस्कार उसके जीवन में क्रियामान होते रहेंगे वैसे ये नये संस्कार भी कम ज्यादा अंश में क्रियामान होंगे और यदि संत का संपर्क गहरा हुआ तो विशेष से विशेष ये नये जोरदार संस्कार पड़ते जाएँगे और वह जीवन में व्यक्त हुए बिना नहीं रहेगा ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ९३-९४)

* *

कैसी भी आसक्ति से घिरा संसारी **जीव** कैसी भी आसक्ति के प्रयोजन से मुक्तात्मा के प्रति आकर्षित हो तब भी मुक्तात्मा , स्वयं आसक्ति रहित होने से उससे उस **जीव** में पड़ते संस्कार आसक्ति बिना के ही होते हैं और इस कारण से बलवान होते हैं । मुक्तात्मा का अपना जीवन इतना तो महान, प्रखर, तेजस्वी और ओजसयुक्त—

भगवान की शक्ति से भरपूर—होता है कि संसारी मानव का आकर्षण उसके प्रति होते ही मुक्तात्मा उसकी संसार तरफ की आसक्ति का जोर घटा देंगे और समय आने पर स्वयं के संस्कारों का उदय कराएँगे । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ९५)

* *

संत-समागम मात्र दिखावटी खुजली के भाव से नहीं होना चाहिए; पर स्याहीशोख जैसे स्याही चूस लेता है, ऐसी हृदय की जिज्ञासाभरी भूमिका और मृदुताभरी भावना के साथ हो तो फलदायी जरूर होगा । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १२२)

* *

संतों की – एक दूसरे की– तुलना में न पड़ें

आध्यात्मिक मार्ग की दृष्टि से कौन आगे और कौन पीछे है, यह योग्य रूप में देखना वह हम जैसे **जीव**दशावालों के लिए संभव नहीं तो अति कठिन है। कुछ नहीं तो अपने श्रेयार्थ के लिए ऐसा विचार न होने दें। शंकराचार्य बढ़कर या बुद्ध, ईशु ख्रिस्त बढ़कर या श्रीराम; अथवा तो वर्तमान समय में मुक्तात्माओं में कौन किससे बढ़कर अथवा कौन किस कक्षा में पहुँचा है इन सभी बातों की निरर्थक चर्चा, मताग्रह रखना आदि हमारा कोरा अज्ञान कहलाएगा । स्वयं के लिए योग्य लगें और पसंद आवें परमपुरुष या सद्गुरु जिन्हें सविशेष स्वयं के लिए पर्याप्त समझें या मानें वही उसके लिए योग्य भी है, पर जब वह अपनी मान्यता या समझ दूसरों पर लादने का आग्रह या प्रयत्न करता है, तब वह केवल हास्यास्पद सिद्ध होता है।

किसी का भी आंतरसत्त्व किस कक्षा में पहुँचा है, यह जानना हमारे लिए यदि कठिन है तो फिर समर्थों के आंतरसत्त्व को जानना और समझना यह तो और भी अत्यन्त असंभव नहीं तो दुष्कर तो है ही । बालक को जहाँ अभी चलने में कठिनाई है, वहाँ उसे दौड़ाने की बात करने जैसा है । साधारण रूप से, किसी की भी तुलना न हो यह उत्तम है । तुलना करने में अन्याय एक या दूसरे पक्ष को होना संभव है । हम तो शक्ति की बाढ़ जहाँ तहाँ बहती हो, वहाँ वहाँ प्यासे हो अंजलीभर पानी पीने की वृत्ति रखें ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ११०-११)

* *

संसार, पाठशाला यानी प्रयोगभूमि

संसार मिथ्या नहीं है । यों भी मनुष्य उसे मिथ्या नहीं मानता । यदि सचमुच हृदय से वैसा मानता होता तो वह क्षणभर भी संसार से चिपका न रहता । इसलिए जो संसार हमें आ मिला है, उसका आधार लेकर भावना विकसित करनी है ! जैसे वैज्ञानिक छोटे आधार पर किसी भी खोज के लिए प्रयोग किया करता रहता है और उसमें फलीभूत होते ही वही प्रयोग फिर विस्तार दशा को पाता है, उसी तरह जीवन के प्रयोग का क्षेत्र हमारा संसार है । उस संसार में समता, तटस्थता, धीरज, सहनशीलता, उदारता, मानसिक विशालता, अपार प्रेमभाव आदि सात्त्विक गुण लाने और उसके साथ ही फिर निरासक्त होते जाना और निर्मलत्व लाने का जीवंत ज्ञानभक्तिपूर्वक प्रयत्न किया करें तो वह क्षेत्र हमारे जीवन को योग्य ढंग से सीखने के लिए मिला होता है और **जीव** को धन्य तथा कृतकृत्यपन में प्राप्त होने के लिए मिला है; उसके बिना संसार का दूसरा कोई उद्देश्य नहीं

हो सकता । संसार का त्याग आवश्यक न हो पर वहाँ त्याग-भावना लानी है, ऐसी समझ, ज्ञान और अनुभव होते जाएगे ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १३२)

* *

जिन जिन **जीवों** का संबंध मिला है, उनके साथ हृदय का सच्चा सद्भाव ज्ञानपूर्वक हो और सुमेल की भावना हृदय में आये और इससे हमारे जीवन का जो निर्माण होता है, वह भी एक प्रकार की साधना और भक्ति ही है । संसारव्यवहार से अलग होकर जो साधना होती है, वह गलत है ऐसा भी नहीं; परन्तु संसार में निर्माण के अनेक मौके संसारव्यवहार के संबंधों में अनेक प्रकार के खड़े होते संयोगो में और उल्टे-सीधे प्रसंगों के कारण मिलते हैं । अपने मन, विचार, वृत्ति, भाव, मनोमंथन, प्राण की वृत्ति, अहम् आदि के जो आघात- प्रत्याघात होते हैं, इससे समता, शांति, तटस्थता, धीरज, सहिष्णुता और सहनशक्ति, उदारता और मानसिक विशालता आदि गुण लाने की जो ज्ञानयुक्त समझ आती है और विवेक का सच्चा ज्ञान वहाँ जो प्राप्त होता है यह उसकी विशेषता है । अलबत्ता इन सभी में उद्देश्य का जीवंत भावपूर्वक का ख्याल रहना चाहिए ।

यह सकल संसार प्रभु का ही व्यक्त स्वरूप है, लीला है । वे **जीव** को तारने के लिए रचे गये हैं । संसार से ऊबकर या त्रसित होकर जो **जीव** साधना करना चाहता है, वह साधारणतः साधना में भी कुछ हासिल नहीं कर पाता । उसकी **जीवप्रकृति** वहाँ भी उसी तरह का व्यवहार करेगी । संसार में रहना है सही पर जगकर, चेतकर,

हृदय से साधना को ही महत्त्व देते हुए, प्रार्थना करते हुए । संसार में प्राप्त **जीव** हमें ज्ञानभाव में प्रेरित करने के लिए साधनरूप हैं ।

* *

संयम

साधक के मन संयम यानी अपने जीवन का पूर्ण रक्षण करने आयोजित आचार की दीवार । संयम में अपने प्रति कठोर से कठोर हो सकते हैं, परन्तु उसके साथ ही ऐसी दीवार किसी भी **जीव** के प्रति तिरस्कार या अवगणना करनेवाली नहीं होगी । सच्चा संयम अंतर में समाकर रहता है उसके साथ ही वहाँ रहकर अंतर से बल प्रकट कर जीवन के प्रत्येक आचार-विचार की चौकी भी वह करता है । सच्चा संयमी अपने जीवन के बाह्य आचार में उसके आंतरिक संयम की छाप जरा भी नहीं पड़ने देगा । नजदीक के व्यक्ति को भी अपने अंतर के संयम की ध्वनि को नहीं सुनने देगा ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २६४-२६५)

* *

संयम में कहीं शुष्कता नहीं, कठोरता भी नहीं, जिसे संयम शुष्क और कठोर लगता है, वे संयम के उद्देश्य और उसकी भावना को उसके यथार्थरूप में समझे नहीं हैं । साधना पथ में अनेक प्रकार के संयम जीवन में लाने होते हैं । **संयम और दमन इन दोनों में बहुत अंतर है । दमन अर्थात् करणों को रूंधना । उसमें बुद्धि, प्राण आदि कुंठित हो जाते हैं । दमन जीवन को यथावत रखता है । कभी तो मूल से भी कुचल देता है, जबकि संयम से तो जीवन नवपल्लवित होता है, विकास की अनेक संभावनाएँ उद्‌भवित होती हैं ।** ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २६९)

सच्चा संयम

(अनुष्टुप)

संभाला हुआ जो हो, निष्ठा से संयम जीवन में,
उससे भी रहे स्वयं, सही संयम वही है ।

संभाला अनेक दिनों का संयम जहाँ टूट पड़े,
कैसा निश्चय स्वयं का मोम जैसा पिघल जाये ।

ऐसा संयम आये ना सही उपयोग जीवन में,
टिक सके खरी बेला में वही संयम योग्य है ।

इससे संयम-प्राप्ति के प्रयास में भावना दिल में,
गहरी भरा करो, चित्त प्रभु में रखकर ।

इस तरह प्रयासों की सर्व स्थूलता जाएगी,
और शक्ति का जन्म सही तब होगा ।

जीवन में काम लेना तब सहज बने सब,
नैसर्गिकरूप से, और वह जीवन में प्राण प्रेरेगा ।

नदी के ऊर्ध्व बहाव में जाना कितना कठिन होगा !
इसके लिए विशेष श्रम करना ही पड़ेगा ।

ऊर्ध्वगामी होने वृत्ति दिल में संयम-भाव में,
-कला जो पाना चाहे, वह लगा रहे यत्न में ।

ऊर्ध्व में ऊर्ध्व चैतन्य-शक्तिभाव प्रति दशा,
जीवन में सब होने के लिए, वैसा संयम योग्य वहाँ।

प्रथम तो वैसा कोई संयम वहाँ नहीं है,
भूमिका जैसी वैसा अलग संयम वहाँ है ।

मानव एक जो माने भाव संयम का दिल में,
दूसरे के जीवन में इससे भिन्न संयम वह बने ।

जैसे जीवन का ऊँचा भाव हो सचमुच,
-उर में संयम का वैसे बहा करे झरना ।

सामान्य मानव जिसे माने संयम जीवन का,
उस भाव से कहीं भिन्न **संयम** वह खरा !

जैसे-जैसे प्राप्त होती उच्च ऊर्ध्व दशा जहाँ,
मर्यादा संयम स्वंय ही पिघलता जाएगा वहाँ ।

बुद्धि भी तर्कशक्ति से न पा सको संयम,
बुद्धि को छल कर वृत्ति भोग लेती व सभी ।

भोगेच्छा-वृत्ति तो सूक्ष्म अपने बहाव में जाते,
बनाया न हो काबू बुद्धि क्या काम दे ?

संयम पाने साधना की आवश्यकता है,
तटस्थता से वृत्तिओं के साथ युद्ध खेलें जीवन में।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८९, ९०)

* *

उपयोग, सर्व कुछ का

(अनुष्टुप)

बेकार कोई विचार बेकार भाव कुछ भी,
बेकार स्थूल को भी उसे व्यर्थ ना जाने दें कभी।

उपयोग सभी का ही भावयोग्य किया करें,
स्वयं जन्म देना है जीवन को फिर उर में ।

जो विकास होता हो उससे ही माप निकालें,
सभी का विकासार्थ उपयोग किया करें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८२, ८३)

* *

संघर्षणों की आवश्यकता

मंथन, संघर्षण के बिना अग्नि पैदा नहीं होती, बिजली उत्पन्न नहीं होती; हथौड़े दिये बिना आकार नहीं आता वैसे ही जीवन-विकास भी अनेक प्रकार के संघर्षणों से आकार लेता है। नवसर्जन हेतु द्वैत आवश्यक होता है तथा उत्कट भावना एवं एकाग्र केन्द्रितता की भी जरूरत रहती है। पृथ्वी और सूर्य के प्रखर ताप के संघर्षण से या धरती और बरसात के मिलाप से सर्जन होता है। जैसे दूसरे नवसर्जन परस्पर विरोधी दीखते गुणशक्तिओं के संघर्षण से होता है, वैसे ही जीवन में भी नवसर्जन के लिए संघर्षण आवश्यक हो जाता है। जीवन में विरोधाभासी भावनाओं के, विचारों के, वृत्तिओं के, संस्कारों के, जगत के प्रवाहों के आघात-प्रत्याघातों ऐसे ऐसे अनेक संघर्षण खड़े हुआ करते हैं। ऐसे संघर्षण ज्ञान के उद्देश्य के लिए स्वीकार्य होते हैं तो जीवन के लिए उपकारक होते हैं, कल्याणप्रद होते हैं। जैसे धरती ऐसे संघर्षणों से नये हरे वस्त्र परिधान करती है और

जगत की जड़ और चेतन सृष्टि में नवजीवन खिलता है, उसीतरह जीवन में आंतरिक संघर्षण भी नयी सृष्टि को जन्म देगा और हमें अकेले को ही नहीं, जो हमारे आसपास सर्वत्र नवजीवन का परिमल फैलाकर दूसरों को भी श्रेयस्कर होगा ।

जहाँ तक हम में घर्षण न जागे और उत्कट भान न आये, तब तक जीवन की अड़ी हुई पलें नहीं आएगी । जीवन को योग्य पथ पर लाने के लिए ऐसे क्षण बहुत आवश्यक हैं । जीवनविकास के निर्माणार्थ वैसे संघर्षणों के स्वीकार का हेतु है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८-२८)

* *

संतान के प्रति माता-पिता का धर्म

पुत्र को उत्तम गुणवाला बनाने के लिए मेरे आशीर्वाद की आवश्यकता नहीं होती । ये आशीर्वाद तो स्वयं माताएँ ही दे सकती हैं । वह अपना जीवन सार्थक बनावे ऐसे बनाने हेतु तुम चाहो तो जरूर बना सकोगी; ऐसी शक्ति, प्राण, श्रद्धा, भाव यह सब बहनों में है ही । मात्र उसके उपयोग का क्षेत्र अलग होता है । यह स्थलांतर होते ही सभी शक्ति जन्म लेगी । संतान को प्रेमभाव से पालो । उसके आगे भगवान की बातें करो, नामधुन सुनाओ, स्तनपान कराते समय तुम खूब शान्त और प्रेमालु हो एकाग्र चित्त से भगवान का नामस्मरण करती रहो, जिससे यह भाव उसमें उतरे, पर प्रथम तुम्हारे दिल में यह तमन्ना आनी चाहिए कि मुझे उसे ऐसा बनाना है ।

* *

अपने पुत्र विषयक आप सभी माता-पिता किसी भी प्रकार की आसक्ति, इच्छा मन में न रखें । जिन बालकों पर उनके माता-पिता की ऐसी रागासक्त तीव्र इच्छाओं के हमले हुए हैं, वे अनेक बार

माता-पिता की इच्छा विरुद्ध ही बने है। इसलिए उसे जैसा होना होगा वैसा होगा। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०८)

* *

संतान को अपनी तरह नहीं उनकी तरह, उन्हें शोभे उस तरह काम सौंपने का काम भगवान ने हमें सौंपा है। उसे ओप चढ़ाने को ठीक ढंग से न कर सकें, तो हम धर्म चूके हैं गिना जाएगा। उसका निर्माण कार्य हमारे जीवनविकास के लिए है। वह कर्म करने में आसक्ति, मोह, ममता, राग आदि हम में बिलकुल नहीं होने चाहिए। **जितना मोह, राग और ममता उतनी ही जकड़न विशेष और मुक्त होना असंभव। यदि मुक्ति के मार्ग में जाना हो तो इन सभी में से छूटना आवश्यक है।**
('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०३)

* *

जगत में जैसे अन्य सभी का साधक को प्रेम से सहन करना होता है वैसे ही अपनी संतानों का भी समझपूर्वक सहन करें उसमें हमारी योग्यता है। संतान उचित व्यवहार न करे तो उसका फल उसे स्वयं ही भोगना है, वह जान लें। प्रेमभाव से, तपश्चर्याभाव से सहना और उदार दिल रखकर उन्हें समझाना यही उन्हें योग्य समझ और व्यवहार में लाने का मार्ग है। न समझे तो हमारा मानभंग होता है, ऐसा न मानें। 'तो फिर हमारा स्थान कहाँ' ऐसा मन हमें पूछे; तो हमारा स्थान हमारे में ही रहा है। किसी से भी दुःखी न हों। बुद्धि से संभव हो तो उतना, हृदयपूर्वक की योग्य भावना से, उसका हल लाने के लिए जो कुछ योग्य हो वह करें और संतोष मानें।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८४-८५)

* *

साधना में आनंद कब आयेगा ?

१. जीवन में जिसे हम सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न मानते हों उसमें रुचि रहेगी ।

२. जिसके लिए प्रयत्न करना पड़ता हो, उसके लिए भावना, प्रेम हो तभी आनंद आएगा ।

३. जिसे प्राप्त करना होगा उसकी उत्कट जिज्ञासा और तमन्ना जागी होगी, ऐसी तीव्र भूख जागते ही आनंद आएगा ।

४. 'गरज' जागी होगी तो आनंद आएगा; अमुक चीज किये बिना छुटकारा नहीं ऐसा दृढ़ निश्चय किया हो, या जो न हो तो जीवन बेकार लगेगा तो आनंद आएगा ।

५. जिसका सतत चिंतवन हुआ करता होगा उसमें रुचि रहेगी ।

६. जीवनध्येय की प्रतीति हो गई हो और उसके बिना जीवन में दूसरे किसी में आनंद न आये तो आनंद आएगा ।

७. ऐहिक पुरुषार्थ के कारण प्राप्त सारे संसारी सुख, सुविधा होने पर भी इन सभी से दिल में चैन न हो और हृदय अंदर से अभी किसी और की रटन करता हो तो आनंद आएगा ।

ऐसे ही कारणों से साधना में आनंद आना संभव है । भले ही हमें प्रारंभ में आनंद शायद न भी आये या प्रारंभ में आनंद आने के पश्चात् मंद गति हो जाय, तब भी, जीवन का अब शेष कार्य यही होगा, ऐसा दृढ़ निश्चय यदि ला सकें हों और एक या दूसरे साधन को पकड़े रहकर ज्ञानपूर्वक प्रेमभक्ति से कुछ न कुछ किया करेंगे तो एक दिन उसमें से वेग जन्म लेगा ही ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५६-५७)

* *

साधना अनिवार्य

प्रभु की दिव्य शक्ति ही विश्व सचराचर में,
हजारों तरह से व्यक्त स्वयं कैसी हुआ करे !

वृक्ष में वृक्षरूप वह, पानी में पानीरूप वह,
आविर्भाव रूप में ही चेतना-मर्म स्थिर वह ।

सर्व के मूल में देखें चैतन्य-शक्ति वास है,
वैज्ञानिक कहें ऐसा प्रयोग, सिद्ध वे करें ।

'यदि है वह सत्य तो क्यों न उसे देख सकें ?'
प्रश्न उठे वह सभी को; विक्षेप कहीं बीच में ।

इन्द्रियाँ मन व चित्त, अहंकार के रूप में,
मिश्रित हैं इकट्ठी अलग कर कैसे देखें ?

इन्द्रियाँ, मन व चित्त बुद्धि प्राण और अन्य,
अहंकारादि से अलग होना रहा वहाँ सदा ।

उन सभी से बिना पूरी तरह भिन्न उर में,
न आ पाती अन्य किसी तरह आत्मा की दिव्य शक्ति ।

प्रचंड साधना उग्र उसके लिए करनी पड़े,
यह संभव नहीं किसी तरह बिना इसके ।

लाखों बार अनेक बोध सुना करो भले,
जाओ कोटि बार संत के समागम में ।

शास्त्र पारायण गहन फिर अभ्यास किया करें,
तब भी न प्राप्त बिना किसी साधना किये ।

साधनामात्र उपाय केवल एक वहाँ सही,
शक्ति को पाने अन्य कोशिश बेकार समझें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ४४)

* *

एकांतिक साधना की आवश्यकता, प्रारंभ में क्यों ?

जीवन का साधक तो जहाँ कहीं से भी सद्भावना की पहचान और कदर किये बिना नहीं रह पाता । हर किसी का उचित मूल्यांकन वह यथाभाव से करता रहता है । किसी भी सद्प्रवृत्ति के हार्द को वह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता, इसलिए वह जीवन की सकल सद्प्रवृत्ति के मूल में है । उसकी भावना जैसे एकाग्र और केन्द्रित उसके लक्ष्य के प्रति रहा करती है वैसे ही वह सर्वतोमुखी होने के लिए भी निरन्तर लगी रहती है । उसकी दृष्टि को एक में एकाग्र केन्द्रित होने के लिए जो होता है वह तो विस्तार पाने की दशा प्राप्त करने के लिए । उसका एक में जो बंद रहने का एक काल तक ही हुआ करता है, वह तो ज्वालामुखी की तरह बाहर फूट निकलने से पहले उसके अंदर के भूगर्भ में बहुत समय पहले से ही बाहर फटने की क्रिया-प्रक्रिया सतत चलती रहती है उसके जैसी अथवा तो मक्खन पाने के लिए, दूध को दहीं करने के लिए उसे कुछ समय हिलाये बिना एकांत स्थल में रखने की आवश्यकता रहती है उसके जैसी यह पूर्व तैयारी है । इसतरह की पूर्वतैयारीरूप साधना में एकाग्र और केन्द्रित होने की साधक को कुछ समय के लिए ही आवश्यकता होती है । इससे वह समाज से अलग, अकेला हो जाता है, ऐसा मानना

यह योग्य नहीं है । वैज्ञानिक जैसे अपनी खोज के प्रयोग का मनन-चिंत्वन में एकाग्र रहकर, उस काल के दौरान एकाकी जीवन जीकर सभी प्रकार के जीवन पर दृष्टि नहीं दौड़ाता—और संसार इसे योग्य भी मानता है—ऐसा साधक का भी होता है ।

जिन्हें भी कुछ पाना है, उन्हें उसे पाने के प्रयत्न में एकाग्र और केन्द्रित हुए बिना नहीं चलेगा । जिसने जो प्रवृत्ति जीवनध्येय को विकसित करने हेतु हाथ में ली है, उसमें उसे एकचित्त होना ही होता है । यह सच्चाई जीवन के सर्व क्षेत्रों में लागू होती है । लड़ाई के जोश को जीवंत और उत्साही रखने उस दौरान समग्र प्रजा की दृष्टि को एकमात्र मुक्ति और विजय के पहलू पर जैसे एकाग्र और केन्द्रित रखी जाती है—और उस काल दौरान जैसे दूसरे किसी के प्रति अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता—वैसे जीवन में साधना के प्रति की भावना को समझना होता है ।

ऐसा साधक अकर्मण्य है ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता है । जीवन में उद्‌भवित रागद्वेषादिक प्रकृति के भावों से न खिंचकर शांति, समता, तटस्थता लाने हेतु जागृतिपूर्वक मंथन करना और जीवन के प्रति सकल वर्तमानभाव में सत्त्वगुण को लाने लगातार ज्ञानपूर्वक मथे जाना— उसे क्या कर्म नहीं गिनेंगे ? और वैसा कर्म भी प्रभुप्रीत्यर्थ, प्रभुभाव से और ज्ञानभक्तिपूर्वक श्रीभगवान के चरणकमल में समर्पणभाव से हुआ करे— यह सब कोई जैसा-वैसा कर्म नहीं है । संसार के कर्म से साधनामय जीवन का कर्म निराला है । संसार का कर्म स्थूल होने से देख सकते हैं; साधना-कर्म सूक्ष्म होने से देख नहीं पाते ।

* *

साधक का स्वजन के प्रति भाव

हमारा कोई स्वजन हमसे झगड़ा करे, क्लेश, संताप या मन दुःख करें और इससे यदि हम दुर्बल न पड़ जाँय अथवा घिर न जाँय तो उसके हथियार निस्तेज पड़ेंगे ही; परन्तु यदि हमें इससे गुस्सा या क्रोध आये तो उस **जीव** के वे हथियार अधिक धारवाले होंगे । इसलिए ऐसी स्थिति में तो प्रभुकृपा से हमें अधिक सरल, शांत, धीरजवाला, समतावाला और प्रेमभावी होकर अधिक सहनशीलता लानी है । हमारे सत्त्वगुण को बढ़ाने, प्रस्फुरित करने तथा हमारे में रहा चिड़चिड़ापन, अकुलाहट, क्रोध की वृत्ति को धीरज रखने की परीक्षा, अवसर रूप में प्राप्त है, ऐसा हृदय में मानकर तब हमें व्यवहार करना है । तब हमारा हृदय प्रेमभाव से खूब आर्द्र, कोमल, सहानुभूतिवाला और सामने **जीव** के अंदर का जो अच्छा हो उसकी कदर करने की तत्परताभरी भावनावाला होना चाहिए । ऐसे समय में हम में पूरीतरह ऐसी जागृति जगी होनी चाहिए ।

जीवन का इसप्रकार के संघर्षों से निर्माण होता है । जिसके जीवन में कभी ऐसे संघर्ष, युद्ध, उलझन, कठिनाइयाँ, उपाधियाँ नहीं आयी हैं, उसके जीवन में परिपक्वता कैसे आ सकती है ? **कैसी भी विषम परिस्थिति में भी हमारी मानसिक स्थिति पूर्ण समतावाली, शांतिवाली, धीरजवाली रह सके, उस प्रकार के शिक्षण के लिए ईश्वर कृपा कर वैसे संयोग हमें दिये हैं, ऐसी जागृति तब होनी चाहिए ।**

सामनेवाले **जीव** की प्रकृति के कैसे भी दर्शन हों, तब भी हमारे प्रेम-भाव में बिलकुल भी फरक नहीं पड़ना चाहिए—बल्कि वह बढ़नी चाहिए, तभी संसार के किसी के भी साथ हम

समतायुक्त आचरण रख सकने में समर्थ होंगे; तभी पापी में पापी और दुष्ट में दुष्ट **जीव** को भी हम चाह सकेंगे ।

हमारा दोष हो तो लाख बार माफी माँग लें । ऐसा करने में कहीं भी संकोच न रखें । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ७५ से ७७)

* *

यदि किसी **जीव** की प्रकृति सामनेवाले को झुकाने या घसीटने उसकी अंतिम हद तक जाती हुई अनुभव हो तो यह तो हमारी अपनी परीक्षा है और हमारी कक्षा या दशा कैसी हुई है उसे जानने के लिए एक परिमापन है । वैसे समय में सामने की ओर थोड़ी भी लापरवाही या तिरस्कार हुए या प्रेमभाव और सद्‌भाव कम हो तो हमारा पतन हुआ समझें । सेवा का प्रसंग मिले तो प्रेमभाव से उसकी सेवा भी करें, परन्तु जहाँ हमें नहीं झुकना है, वहाँ तो ना ही झुकें । **उसकी आत्मा को जरूर वंदन करें, झुकें, परन्तु उसकी प्रकृति को या उसके स्वभाव को तो नहीं ही । किसी की भी प्रकृति या स्वभाव को नमन किया तो समझें कि हम नीचे उतर गये ।** ध्येय के विषय में और आदर्श के प्रति तो दृढ़ ही रहना है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ७९, ८०)

* *

साधक के जीवन में ऐसा भी समय आता है कि जब हमारे अपने ही हमें नीचे खींचकर गिराना चाहते हैं । उस 'चोट' के बड़े से बड़े हथियार भी होते हैं । क्योंकि उनके प्रति हमें दूसरों से अधिक प्रेम होता है । परन्तु ऐसा जो कृपा अवसर मिलता है, वह यदि साधक सचमुच जागृत होता है तो आँख खुल सकती हैं । इससे उनके प्रति हमारा राग, ममता, आसक्ति, मोह आदि

यदि होगा, वह उनकी सच्ची प्रकृति के दर्शन होते ही कपूर की तरह हम में से उड़ जाएँगे । साधक के जीवन में कोरी शुष्कता भी नहीं होनी चाहिए । वह तो सदा कोमल में कोमल बना रहना चाहिए । इसके साथ अपने ध्येय के प्रति उसकी दृढ़ता वज्र से भी कठोर होगी । जीवन में करुणता, उदारता, विशालता, प्रेम आदि का स्थान है, परन्तु वे सभी ध्येय के खातिर उपयोग करने हैं— असत्य या प्रकृति के निचले स्तर को अपनाने की खातिर नहीं । **उल्टा समझाएँगे, घातकी लगा करेंगे, ऐसा होना संभव हो तब भी ध्येय के योग्य ऐसे समताभरे प्रेम के भावयुक्त अलग व्यवहार से सामनेवाले को जीवन की सही समझ और श्रेष्ठता बतला सकते हैं । एक बार सामनेवाले व्यक्ति को हमारी दृढ़ता का ख्याल आ जाय तो हमें हिलाना असंभव है वैसा उसे लगने पर अंत में वह अपनी हठ छोड़ भी सकता है ।**

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ८१, ८२)

* *

जीवन-साथी के प्रति धर्म

(अनुष्टुप)

योग-मार्ग में जाना हो तो इस से अन्य रूप में,
-तुम्हें कोई जाने प्रेरे, 'ना' कहो दृढ़ता से ही ।

कुछ ऐसा करने से, दिल दूजों का दुःखी होते,
प्रेम गहन उर में रख ऐसो को समझायें ।

साथी का साथ लेने को देने को कहा करें,

हमें तो रहना स्व-मार्ग में दृढ़ता रखके ।

एक की एक बात को अधिक नहीं मसलें,
स्पष्ट जो कहना हो उसे कह शांत हो जायें ।

अपनी तरह चलाने को अन्य तो चाहेगा,
हमें न डिगना है वहाँ रहना दृढ़ सदा ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ११९-१२०)

जिसे जो चाहिए हो उसे लेने दें सभी कुछ,
नि:स्पृही हमें रहना हिस्से आये वह कर ।

शामिल नहीं होना है किसी में भी हमें कभी,
ऐसा आचरण करें स्वस्थ शान्तिरूप पूरा ।

फल की चिंता रखकर कर्म न कोई करें,
आये कर्म के भाव से बरतकर निश्चिन्तता धरें ।

हमारे करने में सर्वस्व प्राण अपने ही,
रखें यदि पूरीतरह, तो योग्य जीना बने ।

दूसरों की कमियाँ हमें नहीं निकालनी हैं,
जो कुछ उल्टा हमारा हो उसे सुधारा करें ।

सभी दूसरों से अच्छा लेने की आदत डालें,
ऐसा अभ्यास निष्ठा द्वारा कर शुद्धि बढ़ाएँ ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २३-२४)

* *

साधक और सांसारिक संबंध

(अनुष्टुप)

संसार प्रभु-प्राकट्य लीलारूप दिल गिने,
प्रभुभाव से लीन उसमें रहना हमें ।

विकसित करना है ऐसा अभ्यास जीवंत,
बिना अभ्यास जो जिया करे जीवन व्यर्थ है ।

संसारी सारे संबंध संसारी सुख लिए नहीं,
प्रेम उद्‌भावार्थ तो मिले निमित्त यहाँ सारे ।

सद्‌भाव बढ़ें उर में ऐसा आचरण करे,
जीवन उनके साथ जोड़े इस तरह ही ।

सगे-संबंधी सभी से यदि दिल का प्रेम न बढ़े,
'हमारी रीति योग्य वर्तन की नहीं'— जाने ।

अधिक-कम प्यारा न किसी को गिनना हमें,
समभाव रख आचार श्रेय-अर्थ उर में ।

दंश नहीं किसी के लिए रहे उर में कभी,
किसी का अच्छा या बुरा संग्रह रखना नहीं ।

एक बार कह देना किसी को कहने में आये,
मानना होगा उसे तो माने अपनेआप ही ।

धमकी दे कभी न किसी के पीछे मत पड़ो,
लिया काम पूरा धमकी से चाहकर करो ।

अपने काम का ख्याल जिसे संपूर्ण न रहे,
ऐसा ख्याल दूसरे किसी में उगाएगा कैसे ?

स्वयं में उगा जो सके तत्त्व पूरा उर में,
उसमें आये शक्ति उससे हक्क सारे मिलें ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २१, २२, २५)

* *

साधक का घर-नौकर के प्रति व्यवहार

अपने जीवन को साधना में सांगोपांग अपनानेवाले इच्छुक साधक को घर-नौकर के प्रति संपूर्ण भाईचारे की भावना रखनी चाहिए। नौकर के हिस्से में आया काम नौकर करे इसलिए वह हलका नहीं हो जाता, वैसे ही कोई लखपति या करोड़पति अपने हिस्से में आये काम को करता हो, इससे वह ऊँचे दरजे का नहीं हो जाता । काम के प्रकार को लेकर ऊँच-नीच का भेद नहीं हो सकता । साधक ऐसे भेद अपनी कल्पना में भी न आने दें ।

अंतर में और बाहर, ऊपर और नीचे, सभी जगह भगवान का भाव सचराचररूप से व्याप्त है, उसे जीवन में अनुभवरूप हृदय से प्रामाणिक रूप से उतारने को मंथन करनेवाला वह साधक। ऐसा साधक अपने नौकर और कुटुंबीजनों में सद्‌भाव की दृष्टि या भावना से कोई फरक नहीं देखता । बीमार पड़ते ही अगर उसकी कोई असुविधाभरी स्थिति का ख्याल आ जाय तो अपने कुटुंबीजन जैसे, उसकी मर्यादा की स्थिति का विवेक रखकर, उसकी योग्य सेवा करना और उसे उपयोग में आने का चूकेगा नहीं । उसके पास से अधिक काम न लें । नौकर का काम कितने घण्टे और कितने समय तक का है उसका जीवंत भान रखना चाहिए। काम के कारण उसे देर रात तक जागना तो नहीं पड़ता । उसे भी देखना चाहिए । उसके भोजन और आवास की सुविधा, उसके जीवन की मर्यादा, दीखती जाएगी। कोई भी योग्य कारण अनुसार

हमारे यहाँ उसे जाना हुआ तो दूसरों के वहाँ कैसे भी संयोगों में यशस्वीरूप से वह अपना काम कर सके ऐसा प्रशिक्षण भी उसे हमारे यहाँ मिल जाना चाहिए ।

नौकर के साथ साधक कभी भी असभ्य न बने और प्रत्येक प्रसंग में, वाणी में मिठास रखे । **नौकर अर्थात् उसे बेकार नहीं रख सकते और सतत दिनभर एक के बाद दूसरा काम बताते रहें, यह तो बहुत हल्के प्रकार की मनोवृत्ति है ।** नौकर भी मनुष्य है । उसमें भी भावना है । उसे भी आराम की आवश्यकता है । फिर, कितनी ही जगह तो घर के मुख्य मनुष्य न सो जाँये, तब तक नौकर सो नहीं सकता । ऐसी जगह स्वयं सोचकर नौकर को भी कम से कम सात से आठ घण्टे नींद मिलनी चाहिए, ऐसा विचार समझदार **जीव** किये बिना नहीं रहेगा । नौकर का शरीर बीमार हो उस समय उसे काम न करने दें, उसे आराम, दवा और अपनी ऊष्मा मिले ऐसी सुविधा, उदारता और सहृदयता यदि हम रख सकें तो नौकर हमारे लिए सद्भाव रख सहायक रूप हो सकेगा । ऐसा करना यह हमारा धर्म भी है । नौकर की शक्ति की मर्यादा देखकर उससे आसानी से हो सके उतना ही काम करवाना चाहिए । नौकर गरज के मारे हमारे यहाँ काम भले करेगा, परन्तु उसके प्रति यदि हमारा व्यवहार सख्त और कठोर होगा तो उसके दिल में हमारे प्रति सद्भाव या प्रेम कभी नहीं जागेगा । हम स्वयं उसके जैसी स्थिति में हों तो हमें कैसा लगेगा यह हमें सोचना चाहिए ।

साधक का नौकर के साथ व्यवहार प्रेमभावपूर्ण होना चाहिए । साधक ऐसा कभी न माने कि उसके साथ वैसा व्यवहार रखने से नौकर चढ़ बैठेगा, उसके साथ ही नौकर का अयोग्य वर्तन होने से

उसे उसमें से रोकने का भी नहीं चूकेगा । साधक के हृदय का सहज प्रेमभाव और उसके साथ का ऐसा नैसर्गिक वर्तन नौकर के दिल में कोई अनोखा भाव पैदा किये बिना नहीं रहेगा । नौकर यह नौकर नहीं है पर कुटुंब का ही अंग है ऐसा भाव हृदय में आना चाहिए । नौकर को हो सके तो बिना योग्य कारण हम न निकालें । वह अपनेआप जाये तो अलग बात है ।

नौकर के प्रति साधक संपूर्ण विश्वास रखे सही, परन्तु अपने ऐसे विश्वास भरे भाव से यदि नौकर अपने स्वभाव अनुसार गलत प्रेरित हो रहा हो तो उस विषय में उसे समझाएँ और आवश्यकता हो तो रोकें, यह साधक का धर्म होता है । अपने विश्वास की भावना को लेकर उसका अकल्याण होने देने के निमित्त वह न बने । जानबूझकर नौकर को बेदरकार न होने दें; साथ ही गलत रूप से उसे बार बार पैना न भोंके ।

वर्ष में एक महीने वेतन के हक्क की छुट्टियाँ और यदि वह न भोगे तो उसे अलग पारिश्रमिक और महीने में चार दिन छुट्टी उसे मिलनी चाहिए । नौकर स्वयं कुटुंबीजन जैसा होकर छुट्टी न भोगे तो उसे अलग से लाभ दें । वर्ष के अंत में एकाध महीने का वेतन बक्षीसरूप देने की संभावना हो तो ऐसा भी सोच सकते हैं ।

अंत में तो साधक नौकर को नौकर के रूप में न समझकर उसे आये हुए स्वजन के रूप में देखेगा और ऐसी भावना रखेगा । ज्ञानपूर्वक भावना से प्रेरित सद्‌भावना का कोई गैरलाभ हो ऐसा डर साधक को नहीं होना चाहिए । अपना धर्म उसके प्रति सब तरह से योग्य प्रकार का व्यवहार हो इसी में साधक को संतोष होना चाहिए । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २१६ से २२१)

यहाँ 'नौकर' को मात्र घर का नौकर ही नहीं समझना है; परन्तु एक से अधिक नौकर हों तो वैसा तथा रसोई करनेवाला महाराज, आया, गुमास्ता, कारीगर, शॉफर, माली, चौकीदार, निजी सहायक, मंत्री आदि सभी प्रकार के व्यक्तिओं से जुड़े गिनना है और उनके प्रति पृथक धर्म साधक को योग्य रूप से भावपूर्वक अपने हृदय का भाव विकसित करने के लिए ही मानो वह सब भगवान ने साधन रूप से दिया हो, वैसा सहृदयी भाव रखकर वैसा सब प्रभु-भेंट रूप समझना है ।

* *

साधक का अंदरूनी व्यवहार

साधकों के सूत्रधार एक ही गुरु जहाँ होते है वहाँ और फिर भी साधकों के परस्पर व्यवहार में अनेक बार उन्हें शोभा न दे ऐसा व्यवहार दिखाई देता है । सच में तो **साधक अर्थात् गुरुरूपी विराट शरीर के अलग-अलग अंग ।** जैसे मानवशरीर के प्रत्येक अंग का नाम, काम और प्रकार भिन्न होते हैं वैसे ही गुरु के विराट शरीर के ये अंग हैं ।

जब कोई **जीव** साधकदशा में आता है, तब उसके स्वभाव के अच्छे तत्त्व और अनिष्ट तत्त्व दोनों जो अब तक साधक में गहराई में रहे थे, वे ऊपर आ जाते हैं, बाहर व्यक्त होते हैं । उनमें निम्न तत्त्वों के आक्रमण शीघ्र होने लगते हैं । उनका व्यक्त होना वेग से और शीघ्रता से होता है और वह सविशेष रूप से ज्यादती पर आ जाता है । ईर्ष्या, असूया 'मैं' पन, क्रोध, मत्सर, अयोग्य स्पर्धा, गुरु पर अपनी मालिकी की वृत्ति, दूसरों के कारण स्वयं अच्छा लगने और दीखने की वृत्ति, स्वयं को अधिक महत्त्व मिला करे ऐसी व्यवस्था

आदि **जीव** प्रकार की निम्न वृत्तियाँ एकदम वेग से आक्रमण करती हैं । अनेक वर्षों से बहती कोई नाली में या खारकुँअे में नीचे कचरा जमा रहता है और उसके ऊपर से पानी बह जाता हो तो वह पानी प्रमाण में स्वच्छ होता है; पर जहाँ नाली साफ करने, कुतरने की शुरुआत होती है, तब वह पानी उलटा अधिक बदबूवाला, मैला और गंदा हो जाता है । वैसे ही कुछ साधक के जीवन के विषय में होता है ।

ऐसे समय में अनेक बार साधक उसके निचले स्तर के जोर से बहने वाले प्रवाह में बह भी जाता है– यद्यपि फिर जागृति में आने से उसका भान भी होता है और साधक में कभी-कभी अंदरूनी खींचातानी, तू-तू मैं-मैं और झगड़ा भी होता है । इससे ऐसे साधक बहुत निचले दरजे के हैं ऐसा मानने की ओर संसारी लोग ढलते हैं, परन्तु वास्तविक रूप से यह मान्यता अघटित है ।

साधक में और संसारी में एक बड़ा अंतर है । उसकी सारी विकृतियाँ होने पर भी साधक भगवान की ओर अभिमुख थोड़े बहुत अंश में भी होता है; इसलिए समयानुसार वह अपने स्वभाव से अधिक से अधिक गहराई में परखने लगता है और निचले स्तर के बहाव के पट को छोड़ता जाता है, अर्थात् वह स्वभाववश होना कम से कम करता जाता है । इसलिए ऐसे साधकों के बीच अंत में एक दिन सुमेल जागे बिना नहीं रहेगा । वह जैसे जागता जाएगा और उसका जैसे क्रियात्मक उपयोग होता जाएगा, वैसे नयी आयी या खिली शक्ति ही अपनेआप सभी में सुमेल लाएगी ।

प्रकृति के कितने भी प्रबल आक्रमण आयें तो भी साधक को जागृतिपूर्वक उनका सामना करके दूसरों के साथ अघटित व्यवहार न हो, ध्यान में रखना होगा । उसे अपने व्यवहार के प्रत्येक पल को

समझना होगा और वह कहाँ गलत है, उसका पूरा ख्याल उसमें होना चाहिए । साधक अपने को पूरा पहचाने तो हमेशा उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव उसके प्रत्येक प्रसंग, विचार, वाणी और व्यवहार में अपनी भूल कहाँ है, उसे देखने में ही उसका लक्ष्य रहेगा । स्वयं को होते किसी भी आघात विषयक या अन्यायपूर्ण दीखते व्यवहार विषयक जो कोई साधक सामनेवाले का दोष देखेगा अथवा खोजेगा तो वह सचमुच का साधक नहीं अथवा तो वह प्रसंगवशात् किसी बड़े भ्रम में पड़ा **जीव** है ।

गुरु प्रत्येक साधक के साथ उसकी उस समय की आवश्यकता, संयोग, परिस्थिति आदि देखकर व्यवहार करते हैं; उसमें किसी प्रकार का पक्षपात या गणनाएँ—considerations—गुरु के नहीं होते; तब भी साधक अनेक बार अपने अहम् और प्राण से प्रेरित गुरु के व्यवहार पर मन में टीका करने, न्याय करने बैठ जाता है । इसप्रकार साधक अपने आपको, गुरु और जुड़े साधक को इसतरह तीनों को अन्याय करता है । साधक को जब ऐसे भाव जागें तब उसे सविशेष जागृति रखकर उसमें से तुरन्त दूर हो जाने का दृढ़ प्रयत्न करना चाहिए । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २१०-२१५)

* *

जो साधक एक साथ जुड़े होते हैं, वे परस्पर मिलने से अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करें, किन-किन पद्धतियों के ग्रहण करने से साधनापथ में सरलता आती है, उन सभी का विनिमय करें और एक दूसरे के उत्कर्ष में प्रीति रखें, ध्यान रखें, संघबल का इसतरह लाभ उठाने की इच्छा योग्य है ।

* *

साधना - रहस्य

(अनुष्टुप)

संग्रहित पुराने ख्याल, पुरानी कल्पना सारी,
पुराने मूल्य की गणना छोड़, चिंतन करे ।

पुरानी नीतियाँ आये बिना न रहें कदापि,
किन्तु तब न हों उसके वश वृत्ति जरा भी ।

मापने का कभी रखें न किसी को हम कभी,
लेना परीक्षा छोड़ो, सौंपो सारा ही ईश को ।

मापा जाये यदि कोई चित्त में उसे न रखें,
बह जाने दो उसे चिपका दें चित्त का भाव क्या ।

अच्छे बुरे सभी ख्याल हमें नहीं रखने हैं,
प्रभु को अर्पण कर खाली रखें हृदय को ।

किसी की बात पर नहीं अपना ध्यान रखें,
डाले कोई लक्ष्य उर में तो तटस्थता रखें ।

प्रभु के भाव का लक्ष्य चैतन्य सजग करें,
उसके पीछे सदा आहुत होने को ही चाहें ।

प्रत्यक्ष जीवन में **उसे** किये बिना उर कहीं,
स्थिर शांत नहीं कैसे बैठे रहना है हमें ।

लग ही जाएगा तब अनेक गढ़ंत में सही,
हमारा चित्त ऐसा कि न जान सकेंगे दिल में ।

जो कुछ करते वहाँ स्पष्ट लक्ष्य विधान का,
हमें रखना योग्य, भावनाओं में बहे बिना ।

ज्ञान, भक्ति, गहरा ध्यान, योग लक्ष्यचित्त से,
जिस किसी में प्रवेशार्थ हम मंथन रखें ।

भाव दिल से जब प्रत्यक्ष जन्म ले उर में,
–परिपक्व भूमिका तब हमारी जाननी चाहिए ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २१-२३)

* *

प्रभु के मार्ग में जो-जो अवरोधरूप आँए,
खरे दिल से उनका इन्कार करते रहें ।

किन्तु वैसा होने में ज्ञानपूर्वक उन्हें करें,
किया न किया बाकी तो मिथ्या वह सब जानें ।

प्रभु का गलत वेश क्या अविद्या अंधकार में,
–ले आये किस पल, उस वेला चेतें उर में ।

स्वीकारने के लिए स्थिरता मन की करो,
चेतना जागृति रख प्रकृति से न कुछ करें ।

किया जो भी करते हों वह प्रभु काज हेतु ही,
–गहराई से हृदय में लक्ष्य जीवन्त रखें ।

समर्पण कर देना स्वयं को सारे भाव से,
जो-जो भी दे प्रभु उसे स्वीकार करे हर्ष से ।

दुःखी हो या छिपे विरोध करते रहने से,
बलपूर्वक स्वीकारने का अर्थ न रहता ।

हमारे कर्म में व्यक्ति कैसा भी बेकार होगा,
निस्बत, कल्पना, ख्याल हमें उसके साथ न कोई ।

संसार में सभी तरह प्रभु-भाव बनावें,
संसारी भावना रख संसार में नहीं वर्तें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १००, १०१, १०३, १६८, १७९)

* *

स्पृही रहने पर भी स्वयं बरतें निःस्पृही होने,
कभी आशा, कोई इच्छा, हृदय में नहीं रखें ।

पुरुषार्थ की मात्रा नित्य बढ़ाते रहें,
कृपा, प्रेम प्रभु के माँगते रहें दिल से ।

भूत-भविष्य के अधिक विचार, न कोई करे,
अपनेआप होता जाय होने दें प्रेम से ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. २, ३, ४)

* *

सर्व प्रवृत्ति के कर्म स्वभाव से वश न हों,
अहंता छोड़ते रहें कर्म से ज्ञानयुक्त क्या ।

अनासक्त रूप से कर्म प्रवेश करना रखें,
उर में सद्‌भाव रखकर प्रभु को समर्पण करें ।

गंदा न हो जाँय कहीं स्वयं स्थिर रहा करें,
रह अंतर्मुख देखें कर्म का मूल चित्त से ।

कर्म संबंध द्वारा जो संबंध जीवन में मिला,
कोई काल में न उसे तिरस्कृत करें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. २०)

* *

सत्य पाने जिसने उर से संघर्ष किया हो,
बंधे वह किसी में न, स्वयं को पहचान ले ।

किसी के स्थूल को कभी पकड़ के नहीं रखें,
सूक्ष्म की चेतना-शक्ति उद्यत ग्रहण करने मथो ।

मानवी प्रकृति की जो निचली भूमिका की,
-ले जानेवाली वृत्तियाँ जीवन में मोड़नी पड़ें ।

जो करण हठी हो शक्ति केन्द्रित वहाँ कर,
मोड़े प्रभुभाव से उसे, चेतना खर्च कर ।

कर्म के हार्द में भाव आकर कुछ न करे,
मिथ्या कर्म हो; प्राण वहाँ फिर कैसे प्रकटे !

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ८४, ८५, ८९, १०७)

* *

दूसरे किसी के दोष हम कभी नहीं देखें,
स्वयं सुमेल लाकर जो स्वयं संघर्ष करें ।

छोड़ दूजों के झगड़े बन जाँय प्रभुमय,
-पूरा यंत्र बन जाओ, देखेंगे फिर सभी सही ।

स्थिरता, शांति, आनंद व तटस्थता सभी द्वारा,
-रखना जरूरी वह मौन है योग्य चित्त से ।

चिंता, उद्वेग, ऊब, शोक, मत्सर, क्रोध एवं
-काम-रागादि स्थिर रखने को मौन सार्थ है ।

तरंग विचार के जो आयें निःस्पृही सदा उस साथ रहें,
-मानो निर्लेप बैठे हो तुम ऐसा वर्तन करें ।

आदि, मध्य और अंत ज्ञान-भाव से क्रिया करें,
फिर समर्पण करे प्रेम से, पास कुछ न रखें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १०९, ११७, १२८, १२९, १३१, १३३)

* *

आहार में भावना रख उस योग्य प्रार्थना करो,
मलमूत्र जाते समय योग्य भावना रखो;
'प्रत्येक व्यवहार में ऐसा भाव दिल में रख,
-सभी कुछ करना है', दिल में स्मरण रखें ।

निष्कपट हो प्रभु प्रति, हमारे सारे कर्म,
-प्रभु संकेत से प्रार्थना करो रख उर से ।

उन्मुखता प्रभु के प्रति प्रेमभाव से रखें,
प्रयत्न धारा ऐसी बहती अखंड रखें ।

पूरा मरणान्त स्वयं सर्व यत्न किया करें,
पूरी चेतनता रख कृपा मदद बाद चाहे ।

वर्तन, वाणी व कर्म हमारे द्वारा दूसरों को,
-होगा क्या-क्या ? विचारकर हम वर्तन करें ।
साथ उसका कभी मत चूको, इतनी तो कृपा करो ।

प्रभु का नाम लेना सदाकाल से चाहा करें,
एक पल के लिए साथ उसका नहीं चूकें ।
इतनी तो कृपा करो ।

अपने में प्रभु जैसा उर उद्‌भावना चाहें,
प्रभु हो सभी में जान वैसा हृदय से चाहें ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. २९ से ३६)

* *

दुःख ये तो प्रसादी है मिली प्रभु के घर् से,
धन्य वह हो जरूर स्वीकार प्यार से जो ले ।

प्रभु की मदद ले आगे हम बढ़ते चलें,
प्रभु सहायता बिना क्या कुछ कर सकेंगे ?

माँगा करो कृपा उसकी गद्‌गद भाव से ही,
कृपा भाव उतारा करो चाहकर यत्न से ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ५५, ६७)

* *

विवेक ज्ञान साथ का क्रिया में सब रखके,
प्रत्येक घटना में उस प्रभु का हाथ जानें ।

त्याग और बलिदान होते सर्व समर्पण,
उर में रहना चाहिए ज्ञान भाव से परिपूर्ण ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. ९९)

यांत्रिक व्यवहारों में भाव कुंठित तो रहे,
चक्रमाला में पूरा बंधकर मुक्ति वहाँ न मिले ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०८)

साक्षात्कार कर सको **(उस)** का इस जीवन में,
ऐसी प्रतीति से योगसाधना करें उर में ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १०३)

* *

साक्षीभाव

हमारे विचार, मनोभाव, रस, प्रवृत्ति, संबंध, व्यावहारिक क्षेत्र– ऐसे अनेक प्रसंगों में साक्षीभाव अर्थात् उसमें अलगपन तो रखना है

ही; परन्तु वह अलगपन में बिलकुल शुष्क अलिप्तता भी नहीं होनी चाहिए; क्योंकि हमारी साधना में हमारा रूपान्तर करने का ध्येय रखना है अथवा तो वे आवरण हैं और उससे पर होकर जिस स्थिति में हम सतत प्रेमभाव से, रस से स्थित रहते हुए कर सकें और तब भी जो कुछ किया करें वह, उन सभी स्थितियों के अनुरूप हो जाँय ऐसी स्थिति लानी है। साक्षीभाव के साथ और उसमें हमें उतने प्रमाण में रुचि लेनी चाहिए कि वे रस की स्निग्धता के कारण हम उसे अपने वेग में साथ लाने के लिए यत्न कर सकें। उनके साथ यदि indifferent—उपेक्षा भाव से बेदरकार—रहा करें, उन पर कुछ ध्यान न दें तो जो कुछ हुआ करेगा, फलित होगा और उसमें से जो गति जन्म लेगी वह हमें मदद करनेवाली नहीं होगी।

इसप्रकार हम जिस संबंध में, प्रसंग में आएँ उनमें लिप्त या मिल जाना या बह जाना तो होना ही नहीं चाहिए, पर उन सबके साथ इसतरह रुचि लेनी है कि जिससे वे सभी योग्यरूप से व्यवहार करें, बना करें और जिससे हमें सरलता रहे। अपने **जीव** स्वभाव को सूक्ष्मता से उलीचा न करें और निरीक्षण उन सभी का न हुआ करेगा, तो वह सभी उसकी पुरानी आदत के पट में बहा करेंगे और हमारा साक्षीभाव कहीं बह जाएगा और उसका भान भी नहीं जागेगा ऐसी पूरी संभावना है। साक्षीभाव के साथ विवेकवृत्ति भी रखनी ही है।

इसे एक साधारण नियम गिनकर हमें दूसरों के साथ व्यवहार करना है, पर वैसा व्यवहार करने पर आग्रहवृत्ति न आ जाय, ऐसी आसक्तिभरी रुचि न ली जाय कि जिसमें आग्रहवृत्ति से हम बहें, यह भी देखना होगा। आग्रहवृत्ति भी हो सकती है, रख सकते हैं—यदि इसके साथ ही हम तटस्थता रख सकते हों तो। आग्रह और अनाग्रह

या तटस्थता उसका संवाद, सुमेल कैसे होगा यह फिर दूसरा प्रश्न है। परन्तु वैसी तटस्थता के साथ की आग्रहवृत्ति में भी दूसरों के हित का ही प्रश्न मुख्यरूप से हम में होना चाहिए। इन सभी के साथ सन्तुलन भी रखना ही है।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २२२ से २२४)

* *

सच्चा सुख

(अनुष्टुप)

सुख को खोजने जो खोजे बाहर, न पाये,
सुख को अंतर में जो खोजे वे सुख पाये।

सुख दूसरों के किसी आधार पर न मिले,
सुख ऐसा मिले जो न लंबी देर तक टिके।

सुख की कल्पना जैसी हमारे अंतर में होगी,
सुख उस रीति से कभी कोई नहीं पा सके;
सुख का सारा आधार अपने ऊपर रहे,
पाये सुख अपने से वह सच्चा सुख पाये।

दूसरों के पास से जो भी सुख पाना चाहेगा,
किसी काल कभी भी वह सुख न पा सकेगा।

दूसरों से मिला जो, सुख वह भ्रांतिकारी है,
ऐसे सुख से दिलासा माने, वे जन मूढ़ हैं।

सच्चे सुख की गहरी मान्यता हमारी सभी,
–मिथ्या सारी, सही आधार पर वे रही नहीं;

सुख का मूल आधार तो अपने अंतर में,
अंतर में वृत्ति रख जो जीये सुख वे पाये ।

अपने मन से दुःखी अपने को मानते हैं,
दुःखी तो करनेवाला स्वयं बिन न कोई है ।

'जो भी होता जाता, उसका उद्‌भवस्थान वह,
—अपने में रहा है सारा' जानते ही सुख मिले ।

खाली निमित्त दूसरा हमारे जीवन में चढ़ा,
कर्म-निमित्त दूसरा जो अपने को ही जानें ।

जानकर जो ऐसा स्वयं को दूसरों को देखते समय,
वृत्ति-आवेग को रोके स्वयं को पहचाने सही ।

स्वयं को लगता हो जो उसी तरह सभी को,
-लगे ऐसा कोई कहीं कानून विश्व में न है ।

सुख जीवन का सच्चा किस ढंग कहीं बसा,
बेचारा मानव ने उसे जानने ना कुछ किया ।

बांझ-पुत्र की तरह सुख की कल्पना कर,
मानव टकराये क्या ! सुख की कामना कर ।

सुख की कामना का कहीं अंत दीखे नहीं,
एक आये दूसरी खड़ी हो तत्काल आप से ।

सदा काल टिके ऐसा सुख खोजे न मानव,
सुख की परछायीं में पड़ क्यों मरे मानव !

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ६८ से ७३)

सुख की परछायीं जैसा कुछ प्राप्त करे भले,
तृष्णा ऐसों की इससे मिटेगी नहीं कभी ।

छोटे-छोटे सुखों से जो संतुष्ट हुआ करते,
आनंद सुख का कैसा वे क्या पहचान सके ?

क्षणिक सुख-लोभ से मानव क्या सड़ा करे !
वहीं के वहीं वृत्त में गोल-गोल फिरा करे ।

किसी भी स्थिति में हो भले स्मरण वहाँ भी प्रभु का करे,
जीना प्रभु के लिए जो रखे, सुख प्राप्त करे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १२५-१२७)

* *

सुमेल

(अनुष्टुप)

विरोधाभासी प्रवृत्ति जीवन में तो मिला करे,
वहाँ सुमेल जो रखे, जीवन-प्रवाह में रहे ।

एक दूजे से भिन्न हो ऐसी प्रवृत्ति जीवन में,
सदा पैदा होती रहे, फिर भी वहाँ सुमेल है !

ऐसे सुमेल मूल प्रवृत्ति उर में उतारे,
-देखे जो, प्रवाह मोड़ सके वह जीवन-तत्त्व में।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १४७)

* *

होते होते प्रेम सभी अभेदता जीवन में,
—प्रेम से प्रेम में पूरी करे स्थित अनंत में ।

भिन्न-भिन्न भले लगे विश्व में सब किसी का,
सुमेल झरना सूक्ष्म किन्तु वहाँ हो क्या छिपा !

* *

यदि देखने हों दोष तो, स्वयं को नीरखा करो,
दोष सुधारो सारे तो अनुकूल सभी होंगे ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १६७)

* *

(गझल)

जगत के विसंवाद में जो रहा अंतर सुसंवाद,
उसे दिल पहचानकर, उस भाव से जीये, वैसे प्रभु पाये।

जीवन के एक पहलू में जीवन के सारे पहलू को,
—करने भाव सुमेल चाह रखे तो, प्रभु पाये ।

('प्रणाम-प्रलाप', आ. २, पृ. ४२-४३)

* *

(अनुष्टुप)

विसंवाद भले हो अंतर में सुमेल बहे कैसा !
यदि अकेला विसंवाद होता, वह ना टिका होता।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १०३)

* *

स्त्रीजीवन की महत्ता

बहनें सामान्य रूप से अपने आंतरिक स्वभाव से ही भावनाशील और श्रद्धा-विश्वास रखनेवाली होती हैं। अधिकतर स्त्रियाँ सहनशीलता में पुरुषों से चढ़ जाँय ऐसी हैं और वे सहन भी अधिक करती हैं। दैनिक व्यवहार में श्रद्धा रखकर बरतती हैं। उनका कार्यक्षेत्र ही श्रद्धा, विश्वास और समर्पण की नींव पर रहा है—भले उन्हें उसका ज्ञान न हो। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक संख्या में भले भक्त, ज्ञानी या तपस्वी के रूप में न हों और ख्याति में न आई हों; वे भले

ही आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुषों के तुलना में संख्या की दृष्टि से आगे न आयी हों, परन्तु ऐसे पुरुषों की माता तो वे ही हैं। माता में शक्ति और संस्कार थे तो उन पुरुषों में आये। यदि आध्यात्मिक भावना उनकी रगरग में न होती तो पुरुषों में वह आ न सकी होती। उनके जीवन में त्याग, श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, समर्पणशक्ति आदि दैवी उच्च गुण रहे हैं। उनका युगों युगों से एक ही संकुचित और मर्यादित कार्यक्षेत्र रहा होने से उनके वैसे गुण बाहर काम नहीं कर सके हैं। उसके अलावा उस समय के समाज की उनके विषयक समझ, भाव आदि बात में भी वैसा ही रहा है। स्त्रिओं में जो नैसर्गिक शक्ति और गुण हैं, उन्हें विकसित और खिलने का मौका, सुविधा, अनुकूलता, उत्तेजन, सहायता जो जो समाज उन्हें देता है, वहाँ ये गुण उनके अनेक गुना प्रमाण में शीघ्र बढ़ सकते हैं।

स्त्रियाँ किसी भी काल में संसारविरक्त दशा में पुरुषों से अधिक गुना या उतने प्रमाण में भी नहीं हो सकतीं; क्योंकि यह उसके जन्महेतु के क्षेत्र के बाहर का सत्य है। वे अपने क्षेत्र में उन्नत उत्तरोत्तर हुआ करेंगी और उसका विस्तार भी किया करेंगी—यदि उन्हें पर्याप्त सानुकूलताएँ दी जाँय तो यह सही; पर उनका बुनियादी सात्त्विक कार्य तो प्रजा की सत्त्वशुद्धि बनाये रखने में है, इतना ही नहीं पर उनमें समय के अनुसार तेजस्विता, प्राणत्व प्रदान करने का काम भी उसी का है। प्रजा की आत्मा का वह हृदय है। प्रजा के जीवन की जो कुछ शक्ति है, उसका मूल उसमें है। सारी प्रजा का निर्माण और व्यवस्था मुख्य रूप से उसके हाथ में है। उसमें दीखते रागद्वेष, संकुचितता, ममता ये सब उसका क्षेत्र एक तो संकड़ा और वातावरण ऐसा होता है और वहीं के वहीं असर में रहने से उसका मानस ऐसा होता रहता है। पुरुष थोड़े अधिक प्रमाण में अधिक विचारशील और

कम संकुचित मानसवाले जो लगते हैं, वह उनके कार्यक्षेत्र की विशालता को आभारी है और न कि ज्ञानशीलता के लिए है । बहनें संसार-व्यवहार में अनजानेपन में कितना त्याग कर रही हैं । उनमें हृदयतत्त्व अधिक विकसित होने से वे सही ढंग से आध्यात्मिक मार्ग के लिए अधिक योग्य और प्रमाण में शीघ्र प्रगति कर सकती हैं वैसा है, परन्तु वैसा नहीं हुआ । उसका कारण उस के क्षेत्र के बाहर नजर करने का मौका कम मिला है, उनकी दुनिया संकड़ी है और उनका कार्यक्षेत्र प्राधान्यरूप से संसार और जगत है । नवसर्जन की क्रिया फलित होने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, वे गुण प्रकृति ने स्त्री में रखे हैं । सृष्टि का पालन, पोषण भी इन्हीं गुणों को आभारी है ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ९८ से १०३)

* *

स्मृति

हमें होते अनुभव, संस्कारों को मन में बिठाने में और फिर जाग्रत करके एक अनुभव को या संस्कारों को दूसरे के साथ जोड़नेवाली स्मृति है । ऐसे अनुभवों की परम्परा से मानव जाति का विकास जो संभव हुआ है, उसमें स्मृति का बड़ा योगदान है । संस्कारों को संग्रह रखने की क्रिया में भी स्मृति अपरोक्ष रूप से मदद करती है । यद्यपि संस्कारों का संग्रह करने का काम सचमुच चित्त की ग्रहणशक्ति करती है । स्मृति उसे फिर जगाने का कार्य करती है । स्मृति साधक और बाधक सभी संस्कारों को प्राणवान कर सकती है, इसलिए साधक को कितनों को ही पुष्ट करना है और अन्य को रोकना है । हानिकारक संस्कारों को स्मृति की मदद से गहरे जाते रोकने अथवा पड़े संस्कारों को ताजा होने से रोकने की आदत मन को पड़ सकती है; मन को इसतरह की आदत करने में बहुत जाग्रत और कठिन साधना करनी

होती है । इसतरह की आदत भिन्न प्रकार के संस्कारों को जगाने की शक्ति पाना यह साधना का एक अंग है ।

साधारण मान्यतानुसार तो संत संसार में रहता हो तो भी जगत की ओर—'मायावी' दुनिया की ओर—बिलकुल बेफिकराई की वृत्ति रखनेवाला होना चाहिए । ऐसे विचार से जाने-अनजाने खिंचकर अनेक साधक ऐसी और उसके फलस्वरूप विस्मृति की वृत्ति रखते हैं । ऐसा करना हानिकारक है । यदि हम संत में भगवान की सर्वशक्तिमत्ता का तथा सर्वज्ञता का गुण आरोपित करते हों तो संत अपने जीवनपथ में आते प्रत्येक विषय में पूर्णत्व प्राप्त होना चाहिए । इसलिए जितना वह भगवान के रस में डूबा होगा उतना ही भगवान का आविर्भावरूप इस जगत के उससे संबंधित कार्यों में प्रवीण और सावधान होना चाहिए । इसतरह उसमें एकाग्रता और अनेकावधानता के गुण साथ-साथ होने चाहिए । साधक को भी इस दिशा में प्रयत्न करना है । जगत विषयक बेपरवाही और विस्मृति रखना, नहीं चलेगा । साधक के भूलने के स्वभाव से दूसरों को कष्ट हो या असुविधा हो तो वैसा कर्म उसे जरूर अवरोधरूप होगा । इससे सूक्ष्म दीखते, तुच्छ दीखते, 'स्थूल' दीखते कर्मों की ओर भी साधक में चौकन्नापन होना चाहिए । यह दृष्टि स्मृतिशक्ति की सहायता से मिल सकती है । फिर अपने मन की प्रत्येक क्रिया, भाव, विचार आदि विषय में स्मृतिशक्ति का उपयोग—योग्य उपयोग—करके उन सभी का योग्य रूपांतर करना होता है और सर्वश्रेष्ठ स्मृति अथवा साधक की स्मृति के विकास की अंतिम सीढ़ी तो अलबत्ता सतत - निरंतर - सदैव भगवद्स्मृति और भगवद्भाव में पड़े रहने का सहज स्वभाव ही है ।

अंत में, साधक को स्मृति रखने के लिए मेहनत नहीं करनी पड़ती । अपने आप किस समय क्या करना है, उसकी स्मृति अंतःकरण

में से ही स्फुरित होती है । ऐसे साधक को तो एक दृष्टि से देखें तो स्मृति का—अर्थात् योग्य समय में योग्य प्रकार की स्मृति का—स्वभाव ही हो जाता है । उसमें और अंतःस्फुरण में फिर कुछ अंतर नहीं रहता । पर वह तो साधक जब सर्वव्यापी चैतन्यशक्ति यानी कि भगवान का बहुत शुद्ध, रूपांतरित यंत्र हो जाय तब ।

इसतरह स्मृति साधन भी है और सिद्धि भी है । जब स्मृति भगवती चेतनास्वरूप होती है तब यह सिद्धि है । भगवान गीता में कहते हैं कि 'नारी स्वरूपों में (एक स्वरूप) मैं स्मृति हूँ ।', इसका अर्थ ऐसा कुछ होगा । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ३१५ से ३२२)

* *

श्रद्धा

श्रद्धा जीवनसाधना को आवश्यक पुरुषार्थ के अभ्यास में अवरोधरूप कठिनाइयों में हमें टिकाये रखती है, ध्रुव तारा की तरह हमारी दृष्टि के सामने रहकर हमें उचित दिशा सूचन करते हुए ध्येय से विमुख होते रोकती है; और अंत में हमारे सत्त्व को संपूर्णरूप से जाग्रत कर, उसे परिपूर्ण स्थिति प्राप्त कराकर, दिव्य ज्ञानज्योति के दर्शन करवाती है । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १२०)

* *

श्रद्धा होती है और बढ़ती जाती है, उसके भी लक्षण हैं । जितना भी किसी में हमने प्रवेश किया इससे दूसरी तरह से सोचने पर मन अटकेगा और उसका द्विधापन कम होता जाएगा, मन में निराशा या हार का कहीं स्थान नहीं रहेगा; 'पल में तोला पल में मासा' की स्थिति नहीं रहेगी । यह सब अनुभव हो तो समझना कि श्रद्धा अब दृढ़ रूप

से आगे बढ़ती जा रही है । बाकी श्रद्धा एकदम प्रारंभ में दृढ़ होती जाय यह कोई सरल नहीं है ।

* *

श्रद्धा से जीवन की वास्तविकता आती है, यह कोई नकारात्मक लक्षण नहीं है । जीवन में वह प्रेरणा और बल पैदा करती है । साधना पथ में श्रद्धा यह परम साधन है । श्रद्धा पाने के लिए भी मेहनत करनी पड़ती है । श्रद्धा ज्ञानात्मक रूप से होनी चाहिए । अंधश्रद्धा इस मार्ग में काम नहीं आती । श्रद्धा को दृढ़ होने के लिए नींव सुदृढ़ होनी चाहिए ।

* *

साधक की लक्ष्यवृत्ति द्विधारूप में काम करती रहेगी तो वह जीवनविकास के लिए खतरनाक है । बेहद और अथाह श्रम, तप प्रेमपूर्वक किये बिना परमभाव को प्राप्त करने की इच्छा रखना यह श्रद्धा का सच्चा स्वरूप नहीं है; यह तो जड़ श्रद्धा भी न कहलाएगी; यह तो मात्र शेखचिल्ली के विचार गिने जाएँगे । जिसकी श्रद्धा में प्राण न हो, ऐसे की श्रद्धा जीवनविकास के कर्म में काम नहीं लगती । हृदयपूर्वक की भावना से होते जाते पुरुषार्थ में समयानुसार समझ और अनुभव होने लगता है । ऐसी समझ और अनुभव की परम्परा से होती श्रद्धा के बल पर उसके जीवनध्येय में एक प्रकार का आत्मबल आता है और ऐसे आत्मबल के आधार पर अनुभव की श्रेष्ठता में प्रवेश कर, श्रद्धा को भाव में परिणित कराकर, ऐसे भाव से हृदय में तत्त्व को फिर पहचान सकते हैं ।

किसी पर की श्रद्धा अर्थात् उसके सर्व प्रकार के विचाररहित मूढ़पन से जो हुआ करे, यंत्र के जैसे जो हुआ करे, यह श्रद्धा नहीं

है, परन्तु यह तो जड़ताभरा अज्ञान है । इसे श्रद्धा नहीं कह सकते । श्रद्धा यानी तो अंतर् दृष्टि । अंध श्रद्धा से तो श्रद्धा न हो वैसी स्थिति अच्छी । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ९८ से ३५३)

* *

ज्ञानात्मक श्रद्धा कभी अंधी नहीं हो सकती । सच्ची श्रद्धा अंधी नहीं होती और अंधश्रद्धा यह सच्ची श्रद्धा नहीं ।

श्रद्धा के तीन प्रकार हैं— तामसिक, राजसिक और सात्त्विक । **आदर्श श्रद्धा इससे भी आगे की बात है ।** आदर्श श्रद्धा तो ऐसों को मिलने के साथ ही एक क्षण में ही दिल अपने आप उनमें लग जाय और फिर कभी उसके प्रति किसी प्रकार का संकल्पविकल्प न उठे; उसका नाम आदर्श श्रद्धा ।

साधना के क्षेत्र में जीवन के उद्देश्य को फलीभूत करने के लिए भावना का जो एकसमान अभ्यास हुआ करता है, इससे जो श्रद्धा एकनिष्ठा से शक्तिस्वरूप में प्रकटती है, यह सब कुछ एकदम अचानक नहीं हो जाता । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २९५)

* *

श्रद्धा-विश्वास, प्रभु में

(अनुष्टुप)

कौन बरसाता है बरसा को ? कौन ऋतुएँ
—लाया करे भिन्न भिन्न ? कौन सूर्य को उगाता ?
संध्या, उषा लाये कौन ? पक्षी को दाने कौन दे ?
चींटी को देता कौन । स्तन में दूध कौन भरे ?
वनस्पति उगाये व रोपे बीज कौन यहाँ ?
पक्षी ना करे चिंता; सभी अपने आप चलता ।

बहाये नदी को कौन ? चलाये कौन वायु को ?
तारे ऊँचे कौन रखे ? धरता कौन पृथ्वी को ?

प्रकृति का सारा कार्य करने कौन जाता है ?
नियंत्रित रहे विश्व सारा किस तरह से ?

अनंत काल से विश्व चला ही करता दीखे,
उसकी संभाल लेने को बैठा कोई तो होगा ।

प्रभु में सर्व आधार श्रद्धा, विश्वास जिंदे हैं,
–जिसमें उतरे होंगे गहरे वैसे सदा निर्भय रे' ।

हम अपने भाव से चाहकर रमा करें,
इसे ही महत्त्वपूर्ण कार्य सही गिना करें ।

विभक्त उल्टा होने से सावध उर से रहो,
स्थिर भाव टिके ऐसा आचरण किया करो ।

सर्वश्रेष्ठ प्रभु को जान के उन्हें महत्त्व दें,
हर कार्य में ही उसका बहुत ख्याल रखें ।

('जीवनपगले', आ. ३, पृ. ४-५)

* *

स्वप्न और स्वप्न में साधना

हम जब नींद में होते हैं, तब स्वप्न में हम वासना के बल पर अनेक ऐसे प्रसंग अनुभव करते हैं कि मानों उनका हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता हो ! तब हम सुनते हैं, देखते हैं, सूँधते हैं, चखते हैं, स्पर्श करते हैं, इतना ही नहीं परन्तु हाथ-पैर और दूसरी सारी कर्मेन्द्रियों का उपयोग भी करते होते हैं । ये सारी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ तब स्थूल रूप से तो मानो निश्चेष्ट होती हैं; परन्तु इन सारी इन्द्रियों के अंदर

रहा प्रकृति का जो स्वभाव है, वह उसमें से खिंचकर सूक्ष्मतम प्राणतत्त्व में निहित है और वे स्थूल पार्थिव इन्द्रियाँ तो नींद में ही होती हैं और नींद में होने पर दूसरी सभी इन्द्रियाँ और करण उसके सूक्ष्म स्वरूप हुआ करते हैं ।

साधारण रूप से तो इन सारी इन्द्रियों की वासना नींद के समय स्वप्न में, उनमें से स्थूलता निकल गयी होने से अधिक जोरदार बन जाती हैं और उन वासनाओं को भोगने में हम तदाकार हो जाते हैं; फल स्वरूप वासना अपने मूल गहरे डालती है । ऐसे समय में यदि हम जागृति रख सकें और इन्द्रियों की वासना में हिस्सा लेने में रुक जाँये तो साधना में बहुत मदद मिलती है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४६-१४७)

* *

हमारी दस इन्द्रियाँ, मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, भावना आदि सभी यों तो नींद में निश्चेष्ट पड़ी होने पर वे मानो अति सूक्ष्म से सूक्ष्म ऐसे प्राणतत्त्व में समा जाती हैं । पुनः जन्म लेते समय ये सारी उसके साथ जाती हैं या होती हैं और वे किस तरह से, उसे इस के द्वारा समझ सकते हैं ।

स्वप्न में जो जो अनुभव हो रहे हों उनमें से अलग होने के लिए 'यह सब मुझसे अलग हैं ।' ऐसी जागृति रहनी या रखनी चाहिए ।

हमारा मन यों तो सोता है— परन्तु वह सचमुच तो तब भी सूक्ष्म रूप से सक्रिय होता है— इसलिए ऐसा सोने से हम स्वप्न देखते हैं । स्वप्न के दौरान स्वप्न के भाग रूप मन कभी विचार कर जाता है वह फिर अलग बात है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४७)

सूक्ष्म हमेशा स्थूल से अधिक बलवान होता है, वेगवान भी होता है; जैसे पृथ्वी अर्थात् मिट्टी से पानी और स्थूल पानी से हवा अधिक

चेतनशील है वैसे । स्थूल जागृति की स्थिति में हम जो कभी न करते हों (क्योंकि आधार के करण तब चौकीदार रूप होते हैं) यह चीज हम स्वप्न में करते हैं । इससे हमारी सही परख अनेक बार स्वप्न में हो जाती है— यद्यपि इसे उनकी कसौटी नहीं गिन सकते, क्योंकि स्वप्न में मिलावट भी अधिक होती है । उसमें खिचड़ी जैसा और अंधाधुंध भी होता है ।

* *

स्वप्न की हमें खबर होती है, यह बता देता है कि जिन इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान तब आता है, उसके पीछे दिन के हिस्से में ज्ञान पानेवाली जो चेतना है वह तो तब सोयी होती है, पर दूसरी कोई ऐसी चेतना तब जागृत होती है कि जिससे हमें यह सारी समझ आती है । चेतना के तीन प्रकार हैं । ऊपर की, बीच की और अंत में अंतर की सतह की । हमें सतत कैसे स्वप्न आते हैं, उसके ऊपर से हम में किस प्रकार की चेतना काम कर रही है वह समझ आती है । दैनिक व्यवसाय या व्यवहार के स्वप्न यदि आते हों तो ये मात्र हमारी स्थूलता बताते हैं तथा इसके अलावा ये स्थूलता हम में उतरती जाती है, हम उसमें रुचि लेते हैं और उस वृत्ति में पड़ जाते हैं ऐसा बताती है । फिर, विषय के स्वप्न, लालसा, कीर्ति या ऐसे स्वप्न में हमारी वासना देह की है यानी कि वृत्तियाँ हमारे प्राण में गहरी बैठी हैं ऐसा ज्ञात होता है । फिर ऐसे स्वप्न बंद हो जाँय (जब कि बिलकुल जड़ मनुष्य को तो ऐसे स्वप्न नहीं आते) तो ऐसा भी जान सकते हैं कि हम अंतिम ऊपर की सतह पर की चेतना के स्तर से हम अलग पड़ते दिखाई देते हैं ।

हमें स्वप्न को पूरी तरह, ठोस रूप से, जैसे फेंकना नहीं है वैसे सर्वांश में, ठोस रूप से महत्त्व भी नहीं देना है; तब भी उनमें से दिशासूचन मिल सकता है सही ।

स्वप्न का पूरी तरह अर्थ हमें नहीं समझ आता, इसका कारण यह है कि उसके पीछे की जो चेतना से हमें ज्ञान होता है, उस चेतना की हमें समझ नहीं होती; और उसके पीछे रहे लगातार एकाध छोटा हिस्सा ही हमें दीखता है; इसलिए उसकी समग्र निरन्तरता की समझ किस तरह हो सकेगी ?

आधुनिक मानसशास्त्री बतलाते हैं कि स्वप्न के पीछे कुछ रचना समाहित है और उसका भी कारण है और उसमें अनेक बार तथ्यांश होता है, इसलिए हमें स्वप्नों को बेकार नहीं गिनना है, इसका अर्थ है कि रहस्य अपने आप सहजरूप से पाना समझ में न आये तो उसके पीछे सिर नहीं खपाना चाहिए ।

साधारणतः मनुष्य के अधिकतर स्वप्न मिलावटवाले और बिना भरोसे के होते हैं । किसी एक ही प्रकार के अमुक ही विषय के स्वप्न आते हों तो उस प्रकार के स्वप्न से बिलकुल अलग प्रकार के गिने जाएँगे । उस मनुष्य का मन उनमें एक प्रकार से पिरोये होना समझा जा सकता है ।

स्वप्न द्वारा अनेक को कुछ-कुछ हल और सूझ मिल जाती हैं । स्वप्न कितनी ही बार सांकेतिक भी होते हैं ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. २२१-२२-२३)

* *

साधना दशा की जाग्रत स्थिति में हम में व्याप्त सात्त्विक गुण; जैसे कि विवेक, ताटस्थ्य, शांति, समता, प्रसन्नता, निराग्रहीपन, अक्षुब्धता

आदि जब स्वप्न में भी ऐसे जीवंत और उपयोग आ सकें ऐसे हों, तभी वैसे गुण शक्तिस्वरूप बनकर हमारे आधार में जीवंत बन गये होते हैं ऐसा जानना । फिर भी स्वप्न में जो-जो वृत्तियाँ भोगने की हों वे स्वप्नसंस्कार दिन की जाग्रत-प्रवृत्त दशा के कर्म संस्कार से अधिक बंधनकर्ता हैं । स्वप्न में चेतनायुक्त जागृति होनी और तब तटस्थता बनाये रखना यह साधना की सबसे ऊँची कक्षा गिनी जाएगी । ('जीवनपोकार', आ. ३४ पृ. १०४)

* *

कितने ही **जीवों** को स्वप्न के समय स्वयं को स्वप्न आया है ऐसा ख्याल जगता है सही, पर इससे कोई वे स्वप्न के साथ सक्रिय नहीं हैं ऐसा नहीं गिना जाएगा । वृत्ति, विचार आदि को वे तब भोगते हैं और उनमें पूरा एकरस हुए होते हैं ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १०५)

* *

जो जीव उत्कटता और निरन्तर प्रचंड वेग से साधना में लगा है, ऐसे को साधना में आगे बढ़ते-बढ़ते ऐसे स्वप्नों के प्रकार **जीव** दशावाले के स्वप्न के प्रकार से बिलकुल भिन्न प्रकार के हो जाते हैं; तथा जीवन और साधना की भिन्न-भिन्न कक्षाओं में स्वप्न के प्रकार भी नये ढंग से बदलते रहते हैं ।

कितने ही साधकों को उनके सद्गुरु की ओर से स्वप्न द्वारा भी अनुभव और जानने को मिल सकता है । सूक्ष्म दोषों को तीव्रतम भान तब जाग सकता है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १०५, १०६)

* *

स्वप्न में जो कुछ होता है, विचार आते हैं या कभी किसी के दर्शन हों उस पर अधिक आधार नहीं रखना है या फूल जाने की भी जरूरत नहीं है। इस यथार्थ को बहुत अधिक महत्त्व देनेवाले भी **जीव** होते हैं; पर उन्हें भ्रमणा में पड़े जानें। सचमुच में जो हमें करना है, उसे किया करेंगे और उसमें यदि अपना दिल लगा सकेंगे तो अंत में तो ऐसी स्थिति आएगी कि जिसमें स्वप्न का स्थान ही नहीं। ऐसी स्थिति में स्वप्न नहीं आ सकते।

'स्वप्न में अमुक 'दर्शन' हुए और ऐसा हुआ और वैसा हुआ'— इस तरह खुश होते हुए अनेक **जीव** को देखा है। 'स्वप्न में सद्गुरु पर प्रेम उभरा' ऐसे भी कहनेवाले सुने हैं। पर, अरे ! जाग्रत अवस्था में तो उनकी मदद लेने को दिल की उमंग तुम्हें पूरी तरह पैदा नहीं हुई है फिर तुम स्वप्न की क्यों बात करते हो ?

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २५१)

* *

जैसे दिन की जाग्रत-प्रवृत्त दशा में हमें उठते विचारों की आसक्ति में हम नहीं रहते और उसके फलस्वरूप उठते हुए विचार में अपना मन न पिरोयें और रस लेना बंद हो, तो ही ध्यान में उठते प्रत्येक विचार के साथ उसके आनुषांगिक दूसरे विचारों को संलग्न होते रोक सकते हैं; ऐसा ही नींद में स्वप्न विषयक है। साधक जैसे-जैसे दिन की प्रवृत्त दशा में निरासक्त होता जाता है, निराग्रही बनता जाता है, वैसे-वैसे उसके विचारों की कड़ी जुड़नी बंद होती जाती है। जो संपूर्ण निरासक्त हो जाता है, उसे विचार कर करके कर्म में प्रवेश करना नहीं होता है। तब भी उसमें प्रारब्ध रहा होता है। ऐसा उच्चात्मा साधक चित्त में पड़े हुए प्रारब्ध के संस्कारों को स्वप्न में भी स्फुरित करके अथवा

ये संस्कार अपने स्वभाव अनुसार स्वप्न में उठें, तब स्वप्न में भी उसके प्रति जाग्रतरूप से तटस्थ रहकर, उसमें रुचि न लेकर, उन संस्कारों को अपनेआप पूरा कर उनके पट अनुसार आकार लेते रोकता हैं । उसी तरह अपने आप स्वप्न में जो संस्कार उठते हैं, उनका भाव या तरंग में स्वयं जागृतिभरा तटस्थभाव रखा करता होने से, वे संस्कार उसमें नये कर्मबंधन खड़े नहीं करते हैं । इस प्रकार जब जब विचार या संस्कार हमें स्पर्श किये बिना अपने आप बह जाते हैं, तब तब हम उतने प्रमाण में खाली होते जाएँगे । उपरोक्त स्थिति का साधक इस तरह चित्त में पड़े सभी संस्कारों को खाली कर डालते हैं । अपने प्रारब्ध को भोगने का यह भी एक रास्ता है; पर यह एक ही रास्ता है ऐसा न मानें ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ७९)

* *

जिसने जीवन में साधना की शुरुआत की है, ऐसे साधक द्वारा नींद में उठते संस्कारों में अपना मन न जाय ऐसी हृदय की जागृति नहीं रख पाते । इससे साधक दिन के सारे व्यवहार में कर्म करते रहने पर भी यदि उसमें आसक्ति रखे बिना शामिल न होने का चेतनायुक्त जागृतिभरा प्रयास किया करेगा तो उसमें जितने अंश में सफल होगा, उतने अंश में रात को नींद के स्वप्नों में तथा उस समय के संस्कारों में अलग रह सकने को वह समर्थ होता जाएगा । फिर नींद की आवश्यकता शरीर को है । 'प्राण' अथवा तो ऐसा जो सूक्ष्म तत्त्व अंदर रहा है और जिसे हम कर्म का प्रेरक तत्त्व कहते हैं, वह तो सोता नहीं है । इसलिए नींद में हम सचेतन रहे ऐसी नींद की स्थिति होनी साधक के लिए जरूरी है । इसके लिए साधक सोने से पहले और दिन के दौरान भी खूब उत्कट आतुरतापूर्वक हृदय की गहराई से प्रेरित होकर

एकभाव से प्रार्थना करेगा । यों तो प्रत्येक कर्म के अंतर में उसके हृदय का प्रार्थनाभाव आगे जाकर प्रत्यक्ष जीवंत होता जाएगा । ऐसा होने से साधक कर्म के नये बंधन से उभर जाने की संभावना रहती है ।
('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ८०-८१)

* *

स्वप्न में साधना

(अनुष्टुप)

नींद में स्वयं का भान रहे नहीं हमें वहाँ,
-तब भी करते रहते हैं कर्म अनजाने वहाँ ।

भोगते भोग स्वप्न में वहाँ जो रस लिया करो,
जाग्रत स्थिति का भोग उससे हलका सही ।

स्थल व काल की मर्यादा स्वप्न की सृष्टि में घटे,
दशा जाग्रत में दोनों, इससे विक्षेप पड़े ।

इससे नींद में दिल से जो सतर्क रहे,
साक्षीभाव उर में रख अलिप्तता विकसाये ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. १४६)

* *

स्वप्न में विकार निवारण हेतु सोते समय की प्रार्थना

स्वप्न विषयक विकारों की सूक्ष्मता हैरान करती मुझे,
निवारण कर प्रभु ! उसे दिव्य रूप कर दो उर में ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११)

॥ हरिः ॐ ॥

स्मरणभावना

(हरिगीत)

प्रिय नाम को उर में स्मरण करेंगे हम बहुत प्रेम से,
प्रिय नाम को उर में स्मरण करेंगे हम बहुत रीति से;
प्रिय नाम को उर में स्मरण करेंगे हम बहुत सावधानी से,
तुझ नाम का प्रभु तंतु जरा भी छोड़ेंगे हरगिज नहीं.....१

जीवन के अतिशय कठिन दारुण आँधी-तूफान में,
कि कोई दिशा सूझे नहीं ऐसा जीवन अंधकारमय;
जीवन में चढ़ाव औ' उतार आते पल-पल सदा,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में.....२

संसार के कर्तव्य में, व्यवहारिओं के साथ में,
सभी काम में, खाते, पीते, उठते और फिर बोलते;
जो कुछ भी करते, सभी के साथ व्यवहार सदा,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में.....३

कठिनाई में अवरोध हमें और उपाधि में जगे,
झगड़े और क्लेश में, दिल में होते सारे दर्द में;
दिल की परेशानियों में और आ पड़ी उलझनों में,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में.....४

मन के विचारों में और मन की सारी वृत्तियों में,
मन वासना में, पाप में, चित के सभी संस्कारों में;
मन के खेल एवं मजाक में, मन के रमण एवं भाव में,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में.....५

हमारे शरीर की होती क्रिया में, इन्द्रियों के विषय में,
हमारे शरीर के रोम-रोम में, हृदय के रक्त में;
रग-रग में, नख-शिख में और शरीर के नवद्वार में,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में.....६

खट्टे मीठे सभी स्वाद में, मीठी-मीठी सभी सुगंध में,
उर चेतना में, बुद्धि में, चित्त प्रेरणा में, प्राण में;
हमारे लगाव में, भावना में, प्रेम में, रस में सभी,
तुझ नाम का प्रिय स्मरण वह साथी रहे मन-हृदय में.....७

आधार सभी निज का सदा मानकर जो धरता,
माँ को अतिशय प्यार से जैसे बाल पुकारता;
बिछड़ता हुआ माँ से हरपल करे क्या विलाप !
उस तरह तुझ नाम प्रभु ! तुम्हारा स्मरण हो तान में.....८

जीवन के सारे भंग में, जीवन के सभी रंग में,
जीवन के ये अटपटे आड़े खड़े सारे तार में;
मेरी कैसी भी भले ही हो सर्व जीवन-भाँति में,
रसीला बनाया वहाँ करो प्रिय नाम तुम्हारे भाव में.....९

संबंधिओं व स्वजन की सभी बात में व चित्त में,
संसार के व्यवहार में तथा जो होते सभी कार्य में;
पत्नी और परिवार में भले पिरोये हुए हों,
उस-उस दशा में प्रभु ! तुझ नाम प्रिय हृदय में बसे.....१०

प्रिय नाम-सूर्य उदय से टलता जीवन-अंधेरा सभी,
ऐसी कृपा से जीवन में हम को फलाना-फूलाना;
चाहना हमें लगे तुम्हारे दिव्य जो प्रिय नाम की,
प्रगट रहो हमारे जीवन में उस छाया रूप तुझ प्रेम की.....११

सारे जीवन-पट के ताने और बाने मिले हुए,
भिगे हुए हों रगरग तुझ प्रेम से रंगे हुए;
तुझ नाम के प्रिय स्मरण के ठोंक से सदा ढुके हुए,
ऐसा प्रभु-पद हो समर्पित यह जीवन, हो तुझ कृपा.....१२

तुझ नाम की महिमा कई ऋषि, भक्त, कवि ने कहें,
मैं तो बेचारा दीन मैं क्या कह कहकर कहूं;
जैसे सूर्य के आगे जुगनू, समुद्र के पास गड्ढा,
हीरा के सामने काँच ऐसा निपट मैं नादान हूं.....१३

('श्रीगंगाचरणे', आ. १, पृ. २९ से ३२)

साधना-मर्म

(१) मुख से या मन में जागृत रूप से जप, साथ ही हृदय प्रदेश पर ध्यान तथा चेतना चिंतन के साथ भावात्मक भाव का रटन ।

(२) प्रत्येक क्षण में सतत समर्पण, अच्छे तथा बुरे दोनों का ।

(३) साक्षीभाव, जागृति, विचारों की शृंखला न जोड़ें ।

(४) हो सके उतना अधिक वाचिक और मानसिक मौन रखें । अभ्यस्त हो, अत्यधिक शरणभाव से जीवन में चेतनापूर्वक जागृति व्यवस्थित करें ।

(५) आग्रह - प्रभु चिंतन के अलावा सभी आग्रहों को छोड़ें; नम्रता रखें, शून्य होने का ध्येय रखें ।

(६) बहुत भावपूर्ण हृदयस्थ हो आर्द्र और आर्तभाव से प्रार्थना करें । भगवान को सभी सुख-दुःख बतलाते रहें; उनके साथ आत्मनिवेदन द्वारा बहुत गहरा व्यक्तिगत संबंध स्थापित करें; मन में कुछ भी विचार न आने दें । रिक्त रहें ।

(७) जो भी कार्य करें, प्रभु का है समझकर करें; जरा भी संकोच किये बिना उसे बहुत प्रेमपूर्वक करें, प्रत्येक प्रसंग-घटना हमारे कल्याण के लिए ही है और प्रत्येक प्रवृत्ति हमारे अपने ही विकास के लिए होनी चाहिए, प्रत्येक प्रसंग के पीछे प्रभु का गूढ़, शुभ संकेत छिपा है ।

(८) आत्मलक्षी–अंतर्मुखी बनें, मात्र अपनी दुनिया में रहें । जान बूझकर अपने आपको न उलझने दें ।

(९) अन्य (दूसरों) की सेवा प्रभुसेवा समझें; सेवा लेनेवाले सेवा देनेवाले पर सेवा का अवसर देकर उपकार करते हैं । राम ने दिया है और राम को दे रहे हैं, वहाँ 'मेरा मेरा' कहाँ रहा ? तुम्हारा इस जगत में है क्या ?

(१०) प्रत्येक कर्म, प्रत्येक बातचीत, व्यवहार हमारे ध्येय को गति दे ऐसे उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर करें । पढ़ते-लिखते समय और प्रत्येक कर्म करते समय भाव की स्मरणधारणाओं का अभ्यास करते रहें ।

(११) वृत्ति का मूल खोजें, उसका पृथक्करण करें । उसमें खोये बिना, उसका तटस्थतापूर्वक और स्वस्थतापूर्वक निरीक्षण करें ।

(१२) प्रभु की प्रत्येक कला, सौन्दर्य, रमणीयता, विशुद्धता आदि प्रभु के वरदानों में रहे भाव का, उसके उसके अनुरूप भाव, तब हम में प्रकट हो, ऐसी प्रार्थना करें ।

(१३) उमंग, आवेश और प्रेमभाव को ऐसे ही न जाने दें; साथ ही उसमें डूब भी न जाएँ। उसका साधना में उपयोग करें; तटस्थता बनाए रखें।

(१४) खाते हुए और पानी पीते हुए जीवन में चेतनशक्ति के अवतरण-भाव की प्रार्थना करें; शौच, पेशाब आदि क्रियाओं के समय विकारों, कमजोरियों आदि का विसर्जन भाव से प्रार्थना करें।

(१५) स्थूलता को त्यागकर, सूक्ष्म तत्त्व को ध्यान में रखें। वृत्ति की शुद्धि करें, भाव की वृद्धि करें।

(१६) प्रभु सचराचर हैं। आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना रखें।

(१७) प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के उज्ज्वल पक्ष को ही देखें। किसी के भी काजी न बनें; किसी को भी जल्दी से अभिप्राय न दें; वाद-विवाद न करें; अपना आग्रह न रखें; दूसरों में शुभ हेतुओं का आरोपण करें; मानसिक और सार्वत्रिक उदारता जीवन में प्रकट करें; अत्यधिक प्रेमभाव बनाए रखें; प्रकृति का रूपान्तर करना है, उसे लक्ष्य में रखकर प्रकृतिवश होनेवाले कर्मों को वश न हो कर आगे बढ़ें; फल की आसक्ति त्यागें; स्वयं पर होते अन्यायों—आ पड़ते दुःखों—आदि का मूल हम में ही है, इसे दृढ़तापूर्वक मानें। गुरु में प्रेमभक्तिभाव दृढ़ बनाये रखें; तटस्थता, समता और समर्पण के त्रिवेणी संगम को नित्य बनाए रखें। सदा प्रसन्नता बनाए रखें; कृपा और पुरुषार्थ के युगल को जीवन में उतारें; प्रत्येक कर्म के आदि, मध्य और अंत में प्रभु की स्मृति बनाए रखें; मन को निःस्पंद करें; राग-द्वेष निर्मूल करने की जागृति सतत रखें; आध्यात्मिक अनुभवों को नित्य के व्यावहारिक जीवन में आचरण में लायें; कहीं भी किसी भी दायित्व से भागें नहीं; जो भी प्रभुइच्छा से प्राप्त हो, उसे प्रभुप्रसाद समझ प्रसन्नता से ग्रहण करें। कहीं भी किसी से तुलना न करें; अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, यह मन का भ्रम है; जीवन साधना के लिए सब कुछ सानुकूल ही होता है; प्रभुमय-उनके मूक यंत्र-होने की एक तमन्ना ही जीवन में बनाए रखें।

(१८) कर्म में, कर्म का महत्त्व नहीं है, किन्तु जीवन के भाव का सतत एक समान सजग चिंतन रहा करे, यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। ऐसा सजग अध्ययन कर्म करते हुए क्षणों में बनाए रखें।

— श्रीमोटा

॥ हरिः ॐ ॥

आरती

ॐ शरणचरण लीजिए, प्रभु शरणचरण लीजिए
पतित को उबार लीजिए (२) कर पकड़ हृदय लगा लीजिए...
ॐ शरणचरण.

मन-वाणी के भाव आचरण में उतरें प्रभु (२)
मन, वाणी और दिल को (२) कृपा कर एक करें...ॐ शरणचरण.

सभी स्वजनों के साथ, दिल में सद्भाव जगें, प्रभु (२)
भले अपमान हुए हो (२) तब भी भाव बढ़े...ॐ शरणचरण.

हीन प्रकार की वृत्ति; ऊर्ध्वगमन करें, प्रभु (२)
प्रभुकृपा से मथन करावें (२) चरणशरण पाने...ॐ शरणचरण.

मन के सकल विकार, प्राणयुक्त वृत्ति, प्रभु (२)
बुद्धि की सभी शंकाएँ (२) चरणकमल में द्रवित हो...ॐ शरणचरण.

जैसे भी हो प्रभु, वैसे ही दीखें, प्रभु (२)
मति मेरी खुली रहे (२) स्पष्ट ही परखें...ॐ शरणचरण.

दिल में कुछ भरा हो, उससे सब उल्टा, प्रभु (२)
मुझसे कभी न हो (२) ऐसी मति दें...ॐ शरणचरण.

जहाँ-जहाँ गुण और भाव, वहीं दिल मेरा टिके, प्रभु (२)
गुण और भाव की भक्ति (२) मेरे दिल में संचरित करें...ॐ शरणचरण.

मन, मति, प्राण प्रभु । तुम्हारे भाव में तल्लीन रहे, प्रभु (२)
दिल में तुम्हारी भक्ति में (२) उमंगें-तरंगें तरंगित करें...ॐ शरणचरण.

— मोटा

॥ हरिः ॐ ॥

पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय

जन्म : ता. ४-९-१८९८ भाद्रपद कृष्ण, चतुर्थी, संवत १९५४
स्थान : सावली, ज़िला वडोदरा (गुजरात), नाम : चूनीलाल
माता : श्रीमती सूरजबा, पिता : श्री आशाराम, जाति : भावसार

१९१६ : पिता की मृत्यु।

१९०५ से १९१८ : टुकड़ों में पढ़ाई के साथ कठिन मजदूरी।

१९१९ : मैट्रिक उत्तीर्ण।

१९१९-२० : वडोदरा कॉलेज में।

दि. ६-४-१९२१ : कालिज का त्याग।

१९२१ : गुजरात विद्यापीठ

१९२१ : विद्यापीठ का त्याग। हरिजन सेवा का आरंभ।

१९२२ : मिरगी की बीमारी से तंग आकर गरुड़ेश्वर की चट्टान से आत्महत्या का प्रयास, दैवी रक्षा; 'हरिः ॐ' जप से रोग मिटाने का सफल प्रयोग।

१९२३ : 'तुज चरणे' तथा 'मनने' की रचना।

१९२३ : वसंतपंचमी को पूज्य श्रीबालयोगीजी द्वारा दीक्षा। श्रीसद्गुरु केशवानंद धूणीवाले दादा के दर्शन के लिए सांईखेड़ा गए। रात्रि को स्मशान में साधना और दिनभर प्रभुप्रीत्यर्थ हरिजन सेवा।

१९२६ : विवाह - हस्तमिलाप के अवसर पर समाधि का अनुभव।

१९२७ : हरिजन आश्रम, बोदाल में सर्पदंश - परिणामस्वरूप 'हरिः ॐ' जप अखंड हुआ।

१९२८ : 'तुज चरणे' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन।

१९२८ : प्रथम हिमालय-यात्रा।

१९२८ : साकोरी के पूज्य श्रीउपासनीबाबा का नडियाद में आगमन, उनके आदेश पर साकोरी गये, वहाँ मलमूत्र के बिस्तर में सात दिन।

१९३० : मन की नीरवता का साक्षात्कार।

१९३० से ३२ : इस दौरान साबरमती, विसापुर, नासिक और यरवडा जेल में। उद्देश्य देशसेवा का नहीं, साधना का। कठोर परिश्रम और लाठीचार्ज के दौरान प्रभुस्मरण-मौन। विद्यार्थियों को समझाने के लिए विसापुर जेल में सरल गुजराती भाषा में श्रीमद् भगवद्गीता को लिखा-'जीवन गीता'।

१९३४ : सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार।

१९३४ से १९३९ : इस दौरान हिमालय में अघोरीबाबा के पास जाना हुआ। धुंआँधार के झरने के पीछे की गुफा में साधना। चैत्र मास में २१ उपलों की ६३ धुनियाँ प्रज्वलित कीं, नर्मदा किनारे खुले में शिला पर नग्न बैठकर साधना; शिरडी के सांईबाबा के प्रत्यक्ष दर्शन–आदेश–साधना के अंतिम चरण का मार्गदर्शन।

१९३९ : दि. २९-३-३९ : रामनवमी संवत १९९५ काशी में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार। हरिजन सेवक संघ से त्यागपत्र। 'मनने' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन।

१९४० : दि. ४-९-४० : हवाई मार्ग से अहमदाबाद से करांची जाने का गूढ़ आदेश।

१९४१ : माता का देहावसान।

१९४२ : हरिजन सेवक संघ से अलग होने पर भी हरिजन कन्या छात्रालय के लिए मुंबई में चन्दा इकट्ठा किया। दो बार सख्त पुलिसमार देहातीत अवस्था के प्रमाण।

१९४३ : २४, फरवरी में गाँधीजी के पेशाब के जहरीले जन्तुओं का अपने पेशाब में दर्शन। नैमित्तिक तादात्म्य का अनुभव।

१९४५ : हिमालय की यात्रा - अद्‌भुत अनुभव।

१९४६ : हरिजन आश्रम, अहमदाबाद मीरा कुटीर में मौन एकांत का आरंभ।

१९५० : दक्षिण भारत के कुंभकोणम् में कावेरी नदी के किनारे हरि:ॐ आश्रम की स्थापना। (१९७६ में देहत्याग के बाद आश्रम बंद कर दिया गया।)

१९५४ : सूरत के कुरुक्षेत्र जहाँगीरपुरा के स्मशान में एक कमरे में मौन एकांत का आरंभ।

१९५५ : दि. २८-५-५५ : नडियाद, शेढी नदी के किनारे हरि:ॐ आश्रम की स्थापना।

१९५६ : दि. २३-४-५६ सूरत जहाँगीरपुरा कुरुक्षेत्र में हरि:ॐ आश्रम की स्थापना॥

१९६२ से १९७५ : शरीर के अनेक रोग-लगातार प्रवास के साथ ३६ आध्यात्मिक अनुभव ग्रन्थों का लेखन-प्रकाशन।

१९७६ : फाजलपुर, मही नदी के किनारे श्री रमणभाई अमीन के फार्म हाउस में दि. २३-७-७६ को मात्र छः व्यक्तियों की उपस्थिति में आनंदपूर्वक देहत्याग। स्वयं के लिए 'ईंट चूने का स्मारक न बनाने का आदेश' और इस निमित्त प्राप्त राशि का उपयोग गुजरात के दूरदराज पिछड़े गाँवों में प्राथमिक पाठशाला के कमरे बनवाने में उपयोग करने की सूचना।

॥ हरि:ॐ ॥

विषय-सूचि

अनुभव कब हो; उसका लाभ कैसे उठाएँ ? २६५
अभिप्राय शीघ्र न बना लें (काव्य) २६७
अश्रु (हृदय के) (काव्य) २६९
ऐक्य, हार्दिक (काव्य) २७०
अहम् (काव्य) २७१
आघात और प्रत्याघात २७२
आघातों की आवश्यकता साधना में २७६
आत्मनिवेदन २७९
आहार २८०
एक और शून्य (काव्य) २८१
एकाश्रय साधना में २८२
ईश्वर सारा कुछ करवाते हैं; सब ईश्वराधीन है २८३
ईश्वर ही सब संभालते हैं ? २८९
उदार मानस २८९
भाव का सदुपयोग २९१
नींद- निद्रा २९२
कर्म साधना के मुद्दे २९५
कर्म-महिमा (काव्य) २९६
कर्म साधना २९९
कर्म-साधना (काव्य) ३००
कर्म में अच्छा-बुरापन ३०३
हीत, अच्छा-बुरा (काव्य) ३०४
कैसा भी हो भले क्षेत्र (काव्य) ३०५
कसौटी की महिमा ३०६
कसौटी ३०७
काव्य, आत्मा का कथन (काव्य) ३०७
नामस्मरण (काव्य) ३०८
श्रीगंगाचरण में (चेतन को उद्देशित द्विअर्थी श्लोक) ३०९
गुण, तमस-रजस-सत्व की समझ ३११
गुण-विकास की सरल पद्धति ३१५
गुणों का खेल (काव्य) ३१६
गुरु की आवश्यकता ३१७
गुरु (सूक्ष्म-भावरूप में) काव्य ३१८
गुरु-माहात्म्य ३१९
सद्‌गुरु की परख ३२०
गुरु का साधक के साथ व्यवहार (काव्य) ३२१
गुरु द्वारा साधक का जीवन-निर्माण ३२६
शिल्पी-छेनी जैसा प्रेम (काव्य) ३३२
संवादी गूढ़ तत्व ३३३
गुरु के प्रति साधक और श्रेयार्थी का धर्म ३३९
गुरु और साधक (काव्य) ३४०
चमत्कार ३४४
चमत्कार (काव्य) ३४५
चैतन्य, कर्मों के मूल में (काव्य) ३४५
जप, नामस्मरण रूठरुप से लेने पर भी कुछ तो फलीभूत होगे ३४७
जन्म-मृत्यु के रास (काव्य) ३५२
प्रकृति में प्रछन्न प्रभु (काव्य) ३५३
जीवन के ये फरिस्ते (काव्य) ३५३
तथापि जीवन नहीं वहाँ भी (काव्य) ३५४
जीवन-सौदा (काव्य) ३५५
जीवन-व्याप्ति प्रभु में है (काव्य) ३५६
जीवन-सिद्धि (यौवन में) (काव्य) ३५८
ज्ञानेन्द्रियाँ और आसक्ति ३५९
ज्ञानी और अज्ञानी के जीवन-स्वीकार और कर्म के बीच का अंतर (काव्य) ३६१
बेहद का आनंद (काव्य) ३६१
ज्ञान, भक्ति, ध्यानयोग में सम्बन्ध (काव्य) ३६२

आतुरता की अग्नि (काव्य) ३६३
तमन्ना और संजोग शृंखला (काव्य) ३६४
ताटस्थ्य (काव्य) ३६५
तीर्थ, यात्रा दर्शन के लाभ तथा आध्यात्मिक आश्रमों की यात्रा ३६७
त्याग और भोग ३७०
त्राटक ३७१
दंभ ३७५
दान ३७६
दिलदार के दर्शन (काव्य) ३७७
दुःख, जीवनदाता (काव्य) ३७८
दोषों का भान, स्वीकार और वेदना ३७९
स्व-दोष निरीक्षण (काव्य) ३८१
ध्यान ३८३
नाम-स्मरण (काव्य) ३८८
तुझ को नमन मेरा (काव्य) ३९०
स्मरण-साथी (काव्य) ३९०
निराशा, विषाद, साधना-पथ में ३९१
पत्रव्यवहार, साधनरूप ३९४
परिस्थिति-प्रसंग ३९६
पूजा-अर्चन-आचार ३९७
पुरुषार्थ और कृपा ३९८
पुरुषार्थ (काव्य) ४०१
आराम से न मिले राम (काव्य) ४०३
प्रकृति की चालबाजी, छिपे वेश में (काव्य) ४०४
प्रकृतिजन्य प्रवाह ४०६
मानव-प्रकृति (काव्य) ४०७
प्रसंग (काव्य) ४०८
प्रार्थना ४१०
प्रार्थनाभाव से प्रवृत्तियाँ ४१२
भोजन-प्रार्थना ४१३
प्रारब्धवाद और पुरुषार्थ ४१३
प्रारब्ध और आत्मशक्ति (काव्य) ४१५
आज और कल (काव्य) ४१६
प्रेम ४१७
प्रेम, जीवन-साधना (काव्य) ४२०
प्रेम-समर्पण (काव्य) ४२३
द्वन्द्वातीत प्रेम (काव्य) ४२४
प्रेम-संबंध किस के साथ (काव्य) ४२५
गूढ़ता (काव्य) ४२८
प्रेरणा (काव्य) ४३०
आत्मनिष्ठ (काव्य) ४३०
फना होना (काव्य) ४३१
सभी उसका बाकी है (काव्य) ४३२
बहनों के साथ व्यवहार ४३३
बहनों के चरणों में (काव्य) ४३६
बुद्धि ४३८
बुद्धि (काव्य) ४४१
भगवान के दर्शन, अनुभव और साक्षात्कार अर्थात् क्या ? ४४२
साक्षात्कार यानी क्या ? यह तुम्हारा प्रश्न ठीक है । ४४४
भगवद्भाव जन्मे जब को जानना काव्य ४४५
भगवान का भाव प्रत्यक्ष होने का प्रारंभिक अनुभव ४४९
भाव का महत्त्व (काव्य) ४५०
भाव-सर्वस्व (काव्य) ४५२
स्वजन-भाव (काव्य) ४५३
साधना में भूलें ४५५
सुख-दुःख की उत्पत्ति-मन (काव्य) ४५६
माया के खेल के अंतर में प्रभु (काव्य) ४५८
मांगल्य प्रेम (काव्य) ४६१
प्रेम की अनंतता (काव्य) ४६२
मुक्तात्मा- उसके दुर्गम-गूढ़ व्यवहार ४६३
मुक्त का अंतरंग स्वभाव (काव्य) ४७३
मोह (काव्य) ४७८

युद्ध की अनिवार्यता ४७९
युद्ध अनिवार्य (काव्य) ४८०
विवाह-भावना का उद्देश्य ४८२
नवदंपति को (काव्य) ४८५
बहनों के प्रति (काव्य) ४८६
लक्ष्मी (धन) विषयक दृष्टि ४८७
वातावरण की असर ४८९
वाणी का संयम ४९१
विघ्न-कठिनाइयाँ ४९२
विघ्न (काव्य) ४९३
विचार ४९३
विवेकशक्ति ४९५
विश्व में अलिप्त विश्वेश्वर (काव्य) ४९६
वैराग्य और संन्यस्त ४९८
वृत्तियाँ ५००
वृत्ति का उपयोग (काव्य) ५०१
व्यक्त-अव्यक्त (काव्य) ५०२
व्यष्टि में समष्टि का हल ५०३
शक्ति के खिलौने (काव्य) ५०५
शरीर का महत्त्व ५०७
मानवदेह (काव्य) ५०७
श्रेष्ठ मानव योनि एवं प्रभुकृपा (काव्य) ५०९
शरणभाव ५१०
श्रेष्ठ खलासी के भरोसे (काव्य) ५१२
सच्चा शरणभाव (काव्य) ५१२
शंका ५१३
शंका-समाधान (काव्य) ५१४
समर्पण (काव्य) ५१७
समर्पण, जाने-अनजाने भी ५१८
त्याग-यज्ञ-समर्पण, प्रकृतिजन्य (काव्य) ५१६
सदभाव की शिक्षा (काव्य) ५२०
सुरक्षित स्थिति ५२२
सुरक्षा और बदलाव ५२४
संघर्षण की आवश्यकता (काव्य) ५२५
सहन करने की साधना (काव्य) ५२६
सत्संग का स्पर्श ५२७
संत-समागम ५२९
संतो की एक दूसरे की तुलना में न पड़े ५३२
संसार, पाठशाल यानी प्रयोगभूमिका ५३३
यह सकल संसार प्रभु का ही व्यक्त स्वरूप है, लीला है ५३४
संयम ५३५
सच्चा संयम (काव्य) ५३६
उपयोग सर्व कुछ का (काव्य) ५३८
संतान के प्रति माता-पिता का कार्य ५३९
साधना में आनंद कब आयेगा ? ५४१
साधना अनिवार्य (काव्य) ५४२
एकांतिक साधना की आवश्यकता, प्रारंभ-मैं क्यों ? ५४३
साधक का स्वजन के प्रति भाव ५४५
जीवन-साथी के प्रति धर्म (काव्य) ५४७
साधक और सांसारिक संबंध (काव्य) ५४९
साधक का घर-नौकर के प्रति व्यवहार ५५०
साधक का अंदरुनी व्यवहार ५५३
साधना-रहस्य (काव्य) ५५६
साक्षीभाव ५६१
सच्चा सुख (काव्य) ५६३
सुमेल (काव्य) ५६५
स्त्री जीवन की महत्ता ५६६
स्मृति ५६८
श्रद्धा ५७०
श्रद्धा-विश्वास प्रभु में ५७२
स्वप्न और स्वप्न में साधना ५७३
स्वप्न में साधना ५८०
स्वप्न में विकार निवारण हेतु सोते समय की प्रार्थना ५८०

॥ हरिः ॐ ॥

मानवीदेह

(अनुष्टुप)

शरीर मानवी का जो मिला वह प्रभु-कृपा,
मानवीदेह तो कोई खोये नहीं कभी वृथा

मानवीदेह सद्‌भाग्य से मिला चेतने हृदय से,
कृपा रख गहरा ख्याल माँगूँ जीये हृदय में

'मानवी जिंदगी कैसी प्रभु की भेंट !' जान के,
उसे सृजन पूरा सार्थक कर करना पदस्थ

प्रभु का प्रेम लेने को जन्म लिया है हमने,
उस बिन कोई दूजा हेतु ना जीवन सही

निष्ठा जिसे पर्याप्त ऐसी बैठी हो हृदय में,
मानवीजन्म की क्या यथार्थता वह पहचानेगा

मानवीदेह से मात्र सारा विकास होगा ही,
संभावना भरी धन्यता इससे उसकी क्या

— मोटा

'जीवनपराग'